ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

(द्वितीयतृतीयकाण्डात्मकम्)

आर्यभाषायामनुवादः भावार्थादिसहितम्
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितम्

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि
श्री सयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठितबडौदेपुरी-
गतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋग्वेद-
सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवादिना
विरचितम्

पदवाक्यप्रमाणज्ञाना वैयाकरणप्रवराणाना पं. ब्रह्मदत्त-
जिज्ञासुमहोदयानाम् अन्तेवासिन्या डा. प्रज्ञा
देवी व्याकरणाचार्यया (P-h D.)
सम्पादितम्

ग्रन्थप्राप्तिस्थानम्—

(१) डा० इन्द्रदयाल सेठ पी०एच०डी०
३४ लूकरगञ्ज, इलाहाबाद

(२) डा० कु० प्रज्ञादेवी आचार्या पाणिनि कन्या
महाविद्यालय, वाराणसी

(३) श्रीमती सुशीलादेवी जौहरी, भू० पू० प्राचार्या
भगवानदीन आर्यकन्या महाविद्यालय
लखीमपुर, खीरी

द्वितीय संस्करणम्, १०००

मूल्यम् १४.००

मुद्रक :—तारा प्रिंटिङ्ग वर्क्स
वाराणसी

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥
(अ० १९ । ६२ । १)

प्रिय मोहि करौ देव तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

Make me beloved among the Gods
Beloved among the princes make
Me dear to everyone who sees, to
Sudra and to Aryanman man

Griftith,s Trans Atharva
19 62 1

प्रकाशकीयम्

पिछले अनेक वर्षों से मेरे पितामह प्रयाग निवासी पूज्य प० क्षेमकरण दास जी त्रिवेदी कृत अथर्ववेद भाष्य के द्वितीय तथा तृतीय काण्ड समाप्त हो गये थे। अत ग्राहको द्वारा माग होने पर भी हम सम्पूर्ण भाष्य भेजने मे असमर्थ थे।

१३ फरवरी १६३६ ई० को पूज्य त्रिवेदी जी का देहान्त जयपुर मे अपने पुत्र श्री विष्णुदयाल जी (मेरे पूज्य पिता जी) के पास हो गया। उसके बाद पिताजी सपरिवार इलाहाबाद लौट आये। मेरी माता जी श्रीमती रूपरानी सेठ की वेदो मे अपार श्रद्धा थी। वह बराबर पिताजी द्वारा वेदो को ग्राहको के पास नियमित रूप से भिजवाती रहती थी। ३ जून १६६३ ई० को मेरे पिता जी तथा १४ फरवरी ६६७ ई० (बसन्तपचमी के दिन) मेरी माता जी का देहान्त हो गया। मेरे एक मात्र भ्राता डा० इन्द्रदयाल सेठ पी० एच० डी० १६६१ ई० मे नाईजीरिया यूनिवर्सिटी मे गणित प्राध्यापक होकर पहले ही जा चुके थे। [इस समय वह लेगौस विश्वविद्यालय मे ज्येष्ठ प्राध्यापक है] उनके पीछे उनकी पत्नी डा० कीर्ति सेठ डी० फिल, प्राध्यापिका शिक्षाशास्त्र प्रयाग विश्वविद्यालय ३४ लूकरगज, इलाहाबाद से बराबर पार्सल भेजती रहती थी, परन्तु लगभग डेढ वर्ष से वह भी नाईजीरिया चली गयी अत इस कार्य में ढील आ गयी थी।

अपने प्राचार्यपद से अवकाश प्राप्त करके मै अगस्त ६९ मे अपने भाई से मिलने इलाहाबाद गयी। मैने उनसे अथर्ववेद भाष्य के दूसरे व तीसरे काण्ड की द्वितीयावृत्ति छपवाने का अनुरोध किया। उन्होने मेरी प्रार्थना तुरन्त स्वीकार कर ली। फलस्वरूप मैंने अपनी पुत्रीवत् डा० कु० प्रज्ञा देवी, व्याकरणाचार्या, विद्यावारिधि, आचार्या, जिज्ञासु स्मारक कन्या पाणिनि महाविद्यालय, वाराणसी, (जिनकी विद्वत्ता से आर्य जगत् सुपरिचित है) को यह काम सौपा। उन्होने बडी तन्मयता से अनेक ग्रन्थो को देख कर बडे यत्न से प्रैस कापी तैयार की एव स्वय ही प्रूफ सशोधन किया। तथा स्थान २ पर उचित टिप्पणिया भी दे दी है। मै उनकी अत्यन्त ही आभारी हूं।

अन्त मे मैं अपने सुपुत्र श्री अजयकुमार जौहरी, डिप्टी चीफ मैकेनिकल इजी-नियर, डीजल एजिन कारखाना वाराणसी की आभारी हूँ, जिनके सतत प्रयास एव सहयोग से ही इन दोनो काण्डो का नवीन सस्करण अपने नूतन रूप मे जनता के समक्ष आ सका। परमात्मा से प्रार्थना है कि नयी पीढी को ऐसे ही वेदो के प्रचार करने की शक्ति दे, ताकि ऋषियो की परम्परा विश्व मे जारी रहे।

अथर्ववेद का सम्पूर्ण भाष्य पू० त्रिवेदी जी से पहले भारत की किसी भाषा मे नही था। सस्कृत मे भी सायण भाष्य पूरा नही है। उन्होने इस वेद का हिन्दी और सस्कृत मे प्रामाणिक भाष्य करके महान् उपकार किया है।

इस वेद के बीसो काण्डो का भावपूर्ण सक्षिप्त भाष्य स्त्री पुरुषो के समझने योग्य, अति सरल शब्दो मे विषयसूची, मन्त्रसूची, पदसूची आदि सहित अल्प मूल्य मे उपलब्ध है। वेदप्रेमी जन स्वाध्याय, पुस्तकालयो और पारितोषिको के लिये भाष्य मॅगवाये, और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सासारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, राजविद्यादि अनेकविद्याओ का तत्त्व जानकर आनन्द भोगे। छपाई उत्तम और कागज बढिया है।

पूज्य त्रिवेदी जी के समस्त ग्रन्थ जुलाई ७१ से उपलब्ध होगे। ग्राहक शीघ्र ही आर्डर दे।

निवेदिका,

सुशीला देवी जौहरी

भू० पू० प्राचार्या

भगवानदीन आर्य कन्या महाविद्यालय

लखीमपुर खीरी

सम्पादकीयम्

कभी कभी अज्ञात रूप से बीज रूप मे डाले हुये कल्पनातीत कुछ सस्कार जब मूर्तिमान् होकर सामने आते है, तो हृदय आश्चर्ययुक्त मधुर-मधुर आनन्द से आप्लावित हो उठता है। मेरे जीवन के अधिकाश प्रसङ्ग ऐसे ही रहे है। इस अथर्ववेद भाष्य सम्पादन सम्बन्धी प्रसङ्ग ने भी उस पूर्वानुभूति मे एक नई कड़ी जोडी है। अध्ययनावस्था मे वैदिक साहित्य का परिचय देते हुये पदवाक्य प्रमाणज्ञ वेदो के प्रकाण्ड विद्वान् मेरे पूज्य गुरुवर्य स्व० श्री प० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जिस गौरव के साथ श्री प० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी एव उनके कार्य के सम्बन्ध मे बताते थे, उसकी छाप मेरे अन्तस्तल मे जाने अनजाने बड़ी गहराई से बैठ गई थी। जिसके फलस्वरुप ही सन् १९७० मे इस कार्य के सामने आने पर विविध कार्यों मे अति व्यस्त होते हुये भी मैने पूर्ण रुचि मनोयोग एव निष्ठा के साथ कार्य मे समय लगाया।

इस कार्य को करते हुये सदैव मेरे सामने आर्यसमाज का गौरव एव हितरूपी लक्ष्य ही सामने रहा है, स्वकीयाभिव्यक्ति नही। अतएव अनेको बार धर्मसङ्कट-रूपी तरणी मे डूबती उतराती हुई द्वितीय-तृतीय काण्डात्मक इस भाग को सम्पादित कर सकी हू। पुनरपि इन सभी झञ्झावातो को मै भगवदर्पण कर प्रतिदान मे आत्मप्रसाद पाकर सन्तुष्ट एव प्रसन्न हूँ। श्री प० त्रिवेदी जी अपने इस भगीरथ प्रयास से स्वय अमर होते हुये पीढी दर पीढी को भी अपनी विमल-धवल कीर्ति-सौरभ से सुरभित कर गये है, इसमे रञ्च मात्र भी सन्देह नही, अत एव आपके भाष्य का सम्पादन करते हुये मैं भी अपना सौभाग्य समझती हू।

श्रद्धेय पण्डित जी ने जिस समय इस कार्य को प्रारम्भ किया था उस समय इङ्गलिश मे ग्रिफिथ, ह्विटने का अथर्ववेद का अनुवाद[1] एव सस्कृत में सायण का असम्पूर्ण भाष्य[2] ही उनके समक्ष था, जब कि ये दोनो ही पाश्चात्य तथा पौरस्त्य प्रकार भ्रमोत्पादक एव अथर्ववेद को जादू-टोना तथा मारण-उच्चाटन का वेद बताने मे एक दूसरे से बढे चढे थे। ऐसी अवस्था मे ऋषि के मन्तव्यानुकूल पदपाठ, भाषार्थ, भावार्थ एव विस्तृत व्याकरण प्रक्रिया सहित श्री त्रिवेदी जी का भाष्य किस आर्यम्मन्य को गौरवान्वित नही करेगा। उन्होने जिस

---

१. इन महानुभावो का यह कार्य अनुवाद रूप में ही है, भाष्य रूप मे नही, जो कि वैदिक कोष निघण्टु आदि का पूर्ण आश्रयण न करने से शब्दार्थों को ठीक ठीक न समझ कर दूषित रूप में किया गया है।

२. उस समय तक सायण का अथर्ववेद भाष्य पूर्ण उपलब्ध नही था, पर अब वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर से सम्पूर्ण प्रकाशित हो चुका है।

तपस्या एव लग्न से अपनी वृद्धावस्था मे इस बृहत् कार्य को पूर्ण करके वेदो के प्रति सोचने का एक नूतन किन्तु सत्य-सनातन दृष्टिकोण पाश्चात्य एव एतद्देशीय सायणानुसारी विद्वानो के समक्ष रखा, वह अत्यन्त ही श्लाघनीय तथा उपादेय है। सायणाचार्य जी की विद्वत्ता की आज भी समाज मे बडी धाक है, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि ये प्राय मन्त्रो मे अप्रसिद्ध एव कठिन शब्दो के आते ही व्याकरणानुसारी व्युत्पत्ति करनी छोड रूढि व्यक्ति विशेषवाची पिशाच पिशाची[1] राक्षस-राक्षसी आदि भ्रामक अर्थ करने लग जाते है। जब कि उन्हे ऐसे स्थलो पर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना चाहिये। इस दृष्टि से श्री प० त्रिवेदी जी ने सभी शब्दो की व्युत्पत्तियो को दिखाते हुये अपने आगे आने वाले कतिपय चतुर्वेद-भाष्यकारो को भी पीछे छोड दिया है। सायण के अतिरिक्त आज अथर्ववेद के सम्पूर्ण मन्त्रो का पदपाठ उपलब्ध नही होता। त्रिवेदी जी ने इस दिशा मे भी न केवल एक शृङ्खला जोडी है अपितु अर्थ के अनुसार कतिपय स्थलो मे नूतनता प्रदान की है। यही कारण है कि आज चहु ओर आपके भाष्य की सत्कीर्त्ति एव माँग है। मेरे पास समय समय पर जो पत्र आये है वे इस बात के साक्षी है।

यह हमारे लिये अति दुर्भाग्य का विषय रहा है कि अथर्ववेद (ब्रह्मवेद) जो कि (मुख्य रूप से) पदार्थ विद्या[2] एव गृहस्थ आदि विषयो का वर्णन होने से अत्यन्त उपकारी एव मुख्य है की अध्ययन-अध्यापनादि मे महती उपेक्षा की गई है। आज अन्य वेदो की अपेक्षा अथर्ववेद के शाखाध्येता अतीव दुर्लभ हो गये है। यही कारण है कि अथर्ववेद के शाखागत पाठो के इतने अधिक भेद सामने आते है, जिन्हे शाखागत पाठ भेद न मान कर मूल सहिता के पाठ भेद के रूप मे कुछ

---

१ द्र०–अ०/सा० भा० २। १४। २–मगुन्दी नाम काचन पिशाची। तथैव–अ० २। १४। ३ द्र०–यातुधान्य.। अ० ३। २९। ४, पञ्चापूपम ॥

२ इसीलिये अथर्ववेद के प्रारम्भ मे ही वाणियो का स्वामी मेरे लिए 'त्रिषप्ता' ३ × ७ = २१ अर्थात् द्रव्य, गुण आदि सप्त पदार्थों मे वर्त्तमान जो तीन गुण सत्त्व रज-तम (= २१) उनके सम्बन्ध में उनके बलो = पराक्रमो को दधातु = धारण करावे विदित करावे। ऐसा कहा है। पदार्थ विद्या—परा विद्या की मुख्यता के सम्बन्ध में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे स्वामी जी महाराज लिखते है—"विज्ञ न उसको कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनो से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना ··· इससे यह विषय इन चारो मे भी प्रधान है ··· ।" (ऋग्वेदा० वेदविषयविचार) अत एव 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अ० १०।७।२०) इस मन्त्र में आलङ्कारिक रीति से अथर्ववेद को परमेश्वर के मुखवत् मुख्य कहा है।

विद्वान् दिखाते व मानते है, जो कि वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने से असगत है। हमे दुःख के साथ लिखना पडता है कि आधि-व्याधि नाशक पदार्थ विद्या सम्बन्धी अत्युपयोगी इस वेद पर हमने स्वत तो कोई खोज विशेष की ही नही किन्तु ब्लूमफील्ड[1] ग्रिफिथ आदि जिन महाशयो ने अथर्ववेद के मन्त्रो को झाड फूँक, जादूगरी शान्तिपुष्टयभिचारार्थ मानते हुये अत्यन्त उपहास किया है, उनका ही अन्धानुकरण करते हुए हमारे यहाँ के विद्वानो ने अपनी सम्मति बनाई है[1]। इतना ही नही अपितु आज ऋषि कृत वैदिक सत्साहित्य का मनमाना अर्थ करने वाले पाश्चात्यो के उच्छिष्टभोजी एतादृश जनो के द्वारा 'अथर्ववेद मे शान्तिपुष्टयभिचारादि' विषयो को लेकर वेद मे अनुसन्धान किये वा कराये जाते है। बडी हँसी आती है ऐसे पण्डितम्मन्य जनो पर जिन्होने सीधे साधे 'उपनिषत्-सपत्नीबाधनम्[2]" आदि जिसका अर्थ है उपनिषत् = ब्रह्मविद्या की सपत्नी नाम अविद्या[3] का बाधन ऐसे देवताक सूक्तो का जडी बूटियो द्वारा सपत्नी = सौत का बाधन कैसे २ हो ? ऐसा अर्थ किया है। ऐसे लोगो की बुद्धि पर हँसे या रोये, कुछ समझ मे नही आता।

हमारे इस सस्करण के वैशिष्टय —(१) प्रथम सस्करण मे सर्वत्र धातु एव उनके अर्थ वाचस्पत्यम् तथा आप्टे आदि कोषो के आधार पर रखे है। हमने उन्हे व्याकरणानुसारी ठीक बनाने के लिए धातुपाठ, क्षीरतरङ्गिणी, काशकृत्स्न धातु-पाठ एव माधवीय धातुवृत्ति के आधार पर बदल दिया है ताकि धातुपाठादि पर अभ्यास किये हुये लोगो को सुगमता हो सके। इस प्रकार कतिपय स्वकल्पित धातुओ को[4] अप्रामाणिक जान कर हमने हटा भी दिया है। धातु के अर्थों को व्याकरणानुसारी करते हुये कही भी हमने पण्डित जी द्वारा किये गये अर्थों की क्षति नही होने दी है। इस प्रकार हमने अष्टाध्यायी, उणादि, निरुक्त, निघण्टु आदि के सभी स्थलो का अच्छी प्रकार मिलान करके पते आदि की अनेकानेक अशुद्धियो को ठीक कर दिया है यह कार्य बहुत समयसाध्य रहा है।

---

१ देखो ब्लूमफील्डकृत—'अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण' का डॉ० सूर्यकान्त जी का अनुवाद।

२ अ० ३। १८। १–६, तु० ऋ० १०। १४५। १-६। ऋग्वेद मे इस सूक्त का ही देवता माना है। इसलिये यह ब्रह्मविद्या के उपदेशपरक ही सूक्त है।

३ सपत्नी से अभिप्राय सपत्नी के समान दुख देने वाली लेना चाहिए। द्र०, ऋ०।द० भा० ३। ६। ४, १। १०५। ८॥

४ यथा—शल गतौ पृ० ४७३। सर्व गतौ पृ० ५५५॥

इसके अतिरिक्त यथावश्यक हमे शब्दो की प्रक्रिया पर ध्यान देकर कतिपय सशोधन करने पडे है।

(२) मन्त्र एव पदपाठ के स्वरो के मिलान का कार्य हमने बडे ही मनोयोग से कई प्रतियो को लेकर किया है, जिससे अनेकानेक अशुद्धियो का शोधन हुआ है। छपते छपते भी कही स्वर के चिह्न न टूट जावे इसके लिये हमने सभी मुद्रण पत्रो का अच्छी प्रकार मिलान किया है। कहना न होगा कि व्याकरण रीत्या स्वर वैदिकी प्रक्रिया का ज्ञान न होने पर यह कार्य दुष्कर ही नही अपितु असम्भव है। होशियारपुर से सम्पादित सायण भाष्य भी इस विषय मे पूर्ण प्रामाणिक नही, क्योकि उसमे भी अनेको अशुद्धिया विद्यमान है[1]।

(३) प्रथम सस्करण मे विवृति के चिह्न के स्थान पर केवल डैश (—) चिह्न था एव जात्य स्वरित का चिह्न केवल ऊपर खडी रेखा के रूप मे ही था, जिससे अनेक स्थलो मे बहुविध सशय उत्पन्न होते थे, हमने उन सबको उपलब्ध पाठो के अनुसार परिवर्त्तित कर दिया है।

(४) उदाहरण रूप मे आये हुये विभिन्न वेद के मन्त्रो दर्शन आदि के सूत्रो तथा पदपाठ आदि के टाइपो को मन्त्र से भिन्न टाइप मे बदल कर हमने ग्रन्थ को सुन्दर आकार प्रदान करने की चेष्टा की है।

(५) इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर भाषार्थ एव सस्कृत को देख कर मन्तव्य को स्पष्ट करने हेतु उचित टिप्पणियाँ भी दी है। तथा प्रथम सस्करण मैं कुछ अस्पष्ट सी रह गई भाषा को भी कही कही ठीक किया है।

पाण्डुलिपि की अवस्था—इस बात को बता देना मैं उचित समझती हूँ कि प्रारम्भ मे कार्य करने के लिये हमे एक प्रति ही द्वितीय तृतीय काण्ड की प्राप्त हुई थी, जो कि अत्यन्त ही जीर्ण-शीर्ण (हाथ लगाने से फटती थी) एव स्थान स्थान पर दीमक की खाई हुई थी, जिसे हमने वा०स०वि०वि० के सरस्वती भवन की पुस्तक को मँगा कर तथा दूसरी एक प्रति कही से और मगा कर प्रेस कापी बनाई।

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि जिस प्रकार इन दो काण्डो का नवीन सस्करण निकाला गया है उसी प्रकार अन्य काण्डों के पुराने सस्करणो के समाप्त होते ही उनको भी प्रकाशित करने का निश्चय श्रद्धेय त्रिवेदी जी के ही प्रपौत्र डा० इन्द्रदयाल जी सेठ (जो इस समय नाइजीरिया में ज्येष्ठ प्राध्यापक पद पर

---

१ स्थालीपुलाक न्याय से यहाँ देखें—अ० २।६।५ में 'तर' का स्वर अशुद्ध। अ० २।१०।२ जामिशसात् पदपाठ में विवृति नही॥

है) तथा उनकी ही प्रपौत्री श्रीमती माता सुशीला देवी जी जौहरी (भू० पू० प्रिन्सिपल भगवानदीन आर्य कन्या महाविद्यालय, लखीमपुर खीरी) ने कर लिया है जिससे आप दोनो ही महानुभाव कोटिश बधाई के पात्र है। इसके अतिरिक्त आपके ही सुपुत्र श्री अजयकुमार जौहरी डिप्टी चीफ मैकेनिकल इजीनियर वाराणसी इसके प्रकाशन हेतु समय २ पर मेरा सक्रिय सहयोग करते रहे हैं तदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद है।

इस कार्य मे मैने समय २ पर कई जटिल समस्याओ के परामर्श हेतु श्री प० गोपालचन्द्र जी वेद विभागाध्यक्ष वाराणसेय स० विश्व विद्यालय से उनका अमूल्य समय लिया है तदर्थ उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा कुसुम समर्पित करती हूँ। अपनी प्रिय अनुजा कु० मेधा देवी शास्त्री को धन्यवाद के बोझ से बोझिल करना उचित नही समझती क्योकि मेरे सम्पूर्ण कार्यों मे हम दोनो का आधा साझा है मुझे अनायास ही ऐसी कुशल सहयोगिनी उपलब्ध है, इस प्रभु की अपार अनुकम्पा को देख कर रोम २ पुलकित है।

इस अवसर पर स्वर आदि के मिलान करने का जो अपूर्व सहयोग अपनी छात्राओ चि० माधुरी रानी, सूर्या कुमारी, एव प्रियम्वदा आदि से प्राप्त हुआ है उसके लिये उनके प्रति मेरा हृदय रूपी पूर्ण पात्र सदैव स्नेह वर्षण करता रहेगा। प्रभु करे ये बच्चिया सदैव स्वस्थ प्रसन्न दीर्घायु पूर्ण विदुषी एव वेदो के प्रति निष्ठावान् तथा ऋषि भक्त बने।

अन्त मे मै तारा यन्त्रालय के सञ्चालक श्री रमाशङ्कर पाण्डेय को भी हार्दिक धन्यवाद देती हूँ, जिन्होने अनेकानेक कठिनाइयो के होते हुये भी इस शुभ कार्य को सम्पन्न करने मे सहयोग दिया॥

विनीता,

जेष्ठ शुक्ल स० २०२८ वि०
दयानन्दाब्द १४७

डा० प्रज्ञा देवी
'प्राचार्या'
पाणिनि कन्या महाविद्यालय
मोतीझील वाराणसी

१—सूक्त विवरण, काण्ड २ ॥

सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
वेनस्तत् पश्यत्	ब्रह्म	ब्रह्मप्राप्ति	त्रिष्टुप्
दिव्यो गन्धर्वो	गधर्वं अप्सरा	ईश्वर सर्वशक्ति-मान्	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
अदो यदवधावत्य	भेषज	रोग निवृत्ति	अनुष्टुप्
दीर्घायुत्वाय बृहते	जङ्गिड	आयुवृद्धि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
इन्द्र जुषस्व प्र वहा	इन्द्र	उन्नति प्रयत्न	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
समास्त्वाग्न ऋतवो	अग्नि	राजनीति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
अघद्विष्टा	ईश्वर	राजधर्म	अनुष्टुप्
उदगाता भगवती	ब्रह्म	पौरुष	अनुष्टुप्
दशवृक्ष मुञ्चेम	ईश्वर	आत्मोन्नति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
क्षेत्रियात् त्वा	ब्रह्म	मुक्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्, जगती
दूष्यादूषिरसि	पुरुष	पुरुषार्थ	गायत्री
द्यावापृथिवी उर्व	विश्वेदेवा	सर्वरक्षा	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
आयुर्दा अग्नेजरस	ब्रह्मचारी	समावर्त्तनवस्त्र	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
नि साला धृष्णु	अलक्ष्मी	निर्धनता का नाश	अनुष्टुप्
यथा द्यौश्च पृथिवी	प्राण	धर्म का पालन	गायत्री
प्राणापानौ मृत्योर्मा	आत्मा	आत्मरक्षा	पङ्क्ति, गायत्री आदि
ओजोऽस्योजो मे	ईश्वर	आयुवृद्धि	त्रिष्टुप्, उष्णिक्
भ्रातृव्यक्षयणमसि	ईश्वर	शत्रु से रक्षा	साम्नी, बृहती
अग्ने यत्ते तपस्तेन	अग्नि	कुप्रयोगत्याग	त्रिष्टुप्, जगती
वायो यत्ते तपस्तेन	वायु	,, ,,	,, ,,
सूर्य यत्ते तपस्तेन	सूर्य	,, ,,	,, ,,
चन्द्र यत्ते तपस्तेन	चन्द्र	,, ,,	,, ,,
आपो यद् वस्तपस्तेन	आप (जल)	,, ,,	,, ,,
शेरभक शेरभ	ईश्वर	कुसस्कारादित्याग	त्रिष्टुप् आदि
श नो देवी पृश्नि	पृश्निपर्णी	शत्रुओं का नाश	अनुष्टुप्
एह यन्तु पशवो	त्वष्टा सविता वा	मेल करना	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
नेच्छत्रु: प्राश जयाति	ओषधि, इन्द्र	बुद्धि से विवाद	अनुष्टुप्
तुभ्यमेव जरिमन्	अग्नि	आयु बढाना	त्रिष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२९	पार्थिवस्य रसे देवा	बृहस्पति इन्द्र	उन्नति करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३०	यथेद भूम्या अधि	अश्विनौ	गृहस्थाश्रम प्रवेश	पङ्क्ति, त्रिष्टुप्
३१	इन्द्रस्य या मही दृषत्	इन्द्र	दोष नाश	अनुष्टुप्
३२	उद्यन्नादित्य क्रिमीन्	आदित्य	तथा शरीर रक्षा	गायत्री, अनुष्टुप्
३३	अक्षीभ्या ते नासिकाभ्या	आत्मा	शरीर रक्षा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति
३४	य ईशे पशुपति पशूना	पशुपति	बन्ध से मुक्ति	त्रिष्टुप्
३५	ये भक्षयन्तो न वसू	विश्वकर्मा	पाप त्याग	त्रिष्टुप्
३६	आ नो अग्ने सुमति	अग्नि	विवाह सस्कार	त्रिष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड २ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से ॥

सख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मडल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	सामवेद पूर्वाचिक उत्तराचिक इत्यादि
१-२	वेनस्तत् पश्यत् इत्यादि	१।१—२	—	३२।८ ९	
३	स न. पिता जनिता	१।३	१०।८२।३	१७।२७	
४	परि विश्वा भुवनान्या	१।५	—	३२।१०	
५-७	इन्द्र जुषस्व प्र वहा इत्यादि	५।१—३	—	—	उ० ३।१।२२
८-१०	इन्द्रस्य नु प्रावोच-इत्यादि	५।५—७	१।३२।१—३	—	
११-१३	समास्त्वाग्न-इत्यादि	६।१—३	—	२७।१-३	
१४-१५	क्षत्रेणाग्ने स्वेन-इत्यादि	६।४—५	—	२७।५-६	
१६	अतीव यो मरुतो	१२।६	६।५२।२	—	
१७ १९	ओजोऽस्योजो-इत्यादि	१७।१—७	—	१९।९	
२०-२६	अक्षीभ्या ते इत्यादि	३३।१—७	१०।१६३।१-६	—	

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अग्निर्न. शत्रून्	अग्नि आदि	युद्ध विद्या	त्रिष्टुप् आदि
२	अग्निर्नो दूत	अग्नि आदि	सेनापति कर्त्तव्य	त्रिष्टप् आदि
३	अचिक्रदत् स्वपा	इन्द्र	राजा,प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
४	आत्वा गन् राष्ट्र	इद्र	राज तिलक	त्रिष्टुप्
५	आयमगन्पर्ण	पर्णमणि	तेज, बल धन	त्रिष्टुप् आदि
६	पुमान्पुस' परि	अश्वत्थ	उत्साह बढाना	अनुष्टुप्
७	हरिणस्य रघुष्यदो	हरिणआदि	रोग नाश	अनुष्टुप्
८	आ यातु मित्र	प्रजापति	प्रीति उत्पन्न करना	त्रिष्टुप् आदि
९	कर्शफस्य विशफस्य	प्रजापति	विघ्न शाति	अनुष्टुप्
१०	प्रथमाह व्युवास सा	रात्रि	पुष्टि बढाना	अनुष्टुप् आदि
११	मुञ्चामि त्वा हविषा	राजयक्ष्मघ्न	रोग नाश	त्रिष्टुप् आदि
१२	इहैव ध्रुवा नि मिनोमि	शाला	शाला निर्माण	त्रिष्टुप् आदि
१३	यदद सम्प्रयती	आप:	जल के गुण	अनुष्टुप् आदि
१४	स वो गोष्ठेन	गाव	गोरक्षा	अनुष्टुप आदि
१५	इन्द्रमह वणिज	इद्र	व्यापार लाभ	त्रिष्टुप् आदि
१६	प्रातरग्नि प्रातरिन्द्र	भगउषाआदि	प्रभाती गीत	त्रिष्टुप् आदि
१७	सीरा युञ्जन्ति	कृषिवल	खेती विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१८	इमां खनाम्योषधि	सपत्नीबाधन	अविद्या नाश	अनुष्टुप् आदि
१९	सशित म इद ब्रह्म	पुरोहित	युद्ध विद्या	अनुष्टुप् आदि
२०	अय ते योनिर्	अग्निआदि	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् आदि
२१	ये अग्नयो अप्स्व	अग्निआदि	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् आदि
२२	हस्तिवर्चस प्रथता	विश्वेदेवा	कीर्ति पाना	त्रिष्टुप् आदि
२३	येन वेहद् बभूविथ	माता	वीर सतान	अनुष्टुप् आदि
२४	पयस्वतीरोषधय	प्रजापति	धान्य बढाना	अनुष्टुप् आदि
२५	उत्तुदस्त्वोत् तुदतु	काम	अविद्या नाश	अनुष्टुप्
२६	ये ३स्या स्थ प्राच्या	मन्त्रोक्त	मारू गीत	जगती वा त्रिष्टुप्
२७	प्राचीदिगग्निरधिपति	मन्त्रोक्त	सेना का व्यूह	त्रिष्टुप् आदि
२८	एकैकयैषा सृष्टया	यमिनी	उत्तम नियम	जगती आदि
२९	यद् राजानो विभज	अवि	परमेश्वर भक्ति	अनुष्टुप् आदि
३०	सहृदय सामनस्य	प्रजापति	परस्पर मेल	अनुष्टुप् आदि
३१	वि देवा जरसावृतन्	प्रजापति	आयु बढाना	अनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड ३ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण या कुछ भेदसे ॥

मन्त्र सख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ३) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मडल सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
१	अमीषा चित्तानि	२।५	१०।१०३।१२	१७।४४	उ० ६।३।५
२	असौ या सेना मरुत	२।६		१७।४७	
३	सा न पयस्वती	१० १	४।५७।७		
४	पूर्णा दर्वे परापत	१०।७		३।४६	
५-८	मुञ्चामि त्वा हविषा	११।१-४	१०।१६१।१-४		
९	इध्मेनाग्न इच्छमानो	१५।३	३ १८।३		
१०	इमामग्ने शरणि	१५।४	१।३१।१६		
११-१७	प्रातरग्नि प्रातरिन्द्र	१६।१-७	७।४१।१-७	३४।३४-४०	
१८	सीरायुञ्जन्ति	१७ १	१०।१०१।४	१२।६७	
१९	युनक्त सीरा वि	१७।२	१०।१०१।३	१२।६८	
२०	लाङ्गल पवीरवत्	१७।३		१२।७१	
२१	इन्द्र सीता नि	१७।४	४।५७।७		
२२	शुन सुफाला वि	१७।५	४।५७।८	१२।६९	
२३-२५	शुन वाहा शुन नर	१७।६-८	४।५७।४-६		
२६	घृतेन सीता मधुना	१७।९		१२।७०	
२७-३२	इमा खनाम्योषधि	१८।१-६	१०।१४५।१-६		
३३	उद्धर्षन्ता मघवन्	१९।६	१०।१०३।१०	१७।४२	
३४	प्रेता जयता नर	१९।७	१०।१०३।१३	१७।४६	
३५	अवसृष्टा परा पत	१९।८	६।७५।१६	१७।४५	
३६	अय ते योनिर्	२०।१	३।२९।१०	३।१४, १२।५२	
३७-३८	अग्ने अच्छा वदेह न	२०।२-३	१०।१४१।१-२	९।२८, २९	
३९	सोम राजानमवसे	२०।४	१०।१४१।३	९।२६	
४०	त्व नो अग्ने अग्निभिर्	२०।५	१०।१४१।६		
४१	इन्द्रवायू उभाविह	२०।६	१०।१४१।४	३३।८६	
४२	अर्यमण बृहस्पति	२०।७	१ ।१४१।५	९।२७	
४३	वाजस्य नुप्रसवे	२०।८		१८।३०	
४४	क इद कस्मा अदात्	२९।७		७।४८	
४५	त्वष्टा दुहित्रे वहतु	३१।५	१०।१७।१		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

द्वितीयं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १ ।

मन्त्राः १—५ । ब्रह्म देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेश —ब्रह्म के मिलने का उपदेश ।

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥१॥

वेनः । तत् । पश्यत् । परमम् । गुहा । यत् । यत्र । विश्वम् । भवति । एकऽरूपम् । इदम् । पृश्निः । अदुहत् । जायमानाः । स्वःऽविदः । अभि । अनूषत । व्राः ॥ १ ॥

सान्वयभाषार्थः—(वेन) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस (परमम्) अति श्रेष्ठ परब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्) जो ब्रह्म (गुहा=गुहायाम्) गुफा के भीतर [वर्त्तमान है], और (यत्र) जिसमे (विश्वम्) सब जगत्

१—**शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—वेनः** । धापृवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३ । ६) इति अज गतिक्षेपणयो —नप्रत्ययः, वीभाव. । यद्वा, वेनति कान्ति

---

१. प्रथम सस्करण मे जात्य स्वरित मे भी ऊपर खडी रेखा का ही चिह्न था। हमने उसे उपलब्ध पाठो के अनुसार उपरिनिर्दिष्ट चिह्न के रूप मे परिवर्त्तित कर दिया है ॥ सम्पा०

२. सर्वत्र पदपाठ मे वर्त्तमान '–' इस चिह्न के स्थान मे पदपाठ की परिपाट्यनुसार हमने 'ऽ' ये विवृति का चिह्न रखा है ॥ सम्पा०

[निरन्तर व्याप्त] (भवति) वर्त्तमान है। (इदम्) इस परम [ब्रह्मज्ञान] को (पृश्निः) [ईश्वर से] स्पर्श रखने वाले मनुष्य उत्पन्न होती हुई अनेक रचनाओ से (अदुहत्) दुहा है, और (स्वर्विद) सुखस्वरूप वा आदित्यवर्ण ब्रह्म के जानने वाले (व्रा) वरणीय विद्वानो ने [उस ब्रह्म की] (अभि) विविध प्रकार से (अनूषत) स्तुति की है ॥ १ ॥

भावार्थः—वह परम ब्रह्म सूक्ष्म तो ऐसा है कि वह (गुहा) हृदय आदि प्रत्येक सूक्ष्म स्थान का अन्तर्यामी है, और स्थूल भी ऐसा है कि सपूर्ण ब्रह्माड उसके भीतर समा रहा है। धीर ध्यानी महात्मा उस जगदीश्वर की अनन्त रचनाओ से विज्ञान और उपकार प्राप्त करके मुक्त कण्ठ से आत्मसमर्पण करते हुये उसकी स्तुति करते और ब्रह्मानन्द मे मग्न रहते है ॥ १ ॥

देखिये—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८।

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ १ ॥

(वेन) पण्डित जन (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण मे (निहितम्) वर्त्तमान (सत्) नित्यस्वरूप ब्रह्म को पश्यत् = ०—ति) देखता है, (यत्र) जिस ब्रह्म मे (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है (च) और (तस्मिन्) उसमे (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्)

कर्मा—निघ० २। ६। तत **पुसि संज्ञायां घः प्रायेण** (पा० ३। ३। ११८) इति घप्रत्यय। वेनो वेनते कान्तिकर्मण—इति यास्क, निरु० १०। ३८) गतिमान्। दीप्यमान। मेधावी—निघ० २। १५। **पश्यत्**। इकारलोप पश्यति, साक्षात्करोति। **परमम्** द्र० अ० १। १३। ३। पर+मा माने—क। उत्कृष्टम्। **गुहा** द्र० अ० १। ८। ४। गुहायाम्। गुप्तस्थाने। **यत्र**। यस्मिन् सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि। **विश्वम्** द्र० अ० १। १। १ सर्वं जगत्। **एकरूपम्**। **इण् भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्** (उ० ३। ४३) इति इण् गतौ—कन्। एति प्राप्नोतीत्येकम्। रूयते कीर्त्यते तद्रूपम्। अ० १। १। १। सर्वथा, निरन्तर व्याप्तम्। **इदम्**। **इन्देः कमिन्नलोपश्च** (उ० ४। १५७) इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन्। नकारलोप।

मिलकर (च) और (वि) अलग अलग होकर (एति) चेष्टा करता है, (स) वह (विभू) सर्वव्यापक परमात्मा (प्रजासु) प्रजाओ मे [वस्त्र मे सूत के समान] (ओत) ताना किये हुये (च) और (प्रोतः) बाना किये है ॥

प्र तद् वो॑चेदमृत॑स्य विद्वान् गन्धर्वो धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत् । त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुष्पि॒तास॑त् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वो॒चे॒त् । अ॒मृत॑स्य । वि॒द्वान् । ग॒न्ध॒र्वः । धाम॑ । प॒रम॒म् । गुहा॑ । यत् । त्रीणि॑ । प॒दानि॑ । नि॒ऽहि॑ता । गुहा॑ । अ॒स्य॒ । यः । तानि॑ । वेद॑ । सः । पि॒तुः । पि॒ता । अ॒स॒त् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्व) विद्या का धारण करने वाला

इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम् । प्रत्यक्षज्ञानम् । **पृश्निः** । **घृणिपृश्निपार्ष्णि०** (उ० ४ । ५२) इति स्पृश स्पर्शे-निप्रत्यय, सलोप । स्पृशति, योगेन ब्रह्मप्राप्नोतीति पृश्नि । समाधिस्थयोगी पुरुष । पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ता, सस्प्रष्टा रसान् सस्प्रष्टा भास ज्योतिषा सस्पृष्टो भासेति वा (निरु० २ । १४) इति यास्कवचनाद् योगैश्वर्येण सूर्यवत् प्रकाशमान पुरुष । **अदुहत्** । दुह प्रपूरणे—लुङ्, छान्दसो अङ् । आकृष्टवान्, प्राप्तवान् । द्विकर्मकत्वात् (इदम्) इति (जायमाना) इति शब्दस्य च कर्मकत्वम् । **जायमानाः** । जनी जनने, प्रादुर्भावे—शानच् । उत्पद्यमाना॰ प्रजा । **स्वर्विदः** । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३ । २ । ७५) इति स्वृ शब्दोपतापयो -विच् । यद्वा सु + ऋ गतौ, ईर गतौ वा—विच् । स्वरादित्यो भवति सु अरण सु ईरण॰ स्वृतो रसान् स्वृतो भास ज्योतिषाम् स्वृतो भासेति वा (निरु० २ । १४) ततो विद ज्ञाने—क्विप् । स्व. शब्दाभिधेय सुखस्वरूपम् आदित्यवर्णं वा परब्रह्म विदन्ति जानन्तीति स्वर्विद परब्रह्मज्ञातार । **अभि** । आभिमुख्येन, सर्वत । **अनूषत** । णू स्तवने—लुङ्, छान्दसम् आत्मनेपदम् । स्तुतवन्त । **व्राः** । **गेहे कः** (पा० ३ । १ । १४४) इति वृञ् वरणे—बाहुलकात् क, यणादेश, जस् । स्वशोभनगुणैर्व्रियमाणा सभज्यमाना स्वीक्रियमाणा पुरुषाः । यद्वा । ब्रह्मणो वरितारो अन्वेष्टार ॥

२—**वोचेत्** । ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि आशीर्लिङि वच्यादेशे **लिङ्याशिष्यङ्**

पुरुष (अमृतस्य) अविनाशी ब्रह्म के (तत्) उस (परमम्) सब से ऊंचे (धाम) पद का (प्रवोचद्) उपदेश करे (यत्) जो पद (गुहा=गुहायाम्) गुफा [प्रत्येक अगम्य पदार्थ हृदय आदि] के भीतर है। (अस्य) इस [ब्रह्म] की (गुहा) गुफा [अगम्य शक्ति] मे (त्रीणि) तीनो (पदानि) पद (निहिता=०-तानि) ठहरे हुये है, (य) जो [विद्वान् पुरुष] (तानि) उनको (वेद) जान लेता है, (स) वह (पितु) पिता का (पिता) पिता (असत्) हो जाता है।

भावार्थः—विद्वान् महात्मा पुरुष उस परब्रह्म की महिमा का सदा उपदेश करते रहते है। वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। उसके ही वश मे तीन पद, अर्थात् ससार की सृष्टि, स्थिति और नाश यह तीनो अव-

---

(पा० ३।१।८६) इति अङ्प्रत्यय, **वच उम्** (पा० ७।४।२०) इति उम् आगम । उच्यात् =उपदिशेत्। **व्यवहिताश्च** (पा० १।४।८१) इति (प्र) उपसर्गस्य क्रियया सबन्ध । **अमृतस्य । तनिमृङ्भ्यां किच्च** (उ० ३।८८) इति अ+मृङ् प्राणत्यागे-तन्, स च कित् । मरणरहितस्य । अविनाशिन परब्रह्मण । **विद्वान्** । वेत्तीति । विद ज्ञाने शतृ । **विदेः शतुर्वसुः** (पा० ७।१।३६) इति शतुर्वसु ादेश । आत्मवित् । प्राज्ञ । पण्डित । **गन्धर्वः** । गा वाणी पृथिवी गति वा धरति धारयति वा स । **कृगशृदृभ्यो वः** (उ० १।१५५) इति गो+ धृञ् धारणे-वप्रत्ययः, पृषोदरादिना गोशब्दस्य गमादेशः। वेदवाणी धारक । वेदवेत्ता। स्वर्गगायक । सूर्य । घोटक । **धाम** द्र० अ० १।१३।३। स्थानम् । प्रभावम् । **त्रीणि । तरतेड्रिः** (उ० ५।६६) सृष्टिस्थितिप्रलयादिरूपाणि । **पदानि** । पद्यन्ते गम्यन्ते प्राणिभि । पद गतौ- अच् । कर्माणि । वस्तूनि । **निहिता । दधातेर्हिः** (पा० ७।४।४२) इति नि+डुधाञ् धारणपोषणयो -क्त । हिरादेश **शेश्छन्दसि बहुलम्** (पा० ६।१।६८) इति शिलोप। निहितानि=स्थापितानि, स्थितानि। **वेद** । विद ज्ञाने। **विदो लटो वा** (पा० ३।४।८३) इति तिपो णल्आदेश । वेत्ति। जानाति। साक्षात्करोति। **पितुः पिता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०** (उ० २।९५) इति पा रक्षणे तृच् । निपातनात् साधु । ज्ञानप्रदानेन स्वरक्षकस्यापि रक्षक । महाविद्वान्। **असत्** । अस सत्ताया[2]-लेट्, अडागम । भूयात् ॥

---

१ इस सूत्र मे धृञ् का पाठ न होने से बाहुलक का आश्रयण कर के ही सिद्धि मानी है, ऐसा जानना चाहिये। सा भा मे तो 'गवि गन् धृञो व.' यह नारायण उणादिवृत्ति का सूत्र उद्धृत किया गया है।। सम्पा

२. धातुपाठ मे जो 'अस भुवि' पाठ है, उसीसे यहाँ तात्पर्य जानना चाहिये। सम्पा,

स्थाये, अथवा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, तीनो काल, अथवा सत्त्व, रज और तम, तीनो गुण वर्त्तमान है। जिस महापुरुष योगी को इन अवस्थाओ का विज्ञान व्यष्टि और समष्टि रूप से होता है। वह पिता का पिता अर्थात् महाविज्ञानियो मे महाविज्ञानी होता है ॥ २ ॥

१— यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद मे है —

२—मनु महाराज ने कहा है -

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ मनु० २।१५३॥

अज्ञानी ही बालक होता है, वेदोपदेष्टा पिता होता है। [मुनि लोग] अज्ञानी को ही बालक, और वेदोपदेष्टा को ही पिता कहते है ॥ १ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥

सः । नः । पिता । जनिता । सः । उत । बन्धुः । धामानि । वेद । भुवनानि । विश्वा । यः । देवानाम् । नामधः । एकः । एव । तम् । सम्ऽप्रश्नम् । भुवना । यन्ति । सर्वा ॥ ३ ॥

भाषार्थ :—(स) वही [ईश्वर] (न) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) जनक (उत) और स) वही (बन्धु) बान्धव है वह (विश्वा=विश्वानि) सब (धामानि) पदो [अवस्थाओ] और (भुवनानि) लोको को (वेद) जानता है (य)

३—**पिता** द्र० म० २ पालयिता। **जनिता** । जनी जनने—णिचि तृच्। **जनिता मन्त्रे** (पा० ६।४।५३) इति तृचि णिलोपो निपात्यते। जनयिता। उत्पादक । **बन्धुः** । **शॄस्वृस्निहि०** (उ० १। १०) इति बन्ध बन्धने उप्रत्यय स च नित्। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (पा० ६। १। १९१) इति नित्त्वाद् आद्युदात्त, प्रेम्णा बध्नातीति। बान्धव.। **धामानि** । द्र० म० २। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति (निरु० ९।२८) जन्मस्थाननामानि। **वेद** । द्र० म० १। वेत्ति।

जो [परमेश्वर] (एक) अकेला (एव) ही (देवानाम्) दिव्य गुण वाले पदार्थों का (नामध) नाम रखने वाला है (सप्रश्नम्) यथाविधि पूछने योग्य (तम्) उसको (सर्वा = सर्वाणि) सब (भुवना = ०—नानि) प्राणी (यन्ति) प्राप्त होते है ।। ३ ।।

भावार्थ :—परमेश्वर ससार का माता, पिता, बन्धु और सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है वही पिता के समान सृष्टि के पदार्थों का नामकरण सस्कार करता है, जैसे, सूर्य, पृथिवी, मनुष्य, गौ, घोडा आदि । विद्वान् लोग सत्सग करके उस जगदीश्वर को पाते और आनन्द भोगते हे ।। ३ ।।

नामध के स्थान पर सायणभाष्य, ऋग्वेद और यजुर्वेद मे [नामधा] हे ।

२–यह मन्त्र ऋ० १० । ८२ । ३ । तथा य० १७ । २७ । मे कुछ भेद से है ।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ।। ४ ।।

परि । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । आयम् । उप । आऽतिष्ठे । प्रथमऽजाम् । ऋतस्य । वाचम्ऽइव । वक्तरि । भुवनेऽस्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ।। ४ ।।

भाषार्थ :— (सद्य) अभी (द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) सूर्य और पृथिवीलोक मे (परि = परीत्य) घूमता हुआ (आयम्) मै [प्राणी] आया हू (ऋतस्य) सत्य

भुवनानि । **भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि** (उ० २ । ८०) इति भू सत्तायाम्—क्युन् । सर्वपदार्थाधिकरणानि । लोकान् । **देवानाम् ।** दिवु पचाद्यच पृथिव्यादिदिव्य-पदार्थानाम् । **नामधः ।** नाम + धाञ् धारणे—क । नामकरणकर्ता, नामधारक. । **एकः ।** इण् गतौ-कन् । अद्वितीय । असहाय । **सम्प्रश्नम् ।** सम्यक् पृच्छन्ति यस्मिँस्तम् । परमात्मानम् । यथाविधि प्रश्नीयम् । अन्वेषणीयम् । **भुवना ।** भुवनानि । लोका । **यन्ति ।** इण् गतौ-लट् । गच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति । लभन्ते ।।

४—**द्यावापृथिवी ।** **दिवो द्यावा** (पा० ६ । ३ । २९) इति दिव्शब्दस्य द्यावा इत्यादेशो देवताद्वन्द्वे । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०२) इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । **देवताद्वन्द्वे च** (पा० ६ । २ । १४०) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । द्यौश्च

नियम के (प्रथमजाम्) पहिले से उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (उप+आ-तिष्ठे) मै प्राप्त होता हूँ, (इव) जैसे [श्रोतागण] (वक्तरि) वक्ता मे वर्त्तमान] (वाचम्) वाणी को [प्राप्त होते है]। (भुवनेष्ठा) सम्पूर्ण जगत् मे स्थित (एष) यह परमेश्वर (धास्यु) पोषण करने वाला और (ननु) अवश्य करके (एष) यह (अग्नि) अग्नि [सदृश उपकारी वा व्यापक परमात्मा] है ॥ ४ ॥

भावार्थ :—तत्ववेत्ता पुरुष सूर्य और पृथिवी आदि प्रत्येक कार्य रूप पदार्थ के आकर्षण, धारणादि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् करता है, जैसे श्रोता लोग वक्ता के बोलने पर उसकी वाणी के अभिप्राय को अपने आत्मा मे ग्रहण करते है। वही ईश्वर वेद रूप सत्य नियम की सृष्टि के पहिले प्रकट करता और सब जगत् का धारण और पोषण करता रहता है, जैसे सूर्य का ताप अन्न आदि को परिपक्व करके, और जाठर अग्नि भोजन को पचा कर और उससे रुधिर आदि को उत्पन्न करके शरीर को पुष्ट करता है ॥ ४ ॥

पातजल योगदर्शन मे वर्णन है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ पाद ३ सूत्र २५ ॥

सूर्य मे सयम से लोको का ज्ञान [योगी को] होता है। अर्थात् वह सूर्य को केन्द्र मान कर सूर्य से लोको का सम्बन्ध, और परमेश्वर से सूर्य का सम्बन्ध अपनी विद्या द्वारा जान लेना है ॥

पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। सूर्यभूमी। तदुपलक्षित कृत्स्न जगत्। **सद्यः**। **सद्यः परुत्परार्यैषमः०** (पा० ५।३।२२) इति समान–द्यस् प्रत्ययो दिनार्थे, समानस्य सभाव। समानेऽहनि। सपदि। तत्क्षणे। तत्त्वज्ञानसमकालमेव। **आयम्**। इण् गतौ-लङ् उत्तमैकवचने गुणायादेशयो आडागम। अह प्राप्तवानस्मि। **उपातिष्ठे**। उप+आ–तिष्ठे। उपेत्य स्थितोऽस्मि। नमस्करोमि। **प्रथमजाम्**। **जनसनखनक्रमगमो विट्** (पा० ३।२।६७) इति जनी प्रादुर्भावे जननयो[1] –विट्। **विड्वनोरनुनासिकस्यात्**। (पा० ६।४।४१) इति आत्वम्। प्रथम जनयतीति प्रथमजा। सृष्टे पूर्वं जनयितारम्, उत्पादकम्। **ऋतस्य**। ऋ गतौ–क्त। सत्यस्य। यथार्थज्ञानस्य। वेदविज्ञानस्य। **वाचम्**। **क्विब् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घो ऽसंप्रसारणं च** (उ० २।५७) इति वच क्विप्। दीर्घोऽसम्प्रसारण च। वाणीम्=वाक्यम्। **वक्तरि**। वच कथने[2] तृच्। उपदेशके। प्रयोक्तरि वर्त्तमाना वाच श्रोतारो यथा प्रयोगसमकाले

---

१ जुहोत्यादिगण मे 'जन जनने' तथा दिवादिगण मे जनी प्रादुर्भावे धातु पठित है। उन दोनो से ही यहाँ तात्पर्य है ॥ सम्पा०

२ धातपाठ मे पठित 'वच परिभाषणे' से यहाँ तात्पर्य है ॥ सम्पा०

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

परि । विश्वा । भुवनानि । आयम् । ऋतस्य । तन्तुम् । विऽततम् । दृशे । कम् । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ॥ ५ ॥

भाषार्थ :—(विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोको मे (परि = परीत्य) घूम कर (ऋतस्य) सत्य नियम के (विततम्) सब ओर फैले हुये (तन्तुम्) फैलने वाले [अथवा वस्त्र मे सूत के समान सर्वव्यापक] (कम्) प्रजापति परमेश्वर को (दृशे) देखने के लिये (आयम्) मै [प्राणी] आया हू । (यत्र) जिस [परमात्मा] मे (देवा) तेजस्वी महात्मा (अमृतम्) अमृत [अमरण अर्थात् जीवन की सफलता वा अनश्वर आनन्द] को (आनशाना) भोगते हुए (समाने) साधारण (योनौ) आदि कारण ब्रह्म मे [प्रविष्ट होकर] (अधि) ऊपर (ऐरयन्त) पहुँचे है ॥ ५ ॥

जानन्ति । **भुवनेष्ठाः** । **भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि** (उ० २ । ८०) इति भू-क्युन् । भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवन जगत् । **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (पा० ३ । २ । ७४) इति भुवन + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । **तत्पुरुषे कृति बहुलम्** (पा० ६ । ३ । १३) इति सप्तम्या अलुक् । सर्वलोके परिपूर्ण परमात्मा । **धास्युः** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४ । १८९) इति डुधाञ् धारणपोषणयो -असुन् । **छन्दसि परेच्छायामिति** (वा० पा० ३ । १ । ८) इति धास् क्यच् । **क्याच्छन्दसि** (पा० ३ । २ । १७०) इति उप्रत्यय । धा धारण पोषण जगत इच्छतीति धास्यु सर्वपोषणेच्छु । **अग्निः** । अ० १ । ६ । २ । सर्वव्यापक. सर्वज्ञ परमेश्वर । अग्निवत् पोषकः ॥

५—**तन्तुम्** । **सितनिगमिमसि०** (उ० १ । ६९) इति तनु विस्तारे–तुन् । तनोनि विस्तृणोति तन्यते विस्तीर्यते वा स तन्तु । विस्तारकम् । विस्तीर्णं सूत्रम् । पटस्य सूत्रवत् जगत कारणभूतम् । **विततम्** । वि + तनु विस्तारे क्त । विस्तृतम् । व्याप्तम् । **दृशे** । **दृशे विख्ये च** (पा० ३ । ४ । ११) इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्यय । द्रष्टुम् । **कम्** । **अन्येष्वपि दृश्यते** (पा० ३ । २ । १०१)

भावार्थः—ध्यानी धीर वीर पुरुष सामान्यत समष्टि रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परीक्षा करके सब स्थान मे व्यापक जगदीश्वर को साक्षात् करके आनन्द भोगते है, और यह अनुभव करते है कि सब महात्मा अपने को उस परम पिता मे लय करके आत्मा की परम उन्नति करते है, अर्थात् जो स्वार्थ छोड कर आत्मसमर्पण करते है वही परोपकारी सज्जन परम आनन्द की सिद्धि [मुक्ति] को सदा हस्तगत करते है ॥ ५ ॥

यजुर्वेद अ० ३२ म० १० इस प्रकार है।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १ ॥

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने हारा है, और वही पोषण करने हारा परमेश्वर सब (धामानि) अवस्थाओ और (भुवनानि) लोको को जानता है जिस तीसरे लोक परब्रह्म [प्राणियो और सब भुवनो के स्वामी] मे तेजस्वी जन अमृत को भोगते हुये ऊपर पहुँचे है ॥

इति कमे' क्रमेर्वा—डप्रत्यय । क्रमते रेफलोप । क कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा (निरु० १० । २२) प्रजापतिम् । विष्णुम् । ब्रह्म । सूर्य, सूर्यवत् प्रकाशकम् । सुखस्वरूपम् । **यत्र** । यस्मिन् के परब्रह्मणि । **देवाः** । दिव्यगुणवन्तो महात्मान । **अमृतम्** । म० २ । अमरणम् । जीवनसाफल्यम् । मोक्षम् । **आनशानाः** । **लिटः कानज्वा** (पा० ३ । २ । १०६) इति अशू व्याप्तौ—कानच् । **अश्नोतेश्च** (पा० ७ । ४ । ७२) नुडागम । **चितः** (पा० ६ । १ । १५७) इति अन्तोदात्त । अश्नुवाना । प्राप्नुवन्त । **समाने** । सम्यक् अनिति नीयते वा । सम्+अन जीवने—घञ्, यद्वा, सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे—अच् । एकस्मिन्नेव । **योनौ** । **वहिश्रिश्रुयुद्रु०** (उ० ४ । ५१) इति यु मिश्रणामिश्रणयो —नि । आदिकारणे । ब्रह्मणि । **अध्यैरयन्त** । ईर गतौ । ऊर्ध्वं गतवन्त. । अन्यत् व्याख्यात सुगम च ॥

सूक्तम् २ ॥

१ ५ ॥ गन्धर्वाप्सरा देवता १—३ त्रिष्टुप्, ४ त्रिपदा त्रिष्टुप्,
५ अनुष्टुप् छन्द ॥

परमेश्वर सर्वशक्तिमान्नित्युपदिश्यते-परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है इसका उपदेश।

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो᳡ वि॒क्ष्वीड्यः॑। तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दि॒व्य दे॒व नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥ १ ॥

दि॒व्यः। ग॒न्ध॒र्वः॑। भुव॑नस्य। यः। पतिः॑। एकः॑। ए॒व। न॒म॒स्यः᳡। वि॒क्षु। ईड्यः॑। तम्। त्वा॒। यौ॒मि॒। ब्रह्म॑णा। दि॒व्य॒। दे॒व॒। नमः॑। ते॒। अ॒स्तु॒। दि॒वि। ते॒। स॒धऽस्थ॑म् ॥ १ ॥

भावार्थः—(य) जो तू (दिव्य) दिव्य [अद्भुत स्वभाव] (गन्धर्व) गन्धर्व [भूमि सूर्य वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब ब्रह्माड का (एक , एक एव) ही (पति) स्वामी, (विक्ष) सब प्रजाओ [वा मनुष्यो] मे (नमस्य) नमस्कार योग्य और (ईड्य.) स्तुति योग्य हे । (तम्) उस (त्वा) तुझ से, (दिव्य) हे अद्भुत स्वभाव (देव) जयशील परमेश्वर ! (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (यौमि) मै मिलता हू, (ते) तेरे लिए (नम) नमस्कार (अस्तु) हो, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार मे (ते) तेरा (सधस्थानम्) सहवास है ॥ १ ॥

भावार्थः—धीर, वीर, ऋषि, मुनि पुरुष उस परम पिता जगदीश्वर की सत्ता को अपने मे और प्रत्येक पदार्थ मे वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् करके अभिमान छोड कर आत्मबल बढाते हुए आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

१—(गन्धर्व) परमेश्वर का नाम है, देखिये—ऋग्वेद म० ६ सू० ८३ म० ४।

ग॒न्ध॒र्व इ॒त्था प॒दम॑स्य रक्षति॒ पाति॑ दे॒वाना॒ं जनि॑मा॒न्यद्भु॑तः। गृ॒भ्णाति॑ रि॒पु नि॒धया॑ नि॒धाप॑तिः सु॒कृत्त॑मा मधु॑नो भ॒क्षमा॑शत ॥ १ ॥

१—दिव्यः । **छन्दसि च** (पा० ५ । १ । ६६) इति दिव्—य । दिव प्रकाश स्वर्गं वार्हतीति । द्योतनात्मक । स्वर्गीय. । मनोज्ञ । **गन्धर्वः** । द्र० अ० २ । १ । २ । गो+धृ—व । वाग्भूमिसूर्यस्वर्गाणा धारक परमेश्वर. । **भुवनस्य** । द्र० अ० २ ।

(गन्धर्व) पृथिवी आदि का धारण करने वाला, गन्धर्व, (इत्था) सत्यपन से (अस्य) इस जगत् की (पदम्) स्थिति की (रक्षति) रक्षा करता है और वह (अद्‌भुत) आश्चर्यस्वरूप (देवानाम्) दिव्य गुणवालो के (जनिमानि) जन्मो अर्थात् कुलो की (पाति) चौकसी रखता है। (निधापति) पाश [बन्धन] का स्वामी (निधया) पाश से (रिपुम्) वैरी को (गृभ्णाति) पकडता है, (सुकृत्तमा) बडे बडे सुकृती पुण्यात्मा लोगो ने (मधुन) मधुर रस के भक्षम्) भोग को (आशत) भोगा है ।।

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।

मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥२॥

दिवि । स्पृष्टः । यजतः । सूर्यऽत्वक् । अवऽयाता । हरसः । दैव्यस्य । मृडात् । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव । नमस्यः । सुऽशेवाः ॥२॥

भाषार्थः—(दिवि) प्रत्येक व्यवहार मे (स्पृष्ट) स्पर्श किये हुये, (यजतः)

---

१ । ३ । जगत । **नमस्यः** । **तदर्हति** (पा० ५ १ । ६२) इति नमस्-यत् । **तित् स्वरितम्** (पा० ६ । १ । १७६) इति स्वरितत्वम् । नमस्कारयोग्य । **विक्षु** । विश प्रवेशने-क्विप् । विश =मनुष्या -(निघ० २ । ३) प्रजासु । मनुष्येषु । **ईड्यः** । **ऋहलोर्ण्यत्** (पा० ३ । १ । १२४) इति ईड स्तुतौ-ण्यत् । स्तुत्य. । **यौमि** । **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** (पा० ७ । ३ । ८९) इति यु मिश्रणे-वृद्धि । सयोजयामि । **ब्रह्मणा** (द्र० अ० १ । ८ । ४) वेदज्ञानेन । **ते** । तुभ्यम् । **नमःस्वस्तिस्वाहा०** (पा० २ । ३ । १६) इति चतुर्थी । **अनुदात्तं सर्वमपादादौ** (पा० ८ । १ । १८) इत्यनुदात्त । **दिवि** । दिवु क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुति०-क्विन् । स्वर्गे । प्रकाशे । व्यवहारे । **सधस्थम्** । सह तिष्ठन्त्यत्रेति । सह + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणे कप्रत्यय । **सध मादस्थयोश्छन्दसि** (पा० ६ । ३ । ९५) इति सहस्य सधादेश । सहस्थानम् । निवासस्थानम् । अन्यत् सुगम व्याख्यात च ॥

२—**दिवि** । म० १ । प्रत्येकव्यवहारे । **स्पृष्टः** । स्पृश सम्पर्के-क्त । स्पर्शयुक्त. । स्थित । **यजतः** । **भृमृदृशियजि०** (उ० ३ । ११०) इति यज देवपूजा-

पूजनीय, (सूर्यत्वक्) को त्वचा अर्थात् रूप देने वाला, (दैव्यस्य) मदशील [प्रमत्त] मनुष्य के, अथवा आधिदैविक (हरस) क्रोध का (अवयाता) हटाने वाला वह परमेश्वर (मृडात्) [सब को] आनन्द देवे, (य) जो (गन्धर्व) गन्धर्व, [म० १। भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब जगत् का (एक) एक (एव) ही (पति) स्वामी (नमस्य) नमस्कार योग्य और (सुशेवा) अत्यन्त सेवा योग्य है ।। २ ।।

भावार्थ :—वह सर्वव्यापी, सूर्यादि प्रकाशक जगत्पिता परमेश्वर हमे सामर्थ्य देकर हमारे कुक्रोध और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेश का नाश करता है। उस अद्वितीय, सर्व सेवनीय परमेश्वर की उपासना से सबको आनन्द मिलता है ।। २ ।।

१—परमेश्वर आदित्यवर्ण रूप है, य० अ० ३१ । १८ ।।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।१।।

सङ्गतिकरणदानेषु—अतच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्त । यष्टव्य । पूजनीय । **सूर्यत्वक्** । सूर्य, व्याख्यात —अ० १ । ३ । ५ । । सुवति सरति वा स सूर्य । त्वच संवरणे—क्विप् । यद्वा । **तनोतेरनश्च वः** (उ० २ । ६३) इति तनु विस्तारे-चिक्, अन् इत्यस्य व । त्वचति संवृणोति, यद्वा, तनोति विस्तारयतीति त्वक् । सूर्यस्य त्वग् रूप यस्मात् स । सूर्यस्रष्टा । **अवयाता** । या गतौ, अन्तर्भावितणिच्-तृच् । अवयापयिता, अवगमयिता । **हरसः** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४ । १८९) इति हृञ् हरणे—असुन् । क्रोधस्य—निघ० २ । १३ । **दैव्यस्य** । द्र० अ० २ । १२ । ४ **देवाद् यञञौ** (वा० पा० ४ । १ । ८५) इति देव+यञ् । देवसम्बद्धस्य । आधिदैविकस्य । यद्वा मदशीलस्य, प्रमत्तस्य पुरुषस्य । **मृडात्** । मृड सुखने-लेटि आडागम । **इतश्च लोपः परस्मैपदेषु** (पा० ३ । ४ । ९७) इति इकारलोप । मृडयतु । सुखयतु । **सुशेवाः** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४ । १८९) इति सु+शेवृ सेवने—असुन् । शोभन शेव शेवन यस्येति । अनायासेन सेवनीयः । अन्यद् गत मन्त्रे ।। १ ।।

(अहम्) मै (तमस) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) परे होकर, (एतम्) इस (महान्तम्) पूजनीय वा सबसे बडे (आदित्यवर्णम्) सूर्य को रूप देने वाले (पुरुषम्) अग्रगामी परमात्मा को (वेद) जानता हू । (तम्) उस को (एव) ही (विदित्वा) जान कर [जीव] (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्येति) लाघ जाता है, (अन्य) दूसरा (पन्था) मार्ग (अयनाय) चलने के लिये (न) नही (विद्यते) विद्यमान है ॥

२—परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्र बनाया है। ऋग्वेद म० १० । सू० १९० । ३

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

(धाता) विधाता ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (यथापूर्वम्) पहिले के समान (अकल्पयत्) बनाया है ।

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३॥

अनवद्याभिः । सम् । ऊं इति । जग्मे । आभिः । अप्सरासु । अपि । गन्धर्वः । आसीत् । समुद्रे । आसाम् । सदनम् । मे । आहुः । यतः । सद्यः । आ । च । परा । च । यन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(गन्धर्व) गन्धर्व [म० १] (आभि) इन (अनवद्याभि) निर्दोष [अप्सराओ] के साथ (उ) अवश्य (सजग्मे) सगति वाला था, और (अप्सरासु) अप्सराओ मे [सब प्राणियो, वा अन्तरिक्ष वा बीज रूप जल मे व्यापक, वा उत्तम रूप वाली अपनी शक्तियो मे] (अपि) नि सन्देह (आसीत्) वर्त्तमान था । (आसाम्) इन [अप्सराओ] का (सदनम्) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष मे [वा समुद्र रूप गभीर स्थान मे] (मे) मुझको (आहु) वे बताते है, (यत) जिस

३—अनवद्याभिः । **अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु** (पा० ३ । १ । १०१) इति अन्+अ+वद यत्प्रत्ययान्तो निपात । अगर्ह्याभि । प्रशस्तगुणाभि. । **सम्-जग्मे** । सम्+गम्लृ-लिट् । **समो गम्यृच्छि०** (पा० १ । ३ । २९) इति सम्पूर्वाद् अकर्मकाद् गमेरात्मनेपदम् । **गमहन०** (पा० ६ । ४ । ९८) इत्युपधालोप । सगतवान् । **अप्सरासु** । **आप्नोतेर्ह्रस्वश्च** (उ० २ ।

स्थान से वे (च) अवश्य (आ यन्ति) आती (च) और (परा=परायन्ति) दूर चली जाती है ॥ ३ ॥

भावार्थः – (गन्धर्व) भूमि आदि लोको और वेदवाणी का धारक (अप्सराओ) अर्थात् सब प्राणियो और जल आदि सृष्टि के उपादान कारण पदार्थो मे वर्त्तमान अपनी शक्तियो के साथ विराजमान रहता है, यह अद्भुत शक्तियाँ अति विस्तीर्ण आकाश मे वर्त्तमान रहती, और मनुष्य आदि के शरीरो मे परमाणुओ की सयोग दशा मे दृश्य, और उनकी वियोग दशा मे अदृश्य हो जाती है ॥ ३ ॥

टिप्पणी--(गन्धर्व) और (अप्सरस) शब्दो के लिये यजुर्वेद अ० १८ म० ३८–४३, छह मन्त्र देखे । वहाँ (अप्सरस) शब्द है जो (अप्सरा) शब्द का पर्य्यायवाची है ।

ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयो ऽप्सरसो मुदो नाम ।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥

---

५८) इति आप्लृ व्याप्तौ–क्विप् । आप , अ तरिक्षनाम निघ० १ । ३ । उदक नाम–निघ० १ । १२ । दयानन्दभाष्ये प्राणा जलानि वा—य० ४ । ७ । आप्ता प्रजा —६ । २७ । व्यापिकास्तन्मात्रा —२७ । २५ । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३ । १ । १३४) इति सृ गतौ–पचाद्यच् । यद्वा । **वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः** (उ० ३ । ६२) इति आप्लृ व्याप्तौ—सप्रत्यय । उपधाह्रस्व । अप्स·=रूपम् निघ० ३ । ७ । रो मत्वर्थीय । अथवा, रा दानादानयो —अच । टाप् । अप्सरा अप्सारिण्यपि वाऽप्स इति रूपनाम, अप्सातेरप्सानीय भवति, आदर्शनीय व्यापनीय वेति तद्रा भवति रूपवती तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा (निरु० ५ । १३) अप्सु आकाशे जलेषु प्राणेषु प्रजासु वा सरणशीला , अथवा रूपवत्य. परमेश्वरशक्तय । **समुद्रे** । द्र०अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षे–निघ० १ । ३ । **सदनम्** । सीदन्त्यत्रेति । षद्लृ गतौ–ल्युट् । गृहम् । **आहुः** । ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि–लट् । ब्रुवन्तिकथयन्ति ब्रह्मवादिन । **आ+यान्ति** । इण् गतौ । आगच्छन्ति, आविर्भवन्ति सृष्टिकाले । **परा+यन्ति** । दूरे गच्छन्ति तिरोभवन्ति प्रलयकाले ॥

(ऋताषाट्) सत्य नियम का सहने वाला, (ऋतधामा) सत्य प्रभाव वाला, (अग्नि) सर्व व्यापक, वा अग्नि समान रक्षक, परमेश्वर (गन्धर्वं) सूर्य, पृथिवी, और वेद वाणी आदि का धारण करने वाला है। (तस्य) उसकी [गन्धर्व की बनायी] (मुद) आनन्द देने वाली (औषधय) ओषधियाँ [अन्नादि वस्तुये] (नाम) प्रसिद्ध रूप से (अप्सरस) अप्सराये अर्थात् आकाश वा प्राणो, वा जल मे चलने वाली वा उत्तम रूप वाली सामग्री है। (स) वह परमेश्वर (न) हमारे लिये (इदम्) इस (ब्रह्म, ब्राह्मण कुल और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल की (पातु) रक्षा करे। (तस्मै) उस परमेश्वर को (स्वाहा) सुन्दर वाणी और (वाट्) आवाहन, और (ताभ्य) उन सामग्रियो के लिये (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है॥

यह मन्त्र ३८ वा है। इसी प्रकार अन्य पाच मन्त्रो मे (गन्धर्व) शब्द (सूर्य चन्द्रमा, वात, यज्ञ, मन) शब्दो के साथ, और (अप्सरसः) शब्द (मरीचय, नक्षत्राणि, आप, दक्षिणा, ऋक्सामानि) शब्दो के साथ क्रम से आये है।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि॥ ४॥

अभ्रिये। दिद्युत्। नक्षत्रिये। याः। विश्वऽवसुम्। गन्धर्वम्।
सचध्वे। ताभ्यः। वः। देवीः। नमः। इत्। कृणोमि॥ ४॥

भाषार्थः—(अभ्रिये) अभ्र [मेघ] मे [रहने वाली] (दिद्यु-=०-ति) बिजुली मे [वर्तमान] और (नक्षत्रिये) नक्षत्रो मे [रहने वाली] (या) जो तुम सब (विश्वावसुम्) सब प्रकार के धनो के वा सब निवासस्थानो लोको] के

४—**अभ्रिये—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३। १। १३४) इति अभ्रगतौ-पचाद्यच्। अथवा। अपो बिभर्तीति। अप्+भृ-क। अभ्रम् = मेघ — (निघ० १। १०) **समुद्राभ्राद् घः** (पा० ४। ४। ११८) इति अभ्र-भवार्थे घप्रत्यय। घस्य इय् आदेश। मेघेषु भवे स्थाने मेघस्य मण्डले वर्त्तमाना। **दिद्युत्। द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च** (वा० पा० ३।२।१७८) इति द्युत दीप्तौ-क्विप्। द्वित्व च। **द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्** (पा० ७। ४। ६७) इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। अथवा दो अवखण्डने-क्विप्। पृषोदरादिरूपम्। द्योति पदार्थान्। **सुपां सुलुक्०** (पा०७।१।३९) इति सप्तम्या लुक्। द्योतमाने विद्युन्मण्डले। **नक्षत्रिये**।

स्वामी (गन्धर्वम्) गन्धर्व [पृथिवी, सूर्य वा वेदवाणी के धारण करने वाले परमेश्वर] की (सचध्वे) सेवा करती हो। (देवी =हे देव्य !) हे देवियो ! [दिव्य अर्थात् अद्भुत गुण वालियो !] (ता) उन (व) तुमको (नम) नमस्कार (इत्) अवश्य (कृणोमि) मै करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थः—यहा शक्तियो से शक्तिमान् परमेश्वर का ग्रहण है। ससार के प्रत्येक पदार्थ के अवलोकन से देखा जाता है कि यह अप्सराये [परमेश्वर की अनन्त और अद्भुत शक्तिया] परमेश्वर के वशीभूत होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त का कारण है। उन शक्तियो अर्थात् उनके स्वामी जगदीश्वर को बडे छोटे प्राणी नम्रता से स्वीकार करते और उपकारो को विचार कर उपकारी बन कर आनन्द भोगते है ॥ ४ ॥

याः क्रन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

याः । क्रन्दाः । तमिषीचयः । अक्षऽकामाः । मनःऽमुहः ।
ताभ्यः । गन्धर्वऽपत्नीभ्यः । अप्सराभ्यः । अकरम् । नमः ॥ ५ ॥

भाषार्थः— या) जो (क्लन्दा) आवाहन करने हारी (तमिषीचय) इच्छा की सीचने [पूरा करने] हारी, (अक्षकामा) अवहारो मे कामना करानेवाली, (मनोमुह) मन को आश्चर्य मे करने वाली है। (ताभ्य) उन (गन्धर्वपत्नीभ्य) गन्धर्व की

नक्षत्राद्घः (पा० ४ । ४ । १४१) इति नक्षत्र-घ प्रत्यय । नक्षत्रेषु भवे लोके वर्त्तमाना । **याः** । अप्सरा , यूयम् । **विश्वावसुम्** । **विश्वस्य वसुराटोः** (पा० ६ । ३ । १२७) इति पूर्वपदस्य दीर्घ । **बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्** (पा० ६ । २ । १०६) इतिपूर्वपदस्य विश्वशब्दस्य अन्तोदात्तत्वम् । विश्वानि वसूनि यस्मिन् स । सर्वधनसम्पन्नम् । यद्वा । सर्वे वसवो निवासा लोका यस्मिन् स । सर्वाश्रयम् । **सचध्वे** । षच सेचने सेवने च, आत्मनेपदम् । सेवध्वे । **देवीः** । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०२) इति पूर्वसवर्णदीर्घ । देव्यो द्योतमाना । **कृणोमि** । **धिन्विकृण्व्योर च** (पा० ३ । १ । ८०) इति कृवि हिंसाकरणयो —उप्रत्ययः, अकारश्चान्तादेश । करोमि । अन्यत् सुगमम् ॥

५—**क्रन्दाः** । क्लदि आह्वाने रोदने च-पचाद्यच् । टाप् । आवाहनशीला । **तमिषीचयः** । तमि-षिचयः । **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४ । ११८) इति तमु इच्छाया खेदे च—इन् । **इगुपधात् कित्** (उ० ४ । १२०) इति षिच् सेचने—इन्,

पत्नी [परमेश्वर की रक्षा मे रहने वाली] (अप्सराभ्य) अप्सराओ [प्राणियो मे रहने वाली ईश्वर शक्तियो] को मैने (नम) नमस्कार (अकरम्) किया है ।।५।।

भावार्थः—इस मन्त्र मे भी अप्सराओ अर्थात् शक्तियो से उनके स्वामी परमेश्वर का ग्रहण है। वह परमेश्वर दुष्टो पर गरजता और शिष्टो का आवाहन करता अनन्त बलवान्, उत्तम कर्मो मे प्रीति कराने वाला और मनोहर स्वभाव है, सब जड और चेतन नमस्कार करके उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा मानते, और आनन्दित होते है ।। ५ ।।

सूक्तम् ।। ३ ।।

१—६ ।। भेषज देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।।

शारीरिकमानसिकरोगनाशोपदेश—शारीरिक और मानसिक रोग की निवृत्ति के लिये उपदेश ।

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥ १ ॥

अदः । यत् । अवऽधावति । अवत्ऽकम् । अधि । पर्वतात् ।
तत् । ते । कृणोमि । भेषजम् । सुऽभेषजम् । यथा । असंसि ।।१।।

भाषार्थः—(अद) वह (यत्) जो सगति योग्य ब्रह्म (अवत्कम्) नित्य

किति ह्रस्व । छान्दसो दीर्घ । तमिम् इच्छा सिञ्चन्ति तास्तमिसिचयः। इच्छापूरयित्र्यः। **अक्षकामाः** । अक्षू व्याप्तौ, सहतौ—पचाद्यच् । यद्वा । **अशेर्देवने** (उ० ३ । ६५) इति अशू व्याप्तौ—सप्रत्यय । अक्षो व्यवहार. । यथा, अक्षदर्शक, अक्षदृक्=व्यवहारनिर्णेता, न्यायकर्त्ता । काम्यतेऽसौ । कमु स्पृहायाम्—कर्मणि घञ् । अक्षेषु व्यवहारेषु सत्कर्मसु कामोऽभिलाषो याभ्यस्तास्तथाभूता । व्यवहारोत्साहिन्य । **मनोमुहः** । मनस्+मुह वैचित्ये—क्विप् । मनस, चित्तस्य मोहयित्र्य, आश्चर्ये विस्मये कर्त्र्य । **गन्धर्वपत्नीभ्यः** । **विभाषा सपूर्वस्य** (पा० ४ । १ । ३४) इति गन्धर्व+पति—नकारङीपौ । गन्धर्व पूर्वोक्त परमात्मा पति, रक्षक, स्वामी यासा ताभ्य । गन्धर्वेण परमेश्वरेण रक्षिताभ्य.। **अप्सराभ्यः** । मन्त्र ३ । आकाशप्राणादिषु वर्त्तमानाभ्यः । **अकरम्** । डुकृञ् करणे—लुङ् । **कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि** (पा० ३ । १ । ५९) इति च्ले. अङ् आदेशः । **ऋदृशोऽङि गुणः** (पा० ७।४।१६) इति गुण । अहं कृतवान् । नम. । सत्कारम् ।।

१—अदः । न दस्यते उत्क्षिप्यतेऽङ्गुलिर्यत्र इदन्तया । न+दसु

चलने वाला जल प्रवाह [के समान] (पर्वतात् अधि) पर्वत के ऊपर से (अवधावति) नीचे को दौडता आता है। [हे औषध!] (तत्) उस [ब्रह्म] को (ते) तेरे लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मै बनाता हू, (यथा) जिससे कि (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असति) तू हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थः—हिम वाले पर्वतो से नदियाँ ग्रीष्म ऋतु मे भी बहती रहती और अन्न आदि औषधो को हरा भरा करके अनेक विधि से जगत् का पोषण करती है, इसी प्रकार औषध का औषध, वह ब्रह्म सब के हृदय मे व्यापक हो रहा है। सब मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन और सुविद्या ग्रहण से शारीरिक और मानसिक रोगो की निवृत्ति करके सदा उपकारी बने और आनन्द भोगे ॥ १ ॥

आदुङ्ग कुविदुङ्ग शतं या भेषजानि ते।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

आत्। अङ्ग। कुवित्। अङ्ग। शतम्। या। भेषजानि। ते। तेषाम्। असि। त्वम्। उत्ऽतमम्। अनास्रावम्। अरोगणम् ॥ २ ॥

उत्क्षेपे—क्विप्। अमुतक्षेपणीयम्। पुरोवर्त्ति। विप्रकृष्टम्। **यत्। त्यजितनियजिभ्यो डित्** (उ० १। १३२) इति यज—अदि, स च डित्। यजति सर्वैं पदार्थैं सह सङ्गत भवतीति। यजनीय सगन्तव्यम्। प्रसिद्धम्। ब्रह्मणो नाम इति दयानन्द—उणादिकोषव्याख्यायाम्। **अवधावति। पाघ्राध्मास्थाम्ना०** (पा० ७। ३। ७८) इति सृधातो धौ इत्यादेश शीघ्रगमने। अवरुह्य शीघ्र सरनि गच्छति। **अवत्कम्।** अव—अत्कम्। **इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्** (उ० ३। ४३) इति अव+अत सातत्यगमने-कम्। **शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्** (वा० पा० ६।१।९४) इति पररूपम्। अवातति खन्यमानमधोगच्छति। जलप्रवाहः। अवत· कूपनाम—निघ० ३। २३। **पर्वतात्।** द्र० अ० १। १२। ३। शैलात्। **तत्। त्यजितनियजिभ्यो डित्** (उ० १। १३२) इति तनु उपकृतौ विस्तृतौ[1] च—अदि, डित्। तनोति सर्व, यद्वा, तन्यते सर्वत्र। ब्रह्मणो नामविशेष। विस्तीर्णम्। ब्रह्म। **भेषजम्।** द्र० अ० १। ४। ४। औषधम्। **सुभेषजम्। सुः पूजायाम्** (पा० १। ४। ९४) उत्कृष्टमौषधम्। अतिशयितवीर्य-

---

१ दिवादि गण मे 'तनु विस्तारे' तथा चुरादिगण मे 'तनु श्रद्धोपकरणयो' ऐसा पठित है। उन दोनो से ही यहा तात्पर्य है ॥ सम्पा०।

भाषार्थः—(अङ्ग) हे ! (अङ्ग) हे [ब्रह्म !] (आत्) फिर (कुवित्) अनेक प्रकार से (या=यानि) जो (ते) तेरी [बनायी] (शतम्) सौ [असख्य] (भेषजानि) भय निवर्त्तक औषधे है, (तेषाम्) उनमे से (त्वम्) तू आप (उत्तमम्) उत्तम गुण वाला, (अनास्रावम्) बडे क्लेश का हटाने वाला और (अरोगम्) रोग दूर करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थः—ससार की सब ओषधियो मे क्लेशनाशक और रोगनिवर्त्तक शक्ति का देने वाला वही ओषधियो का ओषधि परब्रह्म है ॥ २ ॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

नीचैः । खनन्ति । असुराः । अरुःऽस्राणम् । इदम् । महत् । तत् । आऽस्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊँ इति । रोगम् । अनीनशत् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(असुरा) बुद्धिमान् पुरुष (इदम्) इस (अरुस्राणम्) व्रण [स्फोर=फोडे] को पका कर भर देने वाली, (महत्) उत्तम औषध को (नीचै) नीचे नीचे (खनन्ति) खोदने जाते है। (तत्) वही विस्तृत ब्रह्म

युक्तम् । **यथा** । येन प्रकारेण । **असमि** । **बहुल छन्दसि** (पा० २ । ४ । ७३) इति शपोऽलुक् । असि । भवे ॥

२—**आत्** । अव्ययम् । पुन । अनन्तरम् । **अङ्ग** । अव्ययम् । **निपातस्य च** (पा० ६ । ३ । १३६) इति साहितिक उभयत्र दीर्घ. । सबोधने हे । **कुवित्** । निपातोऽयम् । बहुनाम—निघ० ३ । १ । बहुधा बहुप्रकारेण । **शतम्** । दश दशत परिमाणमस्येति । **पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्च०** (पा० ५।१।५९) इति त । दशाणा शभावश्च निपात्यते । दशगुणिता दश सङ्ख्या । शत दशदशत:, (निरु० ३ । १०) बहुनाम—निघ० ३ । १ । अपरिमितानि । असङ्ख्यातानि । **भेषजानि** । द्र० अ० १ । ४ । ४ । भिषज् अण् । यद्वा । भेष+जि—ड । औषधानि । **उत्तमम्** । द्र० अ० १ । ९ । २ । उत्—तमप् । उत्कृष्टतमम् । **अनास्रावम्** । द्र० अ० १ । २ । ४ । अन्+आङ्+स्रु+ण । क्लेशरहितम् । **अरोगणम्** । रुजो भङ्गे-भावे ल्युट्, छान्दस कुत्वम् । अरोजनम् । रोगनिवर्त्तकम् ॥

३—**नीचैः** । **नौ दीर्घश्च** (उ० ५ । १३) इति नि+चिञ् चयने-डैसि, नेर्दीर्घत्व[1] च । अधोऽध । अन्तरन्त । **खनन्ति** । खनु अवदारणे । अवदारयन्ति, उन्मूलयन्ति । अन्वेषणेन प्राप्नुवन्ति । **असुराः** । द्र० अ० १० । १ । १ । **असेरुरन्** (उ०

---

१ द्र उ ५ । १३ ॥

(आस्रावस्य) बडे क्लेश की (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थः—जैसे सद्वैद्य बडे बडे परिश्रम और परीक्षा करके उत्तम औषधो को लाकर रोगो की निवृत्ति करके प्राणियो को स्वस्थ करते है, वैसे ही विज्ञानियो ने निर्णय किया है कि उस परमेश्वर ने आदि सृष्टि मे ही मानसिक और शारीरिक रोगो की औषधि उत्पन्न कर दी है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य मे (अनीनशत्) के स्थान मे [अशीशमत्] पाठ है ॥

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्यं भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

उपजीकाः । उत् । भरन्ति । समुद्रात् । अधि । भेषजम् । तत् ।
आऽस्रावस्यं । भेषजम् । तत् । ऊँ इति । रोगम् । अशीशमत् ॥

भाषार्थः—(उपजीका) [परमेश्वर के] आश्रित पुरुष (समुद्रात् अधि) आकाश [समस्त जगत्] मे से (भेषजम्) भयनिवारक ब्रह्म को, (उद्भरन्ति) ऊपर निकालते है। (तत्) वही [ब्रह्म] (आस्रावस्य) बडे क्लेश का (भेषजम्)

---

१ । ४२) इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । यद्वा, असु, प्राण , रो मत्वर्थीय । ज्ञानवन्त । दीप्यमाना । प्रज्ञावन्त —निरु० १० । ३४ । प्राणवन्त पुरुषा । **अरुस्राणम्** । अरु -स्राणम् । **अर्त्तिपृवपियजि०** (उ० २ । ११७) इति ऋ गतौ, हिंसायां वा—उसि । इति अरु , व्रण । स्रै पाके-ल्युट । अरुषो व्रणस्य पाककरम् । **महत्** । द्र० अ० १ । १० । ४ । वड्रम् । विपुलम् । **आस्रावस्य** । द्र० अ० १ । २ । ४ । महाक्लेशस्य । **रोगम्** । **पदरुजविशस्पृशो घञ्** (पा० ३ । ३ । १६) इति रुजो भङ्गे—घञ् । व्याधिम् । उपतापम् । **अनीनशत्** । इति णश अदर्शने, नाशे च—ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । नाशयति स्म ॥

४—उपजीकाः—कषिदूषिभ्यामीकन् (उ० ४ । १६) इति बाहुलकात्, उप + जीव प्राणधारणे-ईकन्, स च डित् । उपजीविन । परमेश्वराश्रिता । प्राणिन । वल्मीकनिष्पादिका वम्र्य —इति सायण । **उद्भरन्ति** । उत्-भृञ् ।

औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अशीशमत्) शान्त कर दिया है ।। ४ ।।

भावार्थः—परमेश्वर का सहारा रखने वाले पुरुष ससार के प्रत्येक पदार्थ मे ईश्वर को पाते है। और उस आदिकारण की महिमा को साक्षात् करके अपने सब क्लेशो का नाश करके आनन्द भोगते है ।। ४ ।।

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुःऽस्राणम् । इदम् । महत् । पृथिव्याः । अधि । उत्ऽभृतम् ।
तत् । आऽस्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊँ इति । रोगम् । अनीनशत् ।। ५ ।।

भाषार्थः—(इदम्) यह (अरुस्राणम्) फोडे को पका कर भरने वाला (महत्) उत्तम [औषध] (पृथिव्या) पृथिवी से (अधि) ऊपर (उद्भृतम्) निकाल कर लाया गया है। (तत्) वही [ज्ञान] (आस्रावस्य) बडे क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ।। ५ ।।

भावार्थः—महाक्लेश नाशक ब्रह्म ज्ञान रूप औषध पृथिवी आदि लोको के प्रत्येक पदार्थ मे वर्त्तमान है, मनुष्य उसको प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करे, और रोगो की निवृत्ति करके स्वस्थ चित्त होकर आनन्दित रहे ।। ५ ।।

उद्धरन्ति । ऊर्ध्वं हरन्ति । **समुद्रात्** । द्र० अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षात् । सर्व-ससारात् । **भेषजम्** । भयनिवारक परब्रह्म । उदकम्—निघ० १ । १२ । सुखम् निघ० ३ । ६ । **आस्रावस्य** । द्र० म० ४ । महाक्लेशस्य । **अशीशमत्** । शमु उपशमे, ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । उपशाम्यति नाशयति स्म ।।

५—**अरुस्राणम्** । म० ३ । अरुष पाचयितृ । **पृथिव्याः** । अ० १ । २ । १ विस्तीर्णाद् भूलोकात् । **उद्भृतम्** । उत्-भृञ्-क्त । उद्धृतम् । उन्मूलितम् । सर्वथा ज्ञानेन प्राप्तम् । अन्यद् व्याख्यात म० ३ ।।

शं नो॑ भवन्त्वाप ओष॑धयः शि॒वाः । इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॒ अप॑ हन्तु र॒क्षस॑ आ॒राद् विसृ॑ष्टा इष॑वः पतन्तु र॒क्षसा॑म् ॥६॥

शम् । न॒ः । भ॒वन्तु॒ । आ॒पः । ओष॑धयः । शि॒वाः । इन्द्र॑स्य । वज्र॑ः । अप॑ । ह॒न्तु॒ । र॒क्षस॑ः । आ॒रात् । वि॒ऽसृ॑ष्टाः । इष॑वः । प॒तन्तु॒ । र॒क्षसा॑म् ॥६॥

भाषार्थः—(आप) जल और (ओषधयः) उष्णता धारण करने वाली वा ताप नाश करने वाली अन्नादि ओषधिये (न) हमारे लिये (शम्) शान्ति कारक और (शिवा) मगल दायक (भवन्तु) होवे। (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य वाले पुरुष का (वज्र) वज्र (रक्षस) राक्षस का (अपहन्तु) हनन कर डाले (रक्षसाम्) राक्षसो के (विसृष्टा.) छोडे हुये (इषव) बाण (आरात्) दूर (पतन्तु) गिरे ॥ ६ ॥

भावार्थः—परमेश्वर के अनुग्रह से हम पुरुषार्थ करते रहे, जिससे जल, अन्न आदि सब पदार्थ शुद्ध रह कर प्रजा मे आरोग्यता बढावे, और जैसे राजा चोर, डाकू आदि दुष्टो को दण्ड देता है कि प्रजा गण कष्ट न पावे और सदा आनन्द भोगे, ऐसे ही हम अपने दोषो का नाश करके आनन्द भोगे।

टिप्पणी—अजमेर के पुस्तक और सायणभाष्य की सहिता मे 'अप' पाठ है। और सायणभाष्य और प० सेवकलाल मुद्रापित पुस्तक मे 'आपः' पाठ है। हमने भी 'आप ' ही लिया है ॥

६—**शम्** । अ० १ । ३ । ? । शमनाय । शान्तिप्रदा । **आपः** । द्र० अ० १ । ५ । ३ । जलानि । **ओषधयः** । द्र०अ० १ । २३ । १ । ओष+डुधाञ् धारणपोषणयो -कि (पा० ३।३।९३)। अन्नादिबलप्रदपदार्था । **शिवाः** । अ० १। ६।४। **सर्वनिघृष्व०** । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने=वन् । शीङो ह्रस्वत्वम् । शिवम् =सुखम्—निघ० ३ । ६ । ततो अर्श आद्यच् । सुखकारिण्य । **इन्द्रस्य** । द्र० अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवत पुरुषस्य । **वज्रः** । द्र० अ० १ । ७ । ७ । कुलिश । कुठार । **अपहन्तु** । अपहनन विनाश करोतु । **रक्षसः** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** । (उ० ४ । १८९) इति रक्ष पालने—अपादाने असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात् –निरु० ४ । १८ । कर्मणि षष्ठी । रक्षस्य । दुष्टस्य । **आरात्** । दूरदेशे । **विसृष्टाः** । वि+सृज त्यागे–क्त । त्यक्ता, प्रेषिता, प्रयुक्ता । **इषवः** । अ० ? । १३ । ५ । शत्रुहिसका बाणा । **पतन्तु** । अधोगच्छन्तु । **रक्षसाम्** । दुराचारिणा पुरुषरागाणाम् ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—६ ॥ जङ्गिडो देवता । १—पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ११×२= २२, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप् ८×२=१६, २—६ अनुष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्य परमेश्वरभक्त्याऽयु वर्धयेत्-मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से आयु बढावे ।

दीर्घायुत्वायं बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥१॥

दीर्घायुऽत्वायं । बृहते । रणाय । अरिंष्यन्तः । दक्षमाणाः । सदा । एव ।
मणिम् । विस्कन्धऽदूषंणम् । जङ्गिडम् । बिभृमः । वयम् ॥१॥

भाषार्थः—(दीर्घायुत्वाय) बडी आयु के लिये और (बृहते) बडे (रणाय) रण मे [जीत] वा रमण के लिये (अरिष्यन्त) [किसी को] न सताते हुए और (सदा एव) सदा ही, (दक्षमाणा) वृद्धि करते हुए (वयम्) हम लोग (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न निवारक और (मणिम्) प्रशसनीय (जङ्गिडम्) शरीर भक्षक रोग वा पाप के निगलने वाले [औषध वा परमेश्वर] को (विभृम) हम धारण करे ॥१॥

भावार्थः—जगत् मे कीर्त्तिमान् होना ही आयु का बढाना है । मनुष्यो को परमेश्वर के ज्ञान और पथ्य पदार्थो के सेवन से पुरुषार्थ पूर्वक पाप और

१—**दीर्घायुत्वाय । छन्दसीणः** (उ० १ । २) इति दीर्घ , इण गतौ-उण्, ततो भावे त्वप्रत्यय । चिरकालजीवनाय । **रणाय** । रमणाय मकार-लोपे यद्वा, सग्रामाय । **अरिष्यन्तः** । रिष हिंसायाम् शतृ, नञ्समास । अहिंसन्त । **दक्षमाणाः** । दक्ष वृद्धिशैघ्र्ययोः—शानच् । वर्धमाना । **मणिम् । सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४ । ११८) इति मण शब्दे—इन् । मण्यते स्तूयते स मणि । बहुमूल्य पाषाणो वा रत्नम् । प्रशस्तम् । **विष्कन्ध-दूषणम्** । वि + स्कन्दिर् शोषणे गत्या —घञ्, धश्चान्तादेश । दुष वैकृत्ये ण्यन्तात् करणे ल्युट् । **दोषो णौ** (पा० ६ । ४ । ९०) इति ऊत्वम् । विशेषेण शोषकस्य विघ्नस्य विकर्तारं निवारकम् । **जङ्गिडम्** । जमति भक्षयतीति ।

रोग रूप विघ्नो को हटा कर सत्पुरुषो की वृद्धि मे अपनी और ससार की उन्नति समझ कर सदा सुख भोगना चाहिये ॥ १ ॥

१—सायणभाष्य मे (दक्षमाणा) के स्थान मे [रक्षमाणा] पद है।

२—सायणाचार्य ने (जङ्गिड) वृक्ष विशेष वाराणसी मे प्रसिद्ध बताया है ॥

जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः। जम्भात्। विऽशरात्। विऽस्कन्धात्। अभिऽशोचनात्।
मणिः। सहस्रऽवीर्यः। परि। नः। पातु। विश्वतः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(सहस्रवीर्य) सहस्रो सामर्थ्य वाला, (जङ्गिड) शरीर भक्षक रोगो का निगलने वाला (मणि) मणिरूप अति श्रेष्ठ औषध वा परमेश्वर (न) हमको (जम्भात्) नाश से, (विशरात्) हिसा से, (विष्कन्धात्) विघ्न से और (अभिशोचनात्) महा शोक से, (विश्वत) सब प्रजा और (परि) सब ओर (पातु) बचावे ॥ २ ॥

अन्येष्वपि दृश्यते (पा० ३ । २ । १०१) इति जम भक्षे—ड । गिरतीति गिर । **मेघर्तिभयेषु कृञः** (पा० ३ । २ । ४३) इति बाहुलकात्, गॄ निगरणे—खच् । **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (पा० ६ । ३ । ६७) इति अजन्तस्य मुम् । रकारस्य उत्वम् । आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा निगरणशील भक्षकम् औषध परमात्मान वा । **बिभृमः** । डुभृञ् धारणपोषणयो—श्लौ लट् । धारयाम ॥

२----**जङ्गिडः** । म० १ । आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा भक्षको नाशक । **जम्भात्** । जभि नष्टीकरणे, जृम्भे वा-पचाद्यच् । **रधिजभोरचि** (पा० ७ । १ । ६१) इति नुम् । नाशनात् । हानिसकाशात् क्रूरकर्मत्वात् । **विशरात्** । **ॠदोरप्** (पा ३ । ३ । ५७) इति वि+शॄ हिसायाम्—अप् । विशरणात् । वधात् । मारणात् । **विष्कन्धात्** । म० १ । शोषकात् । विघ्नात् । **अभिशोचनात्** । अभि+शुच् शोके—ल्युट् । मनस पीडाया अतिशोकात् । **मणिः** । म० १ । प्रशसनीय । **सहस्रवीर्यः** । **तत्र साधुः** (पा० ४ । ४ । ९८) इति वीर—यत् । अथवा, भावे यत्प्रत्यय । सहस्राणि वीर्याणि सामर्थ्यानि यस्मिन् स । अपरि-

भावार्थः—मनुष्य सर्व रक्षक और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मे श्रद्धालु होकर पथ्य पदार्थों का सेवन करता हुआ पुरुषार्थ करे कि आलस्य आदि दुर्व्यसन और हिंसक राक्षस आदि रोग न सतावे, किन्तु सुरक्षित होकर आनन्द प्राप्त करे ॥ २ ॥

अयं विष्कंन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अयम् । विऽस्कंन्धम् । सहते । अयम् । बाधते । अत्रिणः ।
अयम् । नः । विश्वऽभेषजः । जङ्गिडः । पातु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (विश्वभेषज) सर्वौषध (जङ्गिड) पापो वा रोगो का भक्षक [परमेश्वर वा औषध] (विष्कन्ध) विघ्न को (सहते) दबाता है, (अयम्) यही (अत्रिण) खाउओ[1] वा रोगो को (बाधते) रोकता है (अयम्) यही (न) हमको (अहसः) पाप से (पातु) वचावे ॥ ३ ॥

भावार्थः—उत्साही विचारवान् पुरुष परमेश्वर मे विश्वास और पथ्य पदार्थों का सेवन करके अपनी दूरदर्शिता से मानसिक और शारीरिक बाधाओ को हटाकर अटल सुख भोगते है ॥ ३ ॥

मितपराक्रम । **परि** । परित सर्वत । **नः** । अस्मान् । **उपसर्गाद् बहुलम्** । (पा० ८ । ४ । २८) इति नसो णत्वम् । **विश्वतः** । **पञ्चम्यास्तसिल्** (पा० ५ । ३ । ७) इति विश्व-तसिल् **लिति** (पा० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । विश्वस्मात् सर्वस्मात् खेदात् ॥

३—**विष्कन्धम्** । म० १ । विघ्नम् । **सहते** । षह अभिभवे । अभिभवति । **बाधते** । बाधृ विलोडने । निवारयति नाशयति । **अत्रिणः** । द्र० अ० १ । ७ । ३ । अद भक्षणे-त्रिनि[2] । अत्तॄन्, भक्षकान् पुरुषान् रोगान् वा । **विश्वभेषजः** । सर्वेषा रोगादीना जेता निवर्तक । सर्वौषधः । **अंहसः** । **अमेर्हुक् च** (उ० ४ । २१३) इति अम रोगे, गतौ च-असुन् हुक् च । रोगात् । पापात् ॥

---

१ खाउओ अर्थात् खा जाने वाले ॥ सम्पा० ॥

२ अदेस्त्रिनिश्च (उ० ४ । ६८) इस सूत्र से 'त्रिनू' हुआ है ॥ सम्पा० ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

देवैः । दत्तेन । मणिना । जङ्गिडेन । मयःऽभुवा ।
विऽस्कन्धम् । सर्वा । रक्षांसि । विऽआयामे । सहामहे ॥ ४ ॥

भषार्थः—(देवै) विद्वानो के (दत्तेन) दिये हुये [उपदेश किये हुये] (मणिना) मणि [अति श्रेष्ठ] (मयोभुवा) आनन्द के देने हारे (जङ्गिडेन) रोगो के भक्षक [परमेश्वर वा औषध] द्वारा (विष्कन्धम्) विघ्न और (सर्वा = सर्वाणि) सब (रक्षासि) राक्षसो को (व्यायामे) सग्राम मे (सहामहे) हम दबावे ॥ ४ ॥

भावार्थः- मनुष्यो को योग्य है कि विद्वानो के सत्सग से दुख नाशक परमेश्वर के उपकारो पर दृष्टि करके पुरुषार्थ के साथ पथ्य द्रव्यो का सेवन करके विघ्नकारी दुष्ट जीवो पापो और रोगो को हटाकर सदा आनन्द मे रहे ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादुभि रक्षताम् ।
अरण्यादुन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

शणः । च । मा । जङ्गिडः । च । विऽस्कन्धात् । अभि । रक्षताम् ।
अरण्यात् । अन्यः । आऽभृतः । कृष्याः । अन्यः । रसेभ्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(च) निश्चय करके (शण) आत्मदान वा उद्योग (च) और (जङ्गिड) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध दोनो, (मा) मुझको (विष्क-

---

४----**देवैः** । विद्वद्भिः । **दत्तेन** । दीयते इति । दा—क्त । कृतदानेन । उपदिष्टेन । **मयोभुवा** । द्र० अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयित्रा, उत्पादकेन । **व्यायामे** । वि+आङ्+यम परिवेषणे—घञ् । मल्लक्रीडाप्रदेशे । सग्रामे । **सहामहे** । अभिभवाम । अन्यद् व्याख्यातम्, म० १ ॥

५----**शणः** । शण दाने, गतौ—पचाद्यच् । दानम् । आत्मसमर्पणम् । गतिः ।

न्धात्) विघ्न से (अभि) सर्वथा (रक्षताम्) बचावे । (अन्य) एक (अरण्यात्) तप के साधन वा विद्याभ्यास से और (अन्य.) दूसरा (कृष्या) कर्षण अर्थात् खोजने से (रसेभ्य) रसो अर्थात् पराक्रमो वा आनन्दो के लिये (आभृत·) लाया जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ :—आत्मदानी, उद्योगी, पथसेवी और परमेश्वर के विश्वासी पुरुष अपनी और सबकी रक्षा कर सकते है। वही योगी जन तपश्चर्या, विद्याभ्यास, और खोज करने से आत्मदान [ध्यानशक्ति] और परमेश्वर मे श्रद्धा प्राप्त करके अनेक सामर्थ्य और आनन्द का अनुभव करते है ॥ ५ ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्राण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

कृत्याऽदूषिः । अयम् । मणिः । अथो इति । अरातिऽदूषिः । अथो इति । सहस्वान् । जङ्गिडः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ : - (अयम्) यह (मणि) प्रशसनीय पदार्थ (कृत्यादूषि) पीडा देने हारी विरुद्ध क्रियाओ मे दोष लगाने वाला (अथो) और भी (अरातिदूषि)

उद्योग· । **जङ्गिडः** म० १ । पापभक्षक परमेश्वर । औषधम् । **अभि** । अभित, सर्वत । **रक्षताम्** । उभौ पालयताम् । **अरण्यात्** । **अर्त्तेर्निच्च** । (उ० ३ । १०२) इति ऋ गतौ अन्यप्रत्यय । ऋच्छन्ति गच्छन्ति तपस्विनो यत्र । यद्वा **अघ्न्यादयश्च** (उ० ४ । ११२) इति नञ्+रम-यत् । अरमण शरीरश्रमो यत्र । तप साधनात् विद्याभ्यासात् **अन्यः । माछाषसिभ्यो यः** (उ० ४ । १०९) इति अन[1] जीवने-य एकतर । **आभृतः** । अ० १ । ६ । ४ । हृस्य भ । आहृत । आनीत । **कृष्याः । इगुपधात् कित्** (उ० ४ । १२०) इति कृष वि खने-इन्, स च कित् । कर्षणात् । अनुसन्धानात् । अन्वेषणात् । **रसेभ्यः । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (पा० ३ । ३ । ११८) इति रस आस्वादे, स्नेहे-घ । रस्यते अनुभूयत इति रस । रसाना वीर्याणा प्राप्तये । अथवा । आनन्दानामनुभवाय ॥

६----**कृत्यादूषिः । विभाषा कृवृषोः** (पा ३ । १ । १२०) इति कृञ्

---

१ बाहुलक का आश्रयण करके यहाँ भी 'अन' धातु से य प्रत्यय जानना चाहिये ॥

अदानशीलो [कजूसो] मे दोष लगाने वाला है । (अथो) और भी (सहस्वान्) वही महाबली (जङ्गिड) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध (न) हमारे (आयूषि) जीवनो को (प्र तारिषत्) बढती वाला करे ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो कुचाली मनुष्य विरुद्ध मार्ग मे चलते और सत्य पुरुषार्थो मे आत्मदान अर्थात् ध्यान नही करते, वे ईश्वरीय नियम से महा दु ख उठाते है । सत्य पराक्रमी और पथ्य सेवी पुरुष उस महाबली परमेश्वर के गुणो के अनुभव से अपने जीवन को बढाते है, अर्थात् ससार मे अनेक प्रकार से उन्नति करके आनन्द भोगते और अपना जन्म सफल करते है ॥ ६ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । १—३ अनुष्टुप् , ४—७ त्रिष्टुप्छन्दः ।

मनुष्य सदैवोन्नतिप्रयत्न कुर्यात्—मनुष्य सदैव उन्नति का उपाय करता रहे ॥

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥

इन्द्र । जुषस्व । प्र । वह । आ । याहि । शूर । हरिऽभ्याम् ।
पिब । सुतस्य । मतेः । इह । मधोः । चकानः । चारुः । मदाय ॥१॥

भाषार्थ :—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो,

---

हिसायाम्—क्यप् तुक् च, टाप् च **अच इः** (उ० ४ । १३९) दुष वैकृत्ये-ण्यन्तात् इप्रत्यय । कृत्याया । हिसाया दूषको निवारकः । **अथो** । **ओत्** (पा० १ । १ । १५) इति प्रगृह्यत्वात् सन्धिनिषेध । अपि च । **अरातिदूषिः** । अराति । अ० १ । २ । २ । न+रा दाने-क्तिच् । आरातयोऽदानकर्माणो वादानप्रज्ञा वा—निरु० ३ । ११ । दूषि । इति गतम् । अदातॄणा कृपणाना शत्रूणा दूषको नाशक । **आयूंषि** । अ० १ । ३० । ३ । जीवनानि । **प्र+तारिषत्** । प्र पूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थं । लेट् । **सिब् बहुलं लेटि** (पा० ३ । १ । ३४ ।) इति सिप् । सिपो णिद्वद्भावाद् वृद्धि । **लेटोऽडाटौ** (पा० ३ । ४ । ९४) आडागमः । **इतश्च लोपः परस्मैपदेषु** (पा० ३ । ४ । ९७) इकारलोप । प्रवर्धयेत् ॥

१----**इन्द्र** । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये-रन् हे परमैश्वर्यवन् राजन् ?

(प्र वह) आगे बढ, (शूर) हे शूर ! (हरिभ्याम्) हरणशील दिन और रात अथवा प्राण और अपान के हित के लिये (आ याहि) तू आ। (चारु) मनोहर स्वभाव वाला (मदाय) हर्ष के लिये (चकान) तृप्त होता हुआ तू, (इह) यहाँ पर (मते) बुद्धिमान् पुरुष के (सुतस्य) निचोड के (मधो) मधुर रसका (पिब) पानकर ॥१॥

भावार्थः—राजा को योग्य है कि सदा प्रसन्न रहकर उन्नति करे और करावे, और सब के (हरिभ्याम) दिन और रात अर्थात् समय को यद्वा प्राण और अपान वायु अर्थात् जीवन को परोपकार मे लगावे और बुद्धिमानो के ज्ञान के साराश [निचोड़] के रस का ग्रहण करके आनन्द भोगे ॥१॥

म० १—३, सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक ३, अर्धप्रपाठक १ तृच २२ मे कुछ भेद से है ॥

इन्द्रं जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।

अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

इन्द्रं । जठरं । नव्यः । न । पृणस्व । मधोः । दिवः । न । अस्य । सुतस्य । स्वः । न । उप । त्वा । मदाः । सुऽवाचः । अगुः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (नव्य) नवीन [बहुत तृषित] के (न)

मनुष्य। **जुषस्व** । जुषी प्रीतिसेवनयो—लोट । प्रीयस्व । हृष्टो भव । **प्रवह** । प्रगच्छ । **शूर** । **शुसिचिमीनां दीर्घश्च** (उ० २ । २५) इति शु गतौ-क्रन्। शवति वीर्य प्राप्नोतीति । यद्वा, शूर विक्रमे उद्यमे-अच् । हे वीर । **हरिभ्याम्** । **हृपिषिरुहिवृति०** (उ० । ४ ११९) इति हृञ् हरणे-इन् । हरण प्रापण स्वीकारः स्तेय नाशन च । हरतीति हरि सूर्य चन्द्र वायु, इति कोषे । द्विवचनत्वात् सूर्यचन्द्राभ्याम् तयोरुपलक्षितदिनरात्रिहिताय । अथवा, वायुभ्याम् प्राणापानाभ्या तयोरुपलक्षितजीवनहिताय । हरिभ्या हरणसाधनाभ्यामहो रात्राभ्या कृष्णशुक्लपक्षाभ्याम्—इति श्रीमद्दयानन्दभाष्ये, ऋ० १ । ३५ । ३ । **सुतस्य** । षुञ् अभिषवे, यद्वा षु प्रसवैश्वर्ययो —क्त । अभिषवस्य, सारस्य ऐश्वर्यस्य । **मतेः** । **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (पा० ३।३।१७४) इति मन् बोधे-क्तिच् । मतय मेधाविनामसु—निघ० ३ । १५ । मेधाविन पुरुषस्य । **मधोः** । मधुररसस्य । **चकानः** । चक तृप्तौ—शानच् । तृप्तिकाम । **चारुः** । **दसनि-जनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्** (उ० १ । ३) इति चर गतौ—ञुण् । शोभनस्वभाव, मनोज्ञ ॥

२----**जठरम्** । जायते गर्भो मल वा अस्मिन्निति जठरम् । **जनेररष्ठ च** (उ०

समान, (दिव) स्वर्ग के (न) सदृश (मधो) मधुर रस से (जठरम्) अपने उदर को (पृणस्व) तृप्त कर । (अस्य) इस (सुतस्य) निचोड [तत्त्व] के (सुवाच) सुन्दर वाणियो से युक्त (मदा) आनन्द (स्वर्) स्वर्ग ये (न) जैसे [वर्त्तमान] (त्वा) तुझको (उप अगु) उपस्थित हुये है ।। ३ ।।

भावार्थः----राजा विद्वानो के साथ सभाषण करके बडी प्रीति से नीति का साराश ग्रहण करके आनन्द प्राप्त करे ।। २ ।।

इस मन्त्र मे तीनो 'न' सदृशता वाची है और मन्त्र ३ मे दोनो 'न' है ।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥ ३ ॥

इन्द्रः । तुराषाट् । मित्रः । वृत्रम् । यः । जघान । यतीः । न ।
बिभेद । वलम् । भृगुः । न । ससहे । शत्रून् । मदे । सोमस्य ।। ३ ।।

भाषार्थः----(यती) यति [यत्नशील] पुरुष के (न) समान (य)

---

५ । ३८) इति जन जननप्रादुर्भावयो [२]—अर, नस्य ठ । अथवा, जटति एकत्री भवति अन्नादिकमत्र । जट सहतौ–अर, टस्य ठ । उदरम् । **नव्यः** । नूयते स्तूयत इति । **अचो यत्** (पा० ३ । १ । ९७) इति णु स्तुतौ–यत् । यद्वा, नव एव । स्वार्थे यत् । नूतन । स्तुत्य । **न** । उपमार्थे । अग्निर्न ये भ्राजसा, अग्निरिव (निरु० ३ । १५) इव यथा । **पृणस्व** । पृण तृप्तीकरणे । तर्पय । पूरय । **मधोः** । तृतीयार्थे षष्ठी । मधुररसेन । **दिवः** । स्वर्गस्य । अत्यानन्दस्य । **सुतस्य** । म० १ । तत्त्वस्य । **स्वर्** । अव्यय व्याहृतिविशेषश्च । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** । (पा० ३ । २ । ७५) इति सु+ऋ गतौ–विच् । यद्वा । स्वृ शब्दोपतापयो —विच् । स्वरादित्यो भवति सु अरण सु ईरण स्वृतो रसान् स्वृतो भास ज्योतिषा स्वृतो भासेति वा–(निरु० २ । १४) स्वर्गे आनन्दविशेषे वर्त्तमानम् । **मदाः** । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु–अच् । आमोदा । हर्षा । **सुवाचः** । शोभना वाचा येषा ते । शोभनस्तुतियुक्ता । **अगुः** । इण् गतौ–लुङ् । **इणो गा लुङि** (पा० २ । ४ । ४५) गतवन्त । प्राप्तवन्त ।।

३----तुराषात् । तुतोर्त्ति वेगेन गच्छतीति तुर, वेगवान् । तुर वेगे–क ।

---

१ औन्ध से छपे अथर्ववेद की मूल प्रति मे 'वल' एव 'बल' दो पाठान्तर दिखाये हैं । 'बल' पाठ मानकर ही यहाँ व्याकरणप्रक्रिया लिखी है ।। सम्पा० ।।

२ पृ० १८२ की टिप्पणी सं० २ देखे ।। सम्पा० ।।

जिस (तुराषाट्) शीघ्र जीतने वाले, (मित्र) सब के प्रेरक (इन्द्र) प्रतापी राजा ने (वृत्रम्) अन्धकार वा डाकू को (जघान) नाश किया था। (भृगु) ज्ञान मे परिपक्व ऋषि के (न) सदृश उस ने (वलम्) हिंसक दैत्य को (बिभेद) तोड फोड डाला और (सोमस्य) अपने ऐश्वर्य [ठाट] के (मदे) मद मे (शत्रून्) शत्रुओ को (ससहे) हराया था ॥ ३ ॥

भावार्थ :—महा प्रतापी राजा बडे बडे यत्न वाले और बुद्धिनिपुण वीरो का अनुकरण करके विरोधी शत्रुओ और अज्ञान का नाश करके प्रजा को आनन्द देते और आप आनन्द पाते है ॥ ३ ॥

यती पद के स्थान मे सामवेद मे उपरोक्त स्थल पर 'यति.' पद है ॥

अथवा, घञर्थे भावे क:। वेग । तुर वेगवन्त शत्रु वेगेन सहते अभिभवतीति तुराषाट् । तुर+षह अभिभवे, णिच्—क्विप् । **सहेः साडः सः** (पा० ८।३।५६) इति षत्वम् । **अन्येषामपि दृश्यते** (पा० ६ । ३ । १३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घ । शीघ्र शत्रूणामभिभविता। **मित्रः** । अ० १ । ३ । २ । स्नेहवान् । अन्धकारस्य क्षेपको नाशक । **वृत्रम्** । अ० १ । २१ । १ । वृतु वर्त्तने—रक् । यद्वा, वृञ्—क्त (उ० ४ । १६४) तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका — निरु० २ । १६ । त्वाष्ट्र =त्वष्टु सूर्याज्जात । अन्धकारम् । शत्रुम् । **जघान** । हतवान् । **यतीः** । **अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः** (उ० ३ । १५८) इति यती प्रयत्ने—ईप्रत्यय । प्रयत्नवान् । तापस । यति । **बिभेद** । भिन्नवान् । **वलम्** । **वल[1] दाने बधे जीवने च--अच्** । हिसक दैत्यम् । **भृगुः** । तपसा भृज्यते । **प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारण सलोपश्च** (उ० १ । २८) इति भ्रस्ज पाके—कु न्यङ्क्वादित्वात् कुत्व च । परिपक्व । ज्ञानपरिपक्व ऋषि । मुनि । **ससहे** । षह अभिभवे—लिट् । अभिभूतवान् जितवान् **शत्रून्** । **रुशातिभ्यां क्रुन्** (उ० ४ । १०३) इति शाति क्रुन् । शति सौत्रो धातुर्हिंसार्थ —इति सायण , ऋ० १ । ५ । ४ इति शत शाते=पतने पातने—क्रुन् । नित्त्वादाद्युदात्त । शातकान्, निपातकान् । रिपून् । **सोमस्य** । **अर्त्तिस्तुसुहुसृधृ०** (उ० १ । १४०) इति प्रसवैश्वर्ययो — मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोम । ऐश्वर्यस्य ॥

---

१ धातुपाठ मे 'बल दाने बधे जीवने च' ऐसा कही नही पढा है। धातुओ के अर्थो मे धातुपाठनिर्दिष्ट अर्थों के अनुसार जो इस ग्रन्थ मे प्रायेण विभेद सा दीखता है, उससे पता चलता है कि भाष्यकार ने धातुओ के अर्थ केवल धातुपाठ के अनुसार ही नही किन्तु विभिन्न कोशो एव आर्षग्रन्थो के आधार पर भी दिये है। प्रकृत मे बल का अर्थ आप्टे कोष के आधार पर है। निरुक्त मे 'बल' (निरु० ६ । २) शब्द वृञ् वरणे से बनाया है, जिसका अर्थ है मेघ ।। सम्पा० ॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥४॥

आ। त्वा। विशन्तु। सुतासः। इन्द्र। पृणस्व। कुक्षी इति। विड्ढि। शक्र। धिया। इहि। आ। नः। श्रुधि। हवम्। गिरः। मे। जुषस्व। आ। इन्द्र। स्वयुक्ऽभिः। मत्स्व। इह। महे। रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (सुतासः) यह निचोडे हुये रस (त्वा) तुझमे (आ) यथाविधि (विशन्तु) प्रवेश करे, (कुक्षी) दोनो कुक्षियो को (पृणस्व) तू भर और (विड्ढि = विध) शासन कर (शक) हे शक्तिमान् (धिया) [अपनी अनुग्रह] बुद्धि मे (न) हमारे पास (आ+इहि=एहि) आ। (हवम्) पुकार (श्रुधि) सुन, (इन्द्र) हे राजन् ! (मे) मेरी (गिर) वाणियो को (जुषस्व) स्वीकार कर, और (स्वयुग्भि) अपनी युक्तियो से (इह) यहा पर (महे) बडे (रणाय) रण [जीतने] के लिये (आ) यथा-नियम (मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

४—**आ + विशन्तु**। प्रविशन्तु। **सुतासः**। षुञ् अभिषवे—क्त। **आज्जसेरसुक्** (पा० ७। १। ५०) अभिषुता सोमा। **पृणस्व**। म० २। तर्पय। **कुक्षी**। **प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः** (उ० ३। १५५) इति कुष निष्कर्षे—क्सि। दक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयम्। आत्मानमित्यर्थ **विड्ढि**। विध दिधाने=शासने तुदादि। लोटि छान्दस शविकरणस्य लुक्। हेर्ध्यादिशे ढत्वष्टुत्वजश्त्वानि। त्व विध विधान शासन कुरु। **शक्र**। **स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०** (उ० २। १३) इति शक्लृ शक्तौ—रक्। शक्नोतीति। हे शक्तिमन्। हे समर्थ। **धिया**। ध्यै चिन्तने—क्विप्। सम्प्रसारण च। धी, कर्मनाम निघ० २। १। प्रज्ञानाम—निघ० ३। ६। प्रज्ञया। बुद्धचा। **श्रुधि**। श्रु श्रवणे। विकरणस्य लुक्। **श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि** (पा० ६। ४। १०२) इतिहेर्धिरादेश। **अन्येषामपि दृश्यते** (पा० ६। ३। १३७) इति साहितिको दीर्घ। शृणु। **हवम्**। अ० १। १५। २। ह्वेञ्

भावार्थः—राजा अनेक श्रेष्ठ विद्याओ के रस से अपने आत्मा को सन्तुष्ट करे, और न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रुओ को जीतकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सायणभाष्य मे 'विड्ढि' के स्थान मे ('वृड्ढि' वर्धय) है ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्रा वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री ।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥ ५ ॥

इन्द्र॑स्य । नु । प्र । वो॒च॒म् । वी॒र्या॑णि । यानि॑ । च॒कार॑ । प्र॒थ॒मानि॑ । व॒ज्री । अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणाः॑ । अ॒भि॒न॒त् । पर्व॑तानाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले पुरुष के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मै कहू (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध, अथवा प्रथम श्रेणी के अति श्रेष्ठ कर्मो को (वज्री) उस वज्रधारी पुरुष ने (चकार) किया था, [अर्थात्] (अहिम्) सर्प के समान [हनन करने वाले], अथवा,

आह्वाने-अप् । आह्वानम्, आवाहनम् । **गिरः** । गॄ शब्दे—क्विप् । गृणाति = अर्चति निघ० ३ । १४ । **वाचः** । वाक्यानि । **जुषस्व** । सेवस्व, स्वीकुरु । **स्वयुग्भिः** । स्व + युजिर् समाधौ, यद्वा, युज सयमने—क्विप् । युज्यते समाधत्ते, यद्वा, योजयति नियमयतीति युक् । स्वयुक्तिभि । आत्मीयै समाधिमद्भि संयोगवद्भिर्वा मित्रै । **मत्स्व** । मदी हर्षे । छान्दसम् आत्मनेपदम् । **हृष्टो भव** । **महे** । मह पूजाया—क्विप् । महते । **रणाय** । रमणाय । आनन्दाय । यद्वा । युद्धजयाय ॥

५—इन्द्रस्य । ऐश्वर्यवत पुरुषस्य । **नु** । क्षिप्रम्—निघ० २ । १५ । **प्रा** । **निपातस्य च** (पा० ६ । ३ । १३६) इति दीर्घ । ऋग्वेदे[१] तु (प्र) इति पाठ । प्रकर्षेण । **वोचम्** । वच्, यद्वा ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि । आशीर्लिङि छान्दस रूपम् । अहम् उच्यासम् । **वीर्याणि** । अ० १ । ७ । ५ । वीरकर्माणि । पराक्रमान् । **प्रथमानि** । द्र० अ० १ । १२ । १ । प्रथितानि, प्रख्यातानि, सुप्रसिद्धानि, अन्यैः पूर्वकृतानि । **वज्री** । **ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०** (उ० २ । २८) इति वज गतौ—रन् प्रत्ययान्तो निपात्यते । **अत इनिठनौ** (पा० ५ । २ । ११५) इति वज्र-इनि । वज्रविशिष्ट । कुलिशयुक्त ।

१, ऋ० १ । ३२ । १

बादल के समान [प्रकाश रोकने वाले] हिंसक जन को (अहन्) उसने मार डाला, (अनु) अनुक्रम से (अप) [उस दुष्ट के] कर्म का (ततर्द) अपमान किया, और (पर्वतानाम्) मेघो के समान [अन्धकार से छाये हुए] अथवा पहाडो के समान [दृढ स्वभाव वाले] दुराचारियो की, अथवा पहाडो में गुप्त (वक्षणा) रुष्ट वा क्रुद्ध सेनाओ को (प्र) सर्वथा (अभिनत्) छिन्न भिन्न कर दिया ।। ५ ।।

भावार्थः—मनुष्य पूर्व कालीन (इन्द्र) प्रतापी और (वज्री) तेजस्वी नीति कुशल पुरुषो का यश कीर्तन इतिहास द्वारा करे, और उनका अनुकरण करके कुरीतियो के त्याग और सुरीतियो के प्रचार से आनन्द भोगे ।। ५ ।।

मन्त्र ५ एव ७ क्रमश ऋग्वेद म० १ सू० ३२ म० १–३ मे आये है ।।

यहाँ 'प्रा' के स्थान पर ऋग्वेद मे 'प्र' है।

ईसाइयो की नवीन धर्म पुस्तक "New Testament" मत्ती पर्व १२ वाक्य ३४ मे "साप"—बुरे पुरुष के लिये आया है। "हे साँपो के वश ! तुम बुरे हो के अच्छी बाते क्योकर कह सकते हो क्योकि जो मन मे भरा है उसी को मुह से बोलता है" ।।

दण्डवान्। **अहन्**। हन हिंसागत्यो—लङ। हतवान्। **अहिम्**। **आङि-श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च** (उ० ४। १३८) इति आङ+हन हिंसागत्योः—इण्, स च डित्। आङो ह्रस्वत्वम्। धार्मिकाणाम् आहन्तारम्। सर्पम्। सर्पवत् क्लेश-प्रदम्। अहि, मेघनाम—निघ० १। १०। मेघवत् प्रकाशनिरोधक पुरुषम्। **अनु**। अनुक्रमेण। **अपः**। **आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा** (उ० ४। २०८) इति आप्लृ व्याप्तौ—असुन्। कर्मनाम—निघ० २। १। तस्य अहेर्दुष्टकर्म, इत्यर्थ। **ततर्द**। उतृदिर् हिंसानादरयो—लिट्। जिहिंस। अनादृतवान्। तिरस्कृतवान्। **वक्षणाः**। **क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च** (पा० ३। २। १५१) इति वक्ष रोषे-युच्। चितस्वर बाधित्वा प्रत्ययस्वर। रुष्टा क्रुद्धा सेना। **प्र अभिनत्**। भिदिर् विदारणे—लङ्। भिन्नवान्। विदारितवान्। **पर्वतानाम्**। **भृमृदृशियजिपर्वि०** (उ०। ३। ११०) इति पर्व पूरणे—अतच्। पर्वति पूरयतीति पर्वत। यद्वा, **स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्** (उ० ४। ११३) इति पॄ पालन-पूरणयो—वनिप्। पृणन्ति पालयन्ति अवयविनमिति पर्वाणि।[1] **तत् पर्वमरु-**

---

१ वार्तिकस्थ 'तत्' के नित् पाठ को नागेश ने अपपाठ माना है। (द्र बृहच्छ पृ १४८५) वस्तुत 'तप्' पाठ ही यहाँ उचित है। तप् करने पर "नब्विषयस्यानि०" (फिट् १। २६) से आद्युदात्त पर्वत शब्द हो ही जायेगा ।। सम्पा० ।।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रम् । स्वर्यम् । ततक्ष । वाश्राःऽइव । धेनवः । स्यन्दमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अव । जग्मुः । आपः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी] पुरुष ने (पर्वते) बादल [के समान प्रकाश रोकने वाले जन समूह] मे, अथवा पहाड पर (शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (अहिम्) सर्परूप वा मेघरूप [हिसक वा प्रकाश रोकने वाले] को (अहन्) वध किया, (अस्मै) इस [प्रयोजन] के लिये (स्वर्यम्) ताप वा पीडा देने वाला (वज्रम्) वज्र (ततक्ष) उसने तीक्ष्ण किया। (वाश्रा) रभाती हुयी (धेनव इव) गौओ के समान, (स्यन्दमाना) वेग से बहते हुये (अञ्ज) प्रकट (आप) जल [जलरूप प्रजा गण] (समुद्रम्) समुद्र मे [राजा के पास] (अव) उतर कर (जग्मु) पहुच गये ॥ ६ ॥

दृभ्यां वक्तव्यः (वा० पा० ५ । २ । १२२) इति पर्व-तन् मत्वर्थे। पर्वत , मेघनाम निघ० १ । १० । मेघवद् अन्धकारस्य वर्धकानाम् । यद्वा । शैलवद् दृढस्वभावान् । यद्वा । शैलाना मध्ये स्थितानाम् ।

६—**अहन्** । म० ५ । हतवान् । **अहिम्** । म० ५ । सर्वतो हननशीलम्, सर्पवत् हिसकम्, मेघवत् प्रकाशनिरोधक पुरुषम् । **पर्वते** । म० ५ । जातावेकवचनम् । पर्वतेषु । मेघसमानान्धकारवर्धकेषु पुरुषेषु । यद्वा, शैल प्रदेशे स्थितम् । **शिश्रियाणम्** । श्रिञ् सेवाया–लिट कानच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्त । आश्रितम् । **त्वष्टा** । त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वास्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्याद् करोतिकर्मण –निरु० ८ । १४ । **नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ०** (उ० २ । ९५) इति त्वक्षू तनूकरणे–तृन् । नित्त्वाद् आद्युदात्त । व्यवहाराणा तनूकर्त्ता, सूक्ष्मदर्शी, विश्वकर्मा, इन्द्र पुरुष । **अस्मै** । अस्मै प्रयोजनाय । अहेर्हननायेत्यर्थ । **वज्रम्** । म० ५ । कुलिशम् । **स्वर्यम्** । **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (पा० ३ । ३ । ११८) इति, स्वृ शब्दोपतापयो —घ । यद्वा **नन्दिग्रहिपचादि०** (पा० ३ । १ । १३४) इति स्वर आक्षेपे–अच् । ततः । **तत्र साधुः** (पा० ४ । ४ । ९८) इति यत् । स्वरे उपतापे पीडने यद्वा, शत्रूणाम् आक्षेपे । तिरस्करणे साधु योग्यम् । **ततक्ष** । तक्षू तनूकरणे–लिट् । तनूकृतवान् । तीक्ष्ण

भावार्थः—पूर्वज विवेकी राजाओ ने दण्ड व्यवस्था स्थापन करके अपने प्रकट और गुप्त शत्रुओ को मारा, तब प्रजा गण प्रसन्न होकर उस हितकारी राजा को अभिनन्दन देने गये, जैसे रंभाती हुयी गौयें बछडो के पास, अथवा वृष्टि के जल एकत्र होकर समुद्र मे दौड कर जाते है। इसी प्रकार सब राजा और प्रजा गण परस्पर रहकर आनन्द मनाते रहे ॥ ६ ॥

मनु महाराज ने भी कहा है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः ॥७।१८॥

दण्ड ही सब प्रजा पर शासन रखता, दण्ड ही सब ओर से रक्षा करता, दण्ड ही सोते हुओ मे जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते है ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥७॥

वृषऽयमानः । अवृणीत । सोमम् । त्रिऽकद्रुकेषु । अपिबत् । सुतस्य । आ । सायकम् । मघऽवा । अदत्त । वज्रम् । अहन् । एनम् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(वृषायमाण) ऐश्वर्यवाले के समान आचरण करते हुये पुरुष

चकार। **वाश्राः । स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०** (उ० २ । १३) इति वाशृ शब्दे—रक् । शब्दायमाना । वत्सान् प्रति हंभारवयुक्ता । **धेनवः । धेट इच्च** (उ० ३ । ३४) इति धेट् पाने—नु । नवप्रसूता गाव । **स्यन्दमानाः** । स्यन्दू प्रस्रवणे—लट शानच् । प्रस्रवन्त्य प्रवहन्त्य । **अञ्जः** । अञ्जू व्यक्तिगति-म्रक्षणेषु—क्विप् । व्यक्ता. । गमनशीला । **समुद्रम्** । द्र० अ० १ । १३ । ३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने—रक् । जलाधारम् । सागरम् । अन्तरिक्षम् । **अव** । नीचै । अधस्तात् । अनायासेन । **जग्मुः** । गम्लृ—लिट् । प्रापु । **आपः** । द्र० अ० १ । ५ । १ । जलानि ॥

७—वृषायमाणः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० ३ । १ । १३५) इति

ने (सुतस्य) उत्पन्न ससार के (त्रिकद्रुकेषु) तीन आवाहनो [उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अथवा, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के विधानो] के निमित्तो मे (सोमम्) ऐश्वर्य वा अमृत रस [कीर्त्ति] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया और (अपिबत्) पान किया [आत्मा में दृढ किया]। (मघवा) उस पूजनीय पुरुष ने (सायकम्) काटने वाले बाण वा खड्ग और (वज्रम्) वज्र हथियार को (आ अदत्त) लिया और (अहीनाम्) बडे घातको [प्रकाश नाशक] मेघ वा सर्प रूप असुरो के बीच (प्रथमजाम्) प्रधानता से प्रसिद्ध अर्थात् अग्रगामी (एनम्) इस [समीपस्थ अर्थात् आत्मा में स्थित दुष्ट] को (अहन्) मार डाला ॥

भावार्थः—इस सूक्त के ५–७ तीन मन्त्रो मे (इन्द्र) का (अहि) को मार कर उन्नति करने का वर्णन है और मन्त्र ७ मे (त्रिकद्रुकेषु) पद तीन आवाहनो का द्योतक है। इसका प्रयोजन यह है कि जैसे तपस्वी, धैर्यवान्, शूर वीर पुरुषो ने जितेन्द्रिय वशिष्ठ होकर अपने आत्मिक, कायिक और सामाजिक शत्रु कुक्रोध आदि को मारा, उन्होने ही ससार की वृद्धि, पालन और नाश के कारण को खोजा, और तीन प्रकार की आत्मिक, शारीरिक और

वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु–क । **कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च** (पा० ३ । १ । ११) इति आचारे क्यङ् । **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (पा० ७ । ४ । २५) इति दीर्घ । तत. शानच्। वृष इव ऐश्वर्यवानिवाचरन् पुरुषः। **अवृणीत** । वृञ् सभक्तौ लुङ्। वृतवान्, स्वीकृतवान्। **सोमम्** । अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययो –मन्। ऐश्वर्यम् । अमृतम् । कीर्त्तिम् । **त्रिकद्रुकेषु** । **रुशातिभ्यां क्रुन्** (उ० ४ । १०३) इति त्रि+कदि आह्वाने—क्रुन्। समासान्त कप् च। त्रयाणा ससारोत्पत्ति-स्थितिविनाशानाम्, अथवा, शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीणा कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु निमित्तेषु । **अपिबत्** । पीतवान् । अनुभूतवान्। **सुतस्य** । षु प्रसवैश्वर्ययो –क्त । उत्पन्नस्य ससारस्य। **सायकम्** । स्यति नाशयतीति सायक । **ण्वुल्तृचौ** (पा० ३ । १ । १३३) इति षो अन्तकर्मणि–ण्वुल्, युक् आगम । शत्रूणा घातक बाण खड्गं वा । **मघवा** । मह्यते पूज्यतेऽसौ । **श्वन्नुक्षन्पूषन्०** (उ० १ । १५६) इति मह पूजायाम्—कनिन्। निपातनात् हस्य घः, अवुक् आगमश्च। पूज्य पुरुषः। **आ-अदत्त** । लङि-रूपम्। **आङो दोऽनास्यविहरणे** (पा० १ । ३ । २०) इत्यात्मनेपदम्। अगृह्णात्।

सामाजिक उन्नति करके अमर अर्थात् महाकीर्त्तिमान् हुये, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर ससार मे उन्नति करके कीर्त्ति पाकर अमर हो और आनन्द भोगे ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाक ॥



अथ द्वितीयोऽनुवाकः

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १—४, ५ परार्धस्त्रिष्टुप्, ५ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् ॥

राजधर्मेण मनुष्य प्रतापी तेजस्वी च भूयात्—राजनीति से मनुष्य प्रतापी ओर तेजस्वी होवे ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

समाः । त्वा । अग्ने । ऋतवः । वर्धयन्तु । सम्ऽवत्सराः । ऋषयः । यानि । सत्या । सम् । दिव्येन । दीदिहि । रोचनेन । विश्वाः । आ । भाहि । प्रऽदिशः । चतस्रः ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (समा) अनुकूल (ऋतव) ऋतुये (सवत्सरा) वर्ष, (ऋषय) ऋषि लोग, और (यानि) जो (सत्या = सत्यानि तानि) सत्य कर्म है [वे सब] (त्वा) तुझ को (वर्धयन्तु) बढावे। (दिव्येन) अपनी दिव्य वा मनोहर (रोचनेन) झलक

स्वीकृतवान् । **एनम्** । समीपवर्त्तिनम् आत्मनि स्थितम् । **प्रथमजाम्** । अ० २ । १ । ४ । जन—विट्, आत्त्व च । प्रथमेन प्रधानतया जात प्रसिद्धम् । **अहीनाम्** । म० ५ । आहन्तॄणाम् असुराणा मध्ये । अन्यद् गतमस्मिन्नेव सूक्ते ॥

१—समाः । षम वैक्लव्ये—पचाद्यच् । अविषमा । साधव । अनुकूला । **अग्ने !** हे ज्ञानिन् । अग्निवत्तेजस्विन् । कार्येषु व्यापनशीलो वा । **ऋतवः** । **अर्त्तेश्च तुः** (उ० १ । ७२) इति ऋ गतौ—तु किच्च । वसन्तादिकाला । **वर्धयन्तु** । समर्धयन्तु । **संवत्सराः** । सम्यग्वसन्ति भूतानि यत्र । **संपूर्वाच्चित्** (उ० ३ । ७२) इति सम्+वस निवासे—सरन् । चित्त्वादन्तोदात्त. । द्वादशमा-

से (सम्) भले प्रकार (दीदिहि) प्रकाशमान हो, और (विश्वा) सब (चतस्र) चारो (प्रदिश) महादिशाओ को (आभाहि) प्रकाशमान कर ।। १ ।।

भावार्थः—मनुष्य बडे प्रयत्न से अपने समय को यथावत् उपयोग से अनुकूल बनावे, ऋषि आप्त पुरुषो से मिल कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करे, और सत्यसकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी सदा रहे। इस प्रकार ससार मे उन्नति करे और कीर्त्तिमान् होकर प्रसन्नचित्त रहे ।। १ ।।

१ से ५ तक के मन्त्र यजु० अ० २७ मन्त्र १, ३ ५, ६ मे आये है। और वहाँ इनके ऋषि अग्नि माने है ।।

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥२॥

सम् । च । इध्यस्व । अग्ने । प्र । च । वर्धय । इमम् । उत् । च । तिष्ठ । महते । सौभगाय । मा । ते । रिषन् । उपऽसत्तारः । अग्ने । ब्रह्माणः । ते । यशसः । सन्तु । मा । अन्ये ॥ २ ॥

भाषार्थः—(च) और (अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (सम्) भले

सात्मका काला । वर्षा । **ऋषयः । इगुपधात् कित्** (उ० ४ । १२०) इति ऋषी गतौ दर्शने[1] च–इन् किच्च । ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान् ज्ञानेन पश्यति ससार परमात्मान वा स ऋषि । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु (निरु० १ । २०) ऋषिर्दर्शनात्–(निरु० २ । ११) साक्षात्कृतधमाण । आप्ता । सन्मार्गदर्शका । **सत्या ।** शेर्लोप । सत्यानि । सत्यकर्माणि । **दिव्येन ।** द्र० अ० २ । १ । २ । **छन्दसि च ।** (पा० ५ । १ । ६७) इति दिव् यप्रत्यय । मनोज्ञेन । **दीदिहि । बहुलं छन्दसि** (पा० २।४।७६) दिवु दीप्तौ–शपः श्लु । **तुजादीनां दीर्घो०** (पा० ६ । १ । ७) इत्यभ्यासस्य दीर्घ । दीव्य । दीप्यस्व । **रोचनेन ।** रुच दीप्तौ भावे ल्युट् । दीप्त्या । प्रकाशेन । **भाहि ।** भा दीप्तौ अन्तर्भावितण्यर्थः । भापय । दीपय । **प्रदिशः ।** प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशा ।।

२–इध्यस्व । इन्धी दीप्तौ कर्मकर्तरि यकि । **अनिदिताम्०** (पा० ६ । ४ । २४)

१ धातुपाठ मे 'ऋषी दर्शने' धातु नही है। भाष्यकर्त्ता के इस अर्थ का आधार 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरु० २ । ११) है। द्र० टिप्पणी पृ० २०९ ।। सम्पा० ।।

प्रकार (इध्यस्व) प्रकाशमान हो, (च) और (इमम्) [इस समाज] को (प्र+वर्धय) समृद्ध कर, (च) और (महते) बहुत (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (उत्+तिष्ठ) उठकर खडा हो। (अग्ने) हे विद्वान् (ते) तेरे (उपसत्तार) पास बैठने हारे [उपासक] (मा रिषन्) कभी दुःख न पावे, (ते) तेरे [समीपवर्त्ती] (ब्रह्माण) वेद जानने वाले ब्राह्मण (यशस =यशसा) यशस्वी (सन्तु) होवे, और (अन्ये) दूसरे (मा=मा सन्तु) न होवे ॥

भावार्थः—राजा को योग्य है कि ब्रह्मचर्य से आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, शिल्पविद्या, युद्धविद्या आदि सामान्य और विशेष विद्याओ मे निपुण होकर अपने सभासदो को निपुण करे, और विद्वानो का सत्कार तथा अविद्वानो का तिरस्कार करता हुआ सदा आनन्दयुक्त रहे ॥ २ ॥

यजुर्वेद मे (वर्धय, इमम्) के स्थान मे [बोधय एनम्] और (ते, रिषन्, उपसत्तार) के स्थान मे [च, रिषत उपसत्ता] पाठ है ॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः ।
स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥३॥

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । वृ॒ण॒ते॒ । ब्रा॒ह्म॒णाः । इ॒मे । शि॒वः । अ॒ग्ने॒ । स॒म्ऽवर॑णे । भ॒व॒ । नः॒ । स॒प॒त्न॒ऽहा । अ॒ग्ने॒ । अ॒भि॒मा॒ति॒ऽजित् । भ॒व॒ । स्वे । गये॑ । जा॒गृ॒हि॒ । अप्र॑ऽयुच्छन् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी राजन्! (इमे) ये (ब्राह्मणा) वेदवेत्ता

इति नलोप । इन्त्स्व । दीप्यस्व । **वर्धय** । समर्धय । **इमम्** । समीपस्थ जनम् । **उत्-तिष्ठ** । उत्साहवान् सन्नद्धो भव । **महते** । महि वृद्धौ, दीप्तौ-अति[1] । विपुलाय । **सौभगाय** । भग =धनम्-निघ० २ । १० । सु+भग-भावे अण् । सौभगत्वाय । उत्तमैश्वर्याय । **मा रिषन्** । रिष हिंसायाम् । कर्मण्यर्थे । मा दुःखिता भवन्तु । **उपसत्तारः** । **ण्वुल्तृचौ** (पा० ३ । १ । १३३) इति उप+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-तृच् । उपसदनशीला, उपासका । सेवका **ब्रह्माणः** । **बृंहेर्नोऽच्च** (उ० ४ । १४६) इति बृ हि वृद्धौ-मनिन् । नस्य अकार । वेदवेत्तार । ब्राह्मणा । **यशसः** । **अर्शआदिभ्योऽच्** (पा० ५ । २ । १२७) इति यशस्-अच् मत्वर्थे । **सुपां सुलुक्**० (पा० ७ । १ । ३९) इत्येकवचन बहुवचने यशसा । यशस्विन ।

३—वृणते । वृञ् सभक्तौ । सभजन्ते । स्वीकुर्वन्ति । **ब्राह्मणाः** ।

---

१. वर्त्तमाने पृषद्० (उ० २ । ८४) से अति प्रत्यय हुआ है । सम्पा० ॥

विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (वृणते) चुनते है, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्। (न) हमारे (सवरणे) चुनाव मे (शिव) मगलकारी (भव) हो। (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (सपत्नहा) वैरियो का नाश करने वाला और (अभिमातिजित्) अभिमानियो का जीतने वाला (भव) हो, और (स्वे) अपने (गये) सन्तान पर 'वा धन पर' वा घर अर्थात् अधिकार मे (अप्रयुच्छन्) चूक न करता हुआ, (जागृहि) जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थः---वेदवेत्ता चतुर सभासद् ऐसे पुरुषार्थी विद्वान् को अपना राजा वा प्रधान बनावे कि जो सब दोषो और दुष्टो को मिटाकर अपने अधिकार को सावधान होकर चलावे जिसमे सब राजा और प्रजा आनन्द युक्त रहे ॥ ३ ॥

यजुर्वेद मे (अग्ने अभिमातिजित् भव) के स्थान मे [नः अभिमातिजित् च] पाठ है ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४॥

क्षत्रेण । अग्ने । स्वेन । सम् । रभस्व । मित्रेण । अग्ने । मित्रऽधाः । यतस्व । सऽजातानाम् । मध्यमेऽस्थाः । राज्ञाम् । अग्ने । विऽहव्यः । दीदिहि । इह ॥ ४ ॥

भाषार्थः----(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत्रिय

ब्रह्म वेद परमेश्वरो वा। ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण । **तदधीते तद्वेद** (पा० ४। २। ५९) इति ब्रह्म-अण्। वेदविद, ब्रह्मज्ञानिन । **शिवः**। **सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिव०** (उ० १। १५३) इति शीङ् शयने, अथवा शिञ् छेदने-वन्। निपातनात् साधु । शेरते शुभगुणा यत्र, यद्वा, शिनोति छिनत्ति दु खानि य । मङ्गलकारी। **सवरणे**। सहवरणे। सम्यक स्वीकरणे। **भवा**। भव। **द्व्यचोऽतस्तिङः** (पा० ६। ३। १३५) इति दीर्घ । **सपत्नहा**। अ० १। २९। ५। शत्रुहन्ता। **अभिमातिजित्**। अभि+मा माने कर्त्तरि क्तिच्+जि क्विप् तुक्। अभिमानिना जेता। **गये**। **अघ्न्यादयश्च** (उ० ४। ११२) इति गम्लृ गतौ गाङ् गतौ वा गै शब्दे-यक्। गच्छति पितृवश गीयते वा। गय =अपत्यम्—निघ० २। २। धनम्-निघ० २। १०। गृहम्-निघ० ३। ४। अपत्ये। धने। गृहे, पदे, अधिकारे। **जागृहि**। प्रबुद्धो भव। **अप्रयुच्छन्**। युच्छ प्रमादे--शतृ। अप्रमाद्यन्। सावधानो भवन् ॥

४-**क्षत्रेण**। **गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः** (उ० ४। १६७) इति क्षद

धर्म वा धन के साथ (सरभस्व) उत्साह कर, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधा) मित्रो का पुष्ट करने वाला होकर (यतस्व) प्रयत्न कर। और (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (सजातानाम्) तुल्य जन्म वालो के बीच (मध्यमेष्ठा) पचो मे बैठने वाला, और (राज्ञाम्) क्षत्रियो के बीच मे (विहव्य) विशेष करके आवाहन योग्य होकर (इह) यहा पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो ॥ ४ ॥

भावार्थः—नीति कुशल राजा धर्म कार्यो मे स्फूर्ति रखे, और हितकारियो के साथ हित करे और सदैव न्याययुक्त व्यवहार रखे, जिससे सब छोटे और बडो मे प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढे ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अध्याय २७ म० ५ मे ऐसा पाठ है—

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्था ऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ यजु० २७।५॥

(अग्ने) हे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् विद्वन्! (क्षत्रेण) राज्य वा धन के साथ (स्वायु =सु-आयु) सुन्दर जीवन (सम् रभस्व) अच्छे प्रकार आरम्भ कर। (अग्ने) हे तेजस्विन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधेये) मित्रो के धारण करने मे (यतस्व) यत्न कर। (सजातानाम्) समान अवस्था वालो मे (मध्यमस्था) मध्यस्थ (एधि) हो, अग्ने) हे न्याय प्रकाशक! (राज्ञाम्) राजाओ के बीच (विहव्य +सन्) विशेषकर बुलाने योग्य होकर (इह) यहा पर (दीदिहि) प्रकाशित हो ॥

गतिहिसनयो, रक्षणे च-त्रप्रत्यय । बलेन, क्षत्रियत्वेन, धनेन—निघ० २ । १० । **अग्ने** । तेजस्विन् विद्वन् । **सम्-रभस्व** । रभ राभस्ये=उत्सुकीभावे । सरम्भम् उत्साह कुरु। **मित्रेण** । सुहृद्गणेन । **मित्रधाः** । मित्र+धाञ्-विच्, मित्राणा पोषक सन्। **यतस्व** । यती प्रयत्ने। प्रयत्न कुरु। **सजातानाम्** । समानजन्मनाम् । तुल्यावस्थानाम् । **मध्यमेष्ठाः** । मध्ये भवो मध्यम । **मध्यान्मः** (पा०४। ३।८) इति मध्य—म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—विच्, यद्वा क्विप् । **तत्पुरुषे कृति बहुलम्** (पा०६। ३ । १४) इत्यलुक् । **सुषामादिषु च** (पा० ८।३।९८) इति षत्वम् । मध्यभवेषु न्यायकारिषु प्रधानेषु स्थित । **राज्ञाम्** । ईश्वराणा क्षत्रियाणा मध्ये । **विहव्यः** । **ह्वः सम्प्रसारण च न्यभ्युपविषु** (पा० ३।३।७२) इति ह्वेञ् आह्वाने अप् सप्रसारण च । तत । **भवे छन्दसि** (पा० ४।४।११०) इति यत् विविधमाह्वातव्य । **दीदिहि** । म० १ । दीप्यस्व । **इह** । अत्र ॥

अति निहो अति स्रृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

अति। निहः। अति। सृधः। अति। अचित्तीः। अति। द्विषः। विश्वा। हि। अग्ने। दुःऽइता। तर। त्वम्। अथ। अस्मभ्यम्। सहऽवीरम्। रयिम्। दाः॥ ५॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन्[1] [(अति) अत्यन्त (निह) शत्रुनाशक शूर होकर। अथवा] (निह) नीच गति वालो को (अति = अतीत्व) लाघकर, (सृध) हिसको को (अति) लाघकर, (अचित्ती) पापबुद्धि प्रजाओ को (अति) लाघ कर और (द्विष) द्वेष करने वालो का (अति) तिरस्कार करके, (त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा = विश्वानि) सब (दुरिता = ० -तानि) सकटो को (तर) पारकर, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमे (सहवीरम्) वीर पुरुषो के सहित (रयिम्) धन (दा) दे॥ ५॥

भावार्थः—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशो को हरे, और ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हो॥ ५॥

इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद २७। ६। मे ऐसा है।

अति निहो अतिस्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳसहवीराꣳरयिं दाः। यजु० २७।६॥

(अग्ने) हे तेजस्विन् राजन्! (अति निह) अत्यन्त शूर होकर (स्रिध) दुष्टो को (अति) हटाकर (अचित्तिम्) अज्ञान को (अति) हटाकर, (अरातिम्)

५—**अति**। अतिशयेन। **निहः**। निहन्तीति निह। नि+हन—ड। शत्रुहन्ता। शूर सन्। अग्नेर्विशेषणम्। अथवा। **अति**। अतीत्य। अतिक्रम्य **निहः**। नि+ओहाङ् गतौ-क्विप्। **आतो धातोः** (पा० ६।४।१४०) इति शसि आकारलोप। निकृष्टगतीन् दुष्टान्। **सृधः**। सृधं स्रध वा शोषणे कुत्सितकर्मणि वा-क्विप्। छान्दसो धातुः। देहशोषकान्। कुत्सिताचारान्। **अचित्तीः**। अ+चित्त सचेतने-क्तिन्। अशोभनबुद्धी। शत्रुसेना.।

---

[1] यह धातु धातुपाठ मे नही है। इसका अर्थ भी भाष्यकार ने द० भा० के आधार पर ही लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है। (द्र० यजु० द० भा० २७। ६)। सम्पा०॥

कजूसपन को (अति) हटाकर (विश्वा दुरितानि) सब विघ्नो को (सहस्व) दबा दे, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमे (सहवीराम्) वीरो से युक्त सेना और (रयिम्) धन (दा) दे ॥

१—(सृध) के स्थान पर सायण भाष्य मे (स्रध) पद है ॥

सूक्तम् ७॥

१-५॥ ईश्वरो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।

राजधर्मोपदेश —राजा के धर्म का उपदेश ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

अघऽद्विष्टा । देवऽजाता । वीरुत् । शपथऽयोपनी । आपः ।
मलम्ऽइव । प्र । अनैक्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अघद्विष्टा) पाप मे द्वेष [अप्रीति] करने वाली (देवजाता) विद्वानो मे प्रसिद्ध (वीरुत्) ओषधि [ओषधि के समान फैली हुयी ईश्वर शक्ति] (शपथयोपनी) शाप [क्रोध वचन को] हटाने वाली है ।

अज्ञानानि । **द्विषः** । द्विष—क्विप् । अप्रीतिकरान् । द्वेष्टॄन् । **विश्वा** । विश्वानि सर्वाणि । **दुरिता** । दुर् दुष्टमित गमनमनेन । दुर्+इण् गतौ—भावे क्त । पापानि । सकटानि । **तर** । तॄ तरणे, अभिभवे । अभिभव । **सहवीरम्** । **तेन सहेति तुल्ययोगे** (पा० २ । २ । २८) इति तुल्यक्रियायोगे बहुव्रीहि । **वोपसर्जनस्य** (पा० ६ । ३ । ८२) इति सहस्य सभावो विकल्पत्वात् न प्रवर्त्तते । वीरै सहितम् । **रयिम्** । द्र० अ० १ । १५ । २ । रीङ् गतौ—इप्रत्यय । धनम्—नि० । २ । १० । **दाः** । डुदाञ् विधिलिङि छान्दस रूपम् । त्व दद्या ॥

१—अघद्विष्टा । अघ+द्विष अप्रीतौ—क्त । अघ पाप द्विष्ट तिरस्कृत यया सा । पापद्वेषिणी **देवजाता** । देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धा **वीरुत्** । द्र०अ० १ । ३२ । १ । वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात् (निरु० ६।३) विरोहणशीला । ओषधि । लता । **शपथयोपनी** । **शीङ्शपिरुगमि०** (उ० । ३ । ११) इति शप आक्रोशे—अथ । युप विमोहने—करणे ल्युट् । शापस्य क्रोधवचनस्य फलस्य विमोहनी निवारयित्री । **आपः** । जलानि । **मलम्** । मृज्यते शुध्यते

उसने (मत् अधि) मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापो [कुवचनो] को (प्र+अनैक्षीत्) धो डाला है, (इव) जैसे (आप) जल (मलम्) मल को ॥ १ ॥

भावार्थः–जैसे उत्तम ओषधि से शरीर के रोग मिट जाते, और जल से मलिन वस्त्र आदि शुद्ध होते है, वैसे ही पापी कुक्रोधी मनुष्य भी ब्रह्मज्ञान द्वारा पापो से छूट कर शुद्धात्मा हो जाते और ईश्वर के उपकारो को विचार कर उपकारी बनते और सदा आनन्द भोगते है ॥ १ ॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥

यः । च । सापत्नः । शपथः । जाम्याः । शपथः । च । यः । ब्रह्मा ।
यत् । मन्युतः । शपात् । सर्वम् । तत् । नः । अधःऽपदम् ॥२॥

भाषार्थः–(च) और (य) जो (सापत्न) वैरियो का किया हुआ (शपथ) शाप [क्रोधवचन], (च) और (य) जो (जाम्या) कुल स्त्री का (शपथ) शाप है, और (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्राह्मण (मन्युत) क्रोध से

यत् । **मृजेष्टिलोपश्च** (उ० १ । ११०) इति मृजूष् शुद्धौ-अलच् टिलोपश्च । ङीप् । किट्टम् । स्वेदपङ्कादिकम् । पापम् । **प्र+अनैक्षीत्** । णिजिर् शौचपोषणयो — छान्दसे लुङि रूपम् । प्रकर्षेण अक्षालीत् ।[1] **मत्** । मत्त ॥

२—**सापत्नः** । **धापृवस्यज्यतिभ्यो नः** (उ० ३ । ६) इति सह+पत गतौ, ऐश्वर्ये च–न प्रत्यय , सहस्य स । तत सम्बन्धे–अण् । सपत्नसम्बन्धी । शात्रव । **शपथः** । म० १ । आक्रोश । क्रोधवचनम् । **जाम्याः** । **नियो**[3] **मिः** (उ० ४ । ४३) इति या गतौ–मिप्रत्यय , यकारस्य जकार । याति कार्याणि सा जामि स्वसा कुलस्त्री वा । अथवा । **वसिवपियजि०** (उ० ४ । १२५) इति जमु भक्षणे गतौ च–इञ्, अथवा जन–इञ् । जामिरन्येऽस्या जनयन्ति जामपत्य जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मण (निरु० ३ । ६) जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा । असमानजाती-

---

१ मन्त्रस्थ 'सर्वान्' शब्द उणादि १ । १५३ से वन् प्रत्ययान्त सिद्ध होता है ॥

२ यहाँ भी बाहुलक का आश्रयण करना चाहिये । सा० भा० मे 'सापत्न' शब्द इवार्थ मे निपातन करके सिद्ध किया है, जैसा कि काशिका (काशि० ४।१।१४५) मे भी माना है ।

३ यहाँ भी बाहुलक जानना चाहिये । सम्पा० ॥

(यत्) जो कुछ (शापात्) शाप दे, [क्रोध वचन कहे] (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे (अधस्पदम्) उद्योग के नीचे रहे ॥ २ ॥

भावार्थः—यदि हम से कोई वेद विरुद्ध खोटा कर्म हो जावे, जिस से हमारे शत्रु, हमारी स्त्रियाँ, हमारे ब्राह्मणादि विद्वान् लोग क्रुद्ध हो, तब हम पूरा पूरा प्रयत्न करे कि हमारे शिष्टाचार और वैदिक कर्म से शापमोचन हो जावे, अर्थात् वे सब हम से पूर्ववत् फिर प्रीति करने लगे ॥ २ ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अवऽततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्ऽततम् ।
तेन । सहस्रऽकाण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

भाषार्थः----जो (मूलम्) मूल [तत्वज्ञान] (दिव) सूर्यलोक से (अवततम्) नीचे को फैला हुआ है, और जो (पृथिव्या अधि) पृथिवी पर से (उत्ततम्) ऊपर को फैला है । [हे ईश्वर !] (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रो शाखा वाले [तत्त्वज्ञान] के द्वारा (विश्वत) सब प्रकार से (न) हमारी (परि) सब ओर (पाहि) रक्षा कर ॥ ३ ॥

भावार्थः ---सूर्य द्वारा वृष्टि, प्रकाश आदि भूमि पर आते, और भूमि से जल सूर्यलोक वा मेघमण्डल मे जाता, और सब छोटे बडे लोक परस्पर आकर्षण

यस्य वोपजन (निरु० ४ । २०) बालिशस्य मूर्खस्य, अथवा असमानजातीयस्य असपिण्डस्य । **ब्रह्मा** । द्र० अ० २ । ६ । २ । वेदवेत्ता । ब्राह्मण । **मन्युतः** । **पञ्चम्यास्तसिल्** (पा० ५ । ३ । ७) इति तसिल् । क्रोधात् । **नः** । अस्माकम् । **अधस्पदम्** । **अधःशिरसी पदे** (पा० ८ । ३ । ४७) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३ । १ । १३४) इति पद स्थैर्ये, गत्या च–अच् । पदम् = व्यवसाय , पाद , चिह्नम्–इति शब्दकल्पद्रुमे । पदस्य व्यवसायस्य उद्योगस्य अधस्तात् अधोभागे, असमर्थ भवतु ॥

३----**दिवः** । द्युलोकात् । सूर्यमण्डलात् । **मूलम्** । मवते बध्नातीति । **मूशक्य-बिम्यः क्लः** (उ० ४ । १०८) इति मूङ बन्धने–क्ल । अथवा । मूल प्रतिष्ठाया रोहणे

और धारण रखते है। इसी प्रकार ईश्वरीय अनन्त नियमो को देख कर सब प्रजागण राज नियमो मे चल कर परस्पर उपकार करे ॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

परि । माम् । परि । मे । प्रऽजाम् । परि । नः । पाहि । यत् । धनम् ।
अरातिः । नः । मा । तारीत् । मा । नः । तारिषुः । अभिऽमातयः ॥४॥

भाषार्थः—(माम्) मेरी (परि=परित) सब प्रकार, (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र भृत्य आदि] की (परि) सब प्रकार और (न) हमारा (यत्) जो (धनम्) धन है [उसकी] भी (परि) सब प्रकार (पाहि) तू रक्षा कर। (अराति) कोई अदानी, कजूस, पुरुष (नः) हमे (मा तारीत्) न दबावे, और (अभिमातय) अभिमानी लोग भी (न) हमे (मा तारिषु) न दबावे ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्य आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, और धनरक्षा करके दुष्टो को न्याययुक्त दण्ड देकर सदा आनन्द से रहे ॥ ४ ॥

वा—क। आदिकारणम्। तत्त्वज्ञानम्। **अवततम्** । अव+तनु विस्तारे—क्त। अधोमुख प्रसृतम् । **अधि** । उपरि। **उत्ततम्** । उत्+तनु-क्त। ऊर्ध्वम् उन्नत विस्तृतम्। **सहस्रकाण्डेन** । **क्वादिभ्यः कित्** (उ० १ । १९५) इति कण शब्दे गतौ च–ड, स च कित्। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (पा० ६।४।१५) इति दीर्घ । अपरिमितपर्वयुक्तेन। **विश्वतः** । **भीत्रार्थानां भयहेतुः** (पा० १। ४। २५) इत्यपादानसज्ञायाम् **पञ्चम्यास्तसिल्** (पा० ५। ३। ७) इति तसिल्। सर्वस्मात् कष्टात् ॥

४—**प्रजाम्** । प्रजायते सा प्रजा। **उपसर्गे च संज्ञायाम्** (पा० ३। २। ९९) प्र+जन जनने–ड। पुत्रपौत्रभृत्यादिसन्ततिम्। जनम्। **अरातिः** । द्र० अ० १। १८। १। अदानशीलम्। कृपणम्। शत्रुम्। न । अस्मान्। **मा तारीत्** । तॄ तरणे, अभिभवे–लुङ्। **न माङ्योगे** (पा० ६। ४। ७४।) इत्यडभाव। माभिभवतु। मातिक्रामतु। **मा तारिषुः** । लुङि पूर्ववद् अडभाव । मा हिसन्तु। **अभिमातयः** । द्र० अ० २। ६। ३। अभिमानिनो जना । शत्रव ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

शप्तारम् । एतु । शपथः । यः । सुऽहार्त् । तेन । नः । सह ।
चक्षुःऽमन्त्रस्य । दुःऽहार्दः । पृष्टीः । अपि । शृणीमसि ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(शपथ) [हमारा] क्रोधवचन (शप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (एतु) प्राप्त हो और (य) जो (सुहार्त्) अनुकूल हृदय वाला [शुभचिन्तक] है (तेन) उस [मित्र] के साथ (न) हमारा (सह = सहवास) सहवास हो। (चक्षुर्मन्त्रस्य) आख से गुप्त बात करने वाले, (दुर्हार्द) दुष्टहृदय वाले पुरुष की (पृष्टी) पसलियो को (अपि) ही (शृणीमसि = ०–मः) हम तोड डाले ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि निन्दको पर क्रोध और शुभचिन्तक सत्पुरुषो का आदर करे, और जो अनिष्टचिन्तक कपटी छली हो उनको भी दण्ड देता रहे ॥ ५ ॥

'चक्षुर्मन्त्रस्य' समासान्त पद को पदपाठ के विरुद्ध सायणाचार्य ने 'मन्त्रस्य चक्षु' दो पद मान कर व्याख्या की है वह असाधु है। यह समस्त पद (दुर्हार्द) पद का विशेषण है। इसका प्रयोग अ० १९। ४५। १। मे इस प्रकार है।

५—**शप्तारम्**। शपकर्तारम्। अनीत्या कटुवक्तारम्। **एतु**। गच्छतु। प्राप्नोतु। **शपथः**। म० २। आक्रोश। क्रोधवचनम्। **सुहार्त्**। हार्दम् आनुकूल्य करोति हार्दयतीति। हार्दयते क्विपि णिलोपे रूपम्। शोभनहृदय। सुमनस्कः। अनुकूलकारी। **तेन**। पूर्वोक्तेन सुहृदयेन मित्रेण। **सह**। षह क्षमायाम्–अच्। सयोगः। सम्बन्ध। **चक्षुर्मन्त्रस्य**। **चक्षेः शिच्च** (उ० २। ११९) इति चक्षिङ्-कथने दर्शने च–उसि। शित्त्वात् ख्याञादेशाभाव। मन्त्रि गुप्तभाषणे–अच् यद्वा घञ्। चक्षुषा नेत्रेण मन्त्रो गुप्तभाषण परामर्शो यस्य तस्य। नेत्रसङ्केतेन विचारशीलस्य पिशुनस्य। **दुर्हार्दः**। सुहार्त् शब्दवद् व्युत्पत्ति। दुष्टहृदयस्य। क्रूरपुरुषस्य। **पृष्टीः**। **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (पा० ३। ३। १७४)

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ अ १९ । ४५ । १ ॥

(अञ्जन) हे आँखे खोल देने वाले ! तू आँख से गुप्त बात करने वाले दुष्टहृदय वाले की पसलिया ही (शृण) तोड दे ॥

सूक्तम् ८ ॥

१–५ ॥ ब्रह्म देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३, ५ पंक्तिः ॥

पौरुषमुपदिश्यते—पौरुष का उपदेश किया जाता है ॥

उद॑गातां भग॑वती वि॒चृतौ॒ नाम॒ तार॑के ।
वि क्षे॑त्रि॒यस्य॑ मु॒ञ्चताम॑ध॒मं पाश॑मुत्त॒मम् ॥ १ ॥

उत् । अ॒गा॒ता॒म् । भग॑वती॒ इति॒ भग॑ऽवती । वि॒ऽचृतौ॑ । नाम॑ । तार॑के॒ इति॑ ।
वि । क्षे॒त्रि॒यस्य॑ । मु॒ञ्चता॒म् । अ॒ध॒मम् । पाश॑म् । उ॒त्ऽत॒मम् ॥१॥

भाषार्थः—(भगवती = ०—त्यौ) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुडाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा]

इति पृषु सेचने—क्तिच् । पर्शुस्थीनि । पार्श्वावयवान् । **शृणीमसि** । शॄ हिंसायाम् । **इदन्तो मसि** (पा० ७ । १ । ४६) इति इकार । शृणीम. । विनाशयाम ॥

१—उदगाताम् । उत्+इण् गतौ-लुङ । **इणो गा लुङि** (पा० २ । ४ । ४५) इति गादेश । उदितेऽभूताम् । **भगवती** । **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (पा० ५ । २ । ९४) इति भग—मतुप् नित्ययोगे । मस्य व । ततो ङीप् । **सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०** (पा० ७ । १ । ३९) इति पूर्वसवर्णदीर्घ । भगवत्यौ । ऐश्वर्यवत्यौ । पूज्ये । **विचृतौ** । वि+चृती हिंसाग्रन्थनयो –क्विप् । अन्धकाराद् विमोचयित्र्यौ । **नाम** । प्रसिद्धे । **तारके** । तरति तारयति वान्धकारात् तारका । तॄ—णिच्, ण्वुल्, टाप् । **तारका ज्योतिषि०** (वा० पा० ७ । ३ । ४५) इति इत्वप्रतिषेध । द्वे नक्षत्रे । ज्योतिषी । सूर्यचन्द्रौ । **क्षेत्रियस्य** ।

(उदगाताम्) उदय हुये है। वे दोनो (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊँचे (पाशम्) पाश को (वि+मुच्यताम्) छुड़ा देवे ॥ १ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य और चन्द्रमा ससार मे उदय होकर अपने ऊपर और नीचे के अन्धकार का नाश करके प्रकाश करते है, इसी प्रकार मनुष्य अपने छोटे और बडे मानसिक, शारीरिक और वाशिक रोगो तथा दोषो को निवृत्त करके स्वस्थ और प्रतापी हो ॥ १ ॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

अप । इयम् । रात्री । उच्छतु । अप । उच्छन्तु । अभिऽकृत्वरीः ।
वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ २ ॥

भाषार्थः—(इयम्) यह (रात्री) रात (अप+उच्छतु) नष्ट हो जावे, (अभि–कृत्वरी =०—त्वर्यः) कतरने वाली वा हिसाशील [कुवासनाये]

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (पा० ५ । २ । ९२) इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते परक्षेत्रे चिकित्स्य इत्यर्थे। यद्वा। क्षेत्र-घच् प्रत्यय । परस्मिन् पुत्रपौत्रादिकस्य शरीरे प्रतीकार्यस्य महाप्रचण्डस्य रोगस्य। यद्वा। क्षेत्रे स्वकीये देहे वशे वा जातस्य रोगस्य दोषस्य वा। **विमुञ्चताम्** । मुचेर्लोटि। **शे मुचादीनाम्** (पा० ७ । १ । ५९) इति नुम्। विमोचयताम्। **अधमम्** । अधरशरीरस्थितम्। **उत्तमम्** । ऊर्ध्वभागे स्थितम्। **पाशम्** । पश बन्धे ग्रन्थे वा—घञ्। बन्धनम्। ग्रन्थिम् ॥

२—**इयम्** । पुरोवर्त्तिनी। **रात्री** (द्र० अ० १ । १६ । १) रा दाने–त्रिप्। **रात्रेश्चाजसौ** (पा० ४ । १ । ३१) इति ङीप। निशा। रात्रिरूपोऽन्धकार । **अप+उच्छन्तु** । उच्छी विवासे=समाप्तौ, अकर्मक, वर्जने, सक०। समाप्ता भवतु। विनश्यतु। **अप+उच्छन्तु** । दूरे गच्छन्तु। **अभिकृत्वरीः** । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३ । २ । ७५) इति अभि+कृञ् हिंसायाम्, यद्वा, डुकृञ्

(अप+उच्छन्तु) निकल जावे। (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वश के दोष वा रोग को नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे रात्रि के समाप्त होने पर आलस्य आदि का नाश होता, और जैसे औषध से शरीर रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्यो को अपने और अपने वश के अज्ञान का नाश करके ज्ञान के प्रकाश मे आनन्दित रहना चाहिये ॥ २ ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥३॥

बभ्रोः। अर्जुनऽकाण्डस्य। यवस्य। ते। पलाल्या। तिलस्य। तिलऽपिञ्ज्या। वीरुत्। क्षेत्रियऽनाशनी। अप। क्षेत्रियम्। उच्छतु॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] (ते) तेरे [दिये] (बभ्रो) पोषण करने वाले, (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेत स्तम्भ [डाठा] वाले (यवस्य) यव अन्न की (पलाल्या)

करणे—क्वनिप्, तुगागम। यद्वा। कृती छेदने—क्वनिप्। **वनो र च** (पा० ४ ०। ७) ङीब्रेफौ। **वा छन्दसि** (पा० ६। १। १०६) इति जस पूर्वसवर्ण दीर्घं। व्यभिचारशीला कर्त्तनशीला कुवासना। **वीरुत्।** द्र० अ० २। ७। ओषधि। लता। **क्षेत्रियनाशनी।** म० १। स्वकीये शरीरे वशे वा जातस्य दोषस्य नाशयित्री। **क्षेत्रियम्।** म० १। शरीरस्थ दोषम्। **अप+उच्छतु** सर्वथा वर्जयतु नाशयतु॥

३—**बभ्रोः। कुर्भ्रश्च** (उ० १। २२) इति भृञ् धारणपोषणयोः—कु, द्वित्व च। बिभर्ति भरति वा बभ्रु। पोषकस्य। **अर्जुनकाण्डस्य। अर्जेर्णिलुक् च** (उ० ३। ५८) इति अर्ज उपार्जने=अलब्धसम्पादने—उनन्। अर्जुनम्=रूपम्—निघ० ३। ७। तत **क्वादिभ्यः कित्** (उ० १। ११५) इति कण शब्दे गतौ च—ड, डस्य कित्वम्। **अनुनासिकस्य क्वि०** (पा० ६। ४। १५) इति दीर्घ। श्वेतस्तम्भस्य। परिपक्वस्य नवीनस्य चेति यावत्। **यवस्य।** यूयते

पालन शक्ति से और (तिलस्य) तिल की (तिलपिञ्ज्या) चिकनाई से (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वश के रोग नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—जैसे परिपक्व और नवीन यव, तिल आदि पदार्थों के यथावत् उपयोग से और औषधो के सेवन से शारीरिक बल स्थिर रहता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम विद्या के प्रकाश से आत्मिक दोषो की निवृत्ति करके आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषाऽयुगेभ्यः ।
वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ४ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] (लाङ्गलेभ्य) हलो [की दृढता] के लिये (नम ते=नमस्ते) तुझे नमस्कार है और (ईषायुगेभ्य) हरस [हल की लबी लकडी] और जूओ [की दृढता] के लिये (नम) नमस्कार है।

बलेन । यु मिश्रणे-अप् । स्वनामख्यातधान्यस्य । धान्य राजस्य । **ते** । तव । ईश्वरदत्तस्य । **पलाल्या । तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः कालन्** (उ० १ । ११८) इति पल रक्षणे—कालन् । ङीष् । पालयतीति पलाली । पालनशक्त्या । **तिलस्य । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३ । १ । १३५) इति तिल गतौ, स्निग्धीभावे च—क । स्वनामख्यातशस्यस्य । होमधान्यस्य । **तिलपिञ्ज्या । सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४ । ११८) इति पिजि हिसाबलादाननिकेतनेषु इन् । तिलस्य स्नेहशक्त्या । अन्यद्गतम् ॥

४—**नमस्ते । नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च** (पा० २ । ३ । १६) इति चतुर्थी । तुभ्य नम । **लाङ्गलेभ्यः । लङ्गेर्वृद्धिश्च** (उ० १ । १०८) इति लगि गतौ—कलच्, वृद्धिश्च । लङ्गन्ति प्राप्नुवन्ति, अन्नादिक येन तल्लाङ्गलम् । हलाना हिताय दृढत्वाय । **ईषायुगेभ्यः ।** ईष गतिहिंसादर्शनेषु—क । टाप् ।

(क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वश के दोष वा रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश के दोष वा रोग को (अप + उच्छतु) निकाल देवे ।। ४ ।।

भावार्थः—जैसे किसान लोग हल आदि उपयोगी और दृढ सामग्री के प्रयोग से अन्न उत्पन्न करते है, वैसे ही सब मनुष्य परमेश्वर के नियमो को साक्षात् करके उद्योग के साथ प्रयत्न से शरीर और अन्त करण की दृढता करके उपकारी बने और सदा आनन्द भोगे ।। ४ ।।

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥५॥

नमः । सनिस्रसऽअक्षेभ्यः । नमः । सम्ऽदेश्येभ्यः । नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(सनिस्रसाक्षेभ्य) डबडबाती हुई आँखो वालो [रोगो से पीडित दीनो] के लिये (नम) अन्न हो, और (सदेश्येभ्य) यथार्थ दानशीलो के लिये (नम) अन्न हो । (क्षेत्रस्य) खेत के (पतये) स्वामी के लिये (नम) अन्न हो । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वश के रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषध (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश के दोष वा रोग को (अप + उच्छतु) निकाल देवे ।। ५ ।।

ईषा लाङ्गलदण्ड । **उञ्छादीनां च** (पा० ६ । १ । १६०) इति युज योगे–घञ्, अगुणत्व निपात्यते । युज्येते बलीवर्दौ अस्मिन्निति युगो युग वा रथहलाद्यङ्गम् । ईषाश्च युगानि च तेभ्य । हलस्य दण्डयुगाना दृढत्वाय । अन्यद् गतम् ।।

५—**नमः** । णमु प्रह्वत्वे–असुन् । अन्नम्–निघ० २ । ७ । **सनिस्रसाक्षेभ्यः** । स्रसु गतौ–यङन्ताद् घञ्, अतोलोपयलोपौ । **नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसु०** (पा० ७ ।४। ८४) इति नीग् आगम । छान्दसो ह्रस्व । सनीस्रस्यते–इति सनीस्रसम् । सनीस्रसानि सनीस्रस्यमानानि अतिशयेन विशीर्यमाणानि अक्षाणि, नेत्राणि येषा तेभ्यस्तथाभूतेभ्य । कुष्ठादिरोगेण पीडितनेत्रेभ्यो दीनेभ्य ।

भावार्थः—सब मनुष्य ऐसा सुप्रबन्ध करे कि दीन दुखियो का यथावत् पालन हो, उद्योगी दानी पुरुष और किसान लोग अन्न आदि प्राप्त करे। और जैसे परमेश्वर ने औषध आदि उत्पन्न करके उपकार किया है, उसी पकार सब को परस्पर उपकारी बनना चाहिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(सदेश्येभ्य) पद के स्थान पर सायणभाष्य मे [सदेशेभ्य] की व्याख्या है जो कि मन्त्र विरुद्ध होने से अशुद्ध है ॥

सूक्तम् ९ ॥

१–५ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १, पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप्, २–५ अनुष्टुप् ॥

मनुष्य आत्मानमुन्नयेत्–मनुष्य अपने आप को ऊँचा करे ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

दशऽवृक्ष । मुञ्च । इमम् । रक्षसः । ग्राह्याः । अधि । या । एनम् । जग्राह । पर्वऽसु । अथो इति । एनम् । वनस्पते । जीवानाम् । लोकम् । उत् । नय ॥ १ ॥

भाषार्थः—(दशवृक्ष) हे प्रकाश वाले वा दर्शनीय विद्वानो के क्लेश काटने वाले वा स्वीकार करने वाले, अथवा, हे दस दिशाओ मे सेवनीय परमेश्वर!

संदेश्येभ्यः । सम्+दिश दाने आज्ञापने च–घञ् । सन्देश सम्यग्दानम् । **तत्र साधुः** (पा० ४ । ४ । ९८) इति यत् । यथाशास्त्र दानकुशलाना हिताय । **क्षेत्रस्य । दादिभ्यश्छन्दसि** (उ० ४ । १७०) इति क्षि ऐश्वर्यक्षयनिवासगतिषु त्रन् । क्षयति ऐश्वर्यहेतुर्भवति । अथवा, नाशयति दरिद्रतामिति क्षेत्रम् । शस्योत्पत्तिस्थानस्य । केदारस्य । देहस्य । **पतये** । पा रक्षणे–डति । रक्षकाय । स्वामिने । शिष्ट व्याख्यातम् ॥

१—दशवृक्ष । कनिन् युवृषितक्षिराजि० (उ० १ । १५६) इति दश दशि दीप्तौ, दर्शने, दशने च–कनिन्, पक्षे नकारलोप । **स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्**

(इमम्) इस पुरुष को (रक्षस) राक्षस [दुष्ट अज्ञान] की (ग्राह्या·) जकडने वाली पीडा [गठिया रोग] से (अधि) सर्वथा (मुञ्च=मोचय) छुडा दे, (या) जिस [पीडा] ने (एनम्) इस [पुरुष] को (पर्वसु) सब जोडो मे (जग्राह) पकड लिया है। (अथो) और (वनस्पते) हे वननीय, सेवनीय सत्पुरुषो के पति [रक्षक] (एनम्) इस [पुरुष] को (जीवानाम्) जीवधारियो के (लोकम्) ससार मे (उन्नय) ऊचा उठा ॥ १ ॥

भावार्थः—सब चर और अचर के सेवनीय और सत्पुरुषो के रक्षक परमेश्वर के उपकारो पर दृष्टि करके मनुष्य अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशो और विघ्नो को हटाकर सदा अपनी उन्नति करे ॥ १ ॥

१—सायणभाष्य मे दशवृक्ष' का अर्थ "पलाश उदुम्बर आदि दश वृक्षो के खडो से बनाई हुई मणि" किया है ॥

२—ऐसा ही प्रयोग अथर्ववेद मे आया है—

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥ अ० ३।११।१ ॥

(यदि) जो (एतद्) इस समय (एनम्) इस पुरुष को (ग्राहि) जकडने वाली पीडा ने (जग्राह) पकड लिया है (इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्] (तस्या) उस [पीडा] से (एनम्) इस पुरुष को (प्रमुमुक्तम्) तुम छुडाओ ॥

(उ०३।६६) इति ओव्रश्चू छेदने स प्रत्यय कित्। अथवा। **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः।** (पा० ३।१।१३५) इति वृक्ष वरणे क । वृश्चति क्लेशम्, वृक्षते वृणोति स्वभक्तान्, व्रियते वा सर्वैं स वृक्ष । दशाना दीप्यमानाना दर्शकाना दर्शनीयाना विदुषा [अथवा दशकाना दुष्टस्वभावानामपि] क्लेशछेदक स्वीकारक वा। अथवा दशसु दिक्षु स्वीकरणीय । **मुञ्च**। मोचय। **इमम्**। जीवम्, माम् इत्यर्थ । **रक्षसः**। राक्षसस्य, अज्ञानस्य। **ग्राह्याः**। **विभाषा ग्रहः** (पा० ३।१।१४३) इति ग्रह आदाने–ण। **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (पा० ४। १।६३) इति ङीष्। यद्वा। **वसिवपियजि०** (उ० ४।१२५) इति ग्रह–इञ्। गृह्णातीति ग्राहो ग्राही ग्राहिर्वा जलजन्तुविशेषो वा। ग्रहणशीलपीडाया सकाशात्। **जग्राह**। गृहीतवती। **पर्वसु**। **स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप्** (उ० ४।११३) इति पॄ पूर्तौ पालने च–वनिप् शरीरग्रन्थिषु। **अथो एनम्**। **ओत्** (पा० १।

आगादुदंगादुयं जीवानां व्रातमप्यंगात् ।
अभूंदु पुत्राणां पिता नृणां च भगंवत्तमः ॥ २ ॥

आ । अगात् । उत् । अगात् । अयम् । जीवानाम् । व्रातम् । अपि । अगात् । अभूत् । ऊँ इति । पुत्राणाम् । पिता । नृणाम् । च । भगंवत्ऽतमः ॥२॥

भाषार्थः—(अयम्) यह [प्राणी] (आ+अगात्) आया है, (उत्+अगात्) ऊपर आया है, (जीवानाम्) जीवितो [पुरुषार्थियो] के (व्रातम्) समूह मे (अपि) भी (अगात्) प्राप्त हुआ है। वह (पुत्राणाम्) पुत्रो का (पिता) पिता (च) और (नृणाम्) मनुष्यो मे (भगवत्तम) अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (उ) अवश्य (अभूत्) हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवित होते है, इस से मनुष्य ससार मे जन्म पाकर ब्रह्मचर्य सेवन से विद्या ग्रहण करे, और पुरुषार्थी होकर पुत्रादि सब प्रजा का पालन पोषण करके महाप्रतापी और यशस्वी होवे ॥ २ ॥

---

१ । १५) इत्योदन्तो निपात प्रगृह्य । **वनस्पते** । द्र० अ० १ । १२ । ३ ॥ वन+पति' सुट् च । वनस्य सभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक – इति श्रीमद्दयानन्द-भाष्ये-यजु०२७ । २१ । वनाना पाता वा पालयिता वा वन वनोते (निरु० ८।३) हे सेवनीयगुणस्य रक्षक परमेश्वर। **जीवानाम** । जीवतीति जीव । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३ । १ । १३५) इति जीव प्राणे—क । प्राणिनाम् । **लोकम्** । लोकृ दर्शने-घञ् । भुवनम् । स्थानम् । **उन्नय** । ऊर्ध्व प्रापय । द्विकर्मको धातु ॥

२—**आ+अगात्** इण् गतौ–लुङ । आगतवान् । **उत्+अगात्** । उदस्थात् । सचारक्षमोऽभूत् । **जीवानाम्** । जीविताना पुरुषार्थिनाम् । **व्रातम्** । **भृमृदृशियजि०** (उ० ३ । १०) इति वृञ् वरणे—अतच् पृषोदरादि । यद्वा, व्रत कर्म—निघ० २ । १ । **तस्येदम्** (पा० ४ । ३ । १२०) इति व्रत-अण् । व्राता, मनुष्या —निघ० २ । ३ । समूहम् । **पुत्राणाम्** ।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

अधिऽइतीः । अधि । अगात् । अयम् । अधि । जीवऽपुराः । अगन् । शतम् । हि । अस्य । भिषजः । सहस्रम् । उत । वीरुधः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अयम्) इस पुरुष ने (अधीती॰) अध्ययन योग्य शास्त्रो को (अधि+अगात्) अध्ययन किया है, और (जीवपुरा) प्राणियो के पुरो वा नगरो को (अधि+अगन्) जान लिया है। (हि) क्योकि (अस्य) इस [पुरुष] के (शतम्) सौ [बहुत से] (भिषज) वैद्य, (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [बहुत से] (वीरुध) औषध है ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य वेदादि शास्त्रो के अध्ययन मनुष्यो मे निवास, विद्वानो के सत्सग, और पदार्थों के गुणो का बोध करने से ससार मे उन्नति करते है ॥ ३ ॥

द्र० अ० १ । ११ । ५ । सुतानाम् । सन्तानानाम् । **नृणाम्** । नयतीति ना । **नयतेर्डिच्च** (उ० २ । १००) इति णीञ् प्रापणे-ऋप्रत्यय , स च डित् । **नृ च** (पा० ६ । ४ । ६) इति दीर्घाभाव । नेतृणाम् । पुरुषाणाम् । **भगवत्तमः** । **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (पा० ५ । ३ । ५५) इति भगवत्+तमप् । अतिशयेन भगवान् ऐश्वर्यवा॰न् ॥

३—अधीतीः । अधि+इङ् अध्ययने, यद्वा, इक् स्मरणे—क्तिन् । अध्येतव्यान् वेदान् । स्मर्तव्यान् पदार्थान् । **अधि+अगात्** । **इणो गा लुङि** (पा० २ । ४ । ४५) तत्रैव वार्त्तिकम् । **इण्वदिक इति वक्तव्यम्** । इति इक् स्मरणे-लुङि गादेशः । अस्मार्षीत् । स्मृतवान् । **जीवपुराः** । **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (पा० ५ । ४ । ७४) इति पुर् इत्यस्य अकार समासान्त । जीवाना पुर॰ पुराणि नगराणि पत्तनानि । **अधि+अगन्** । गमेर्लुङि । **मो नो धातोः** (पा० ८ । २ । ६४) इति नत्वम् । अध्यगमत् । अज्ञासीत् । **हि** । यस्मात् कारणात् । **शतम्, सहस्रम्** । अपरिमिताः । **भिषजः** । बिभेति रोगो यस्मादिति भिषक् । **भियः षुग्घ्रस्वश्च** (उ० १ । १३८) इति ञिभी भये-अजि । षुगागमो ह्रस्वश्च । वैद्या । **वीरुधः** । द्र० अ० २ । ७ । १ । ओषधय॰ ॥

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

देवाः । ते । चीतिम् । अविदन् । ब्रह्माणः । उत । वीरुधः ।
चीतिम् । ते । विश्वे । देवाः । अविदन् । भूम्याम् । अधि ॥४॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] (ते) तेरे लिये (देवा) प्रकाशमान (ब्रह्माण) ब्रह्मज्ञानियो ने (उत) और (वीरुध) ओषधियो ने (चीनिम् = चितिम्) ज्ञान (अविदन्) प्राप्त किया है। (विश्वे) सब (देवा दिव्य पदार्थो [सूर्य, चन्द्र, वायु आदि] ने (ते) तेरे लिये (चीतिम्) चैतन्यता को (भूम्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर (अविदन्) प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वान् वेदवेत्ताओ के उपदेश से, तथा अन्न आदि ओषधियो, और सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, आकाश आदि दिव्य पदार्थो मे ईश्वरीय अटल नियमो से शिक्षा और उपकार प्राप्त करके ईश्वर की महिमा के ध्यान मे निमग्न होकर और परोपकार करके आनन्द पाते है ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥५॥

यः । चकार । सः । निः । करत् । सः । एव । सुभिषक्ऽतमः ।
सः । एव । तुभ्यम् । भेषजानि । कृणवत् । भिषजा । शुचिः ॥५॥

भाषार्थः—(य) जिस [परमेश्वर] ने (चकार) बनाया है, (स)

४---**देवाः** । प्रकाशमाना । दातार । दिव्यपदार्था । सूर्यादय । **ते** । तुभ्य हे मनुष्य ! **चीतिम्** । **इगुपधात् कित्** (उ० ४ । १२०) इति चिती ज्ञाने, जागरणे च—इन्, स च कित्, दीर्घश्छान्दस. । ज्ञानम् । जागरणम् । **अविदन्** । विद्लृ लाभे-लुङ् । लब्धवन्त । **ब्रह्माणः** । द्र० अ० २ । ६ । २ । ब्रह्मज्ञानिन । ब्राह्मणा । **वीरुधः** । ओषधय । **भूम्याम्** । द्र० अ० १ । ११ । २ । भू-मि । भूलोके । पृथिव्याम् ॥

५—**यः** । परमेश्वर । **चकार** । सर्व सृष्टवान् । **निः+करत्** । लेटो-

वही (निष्करत्) निस्तारा करेगा, (स) वह (एव) ही (सुभिषक्तम·) बडा भारी वैद्य है। (स) वह (एव) ही (शुचि) पवित्रात्मा (भिषजा) वैद्य रूप से (तुभ्यम्) तेरे लिये (भेषजानि) ओषधो को (क्रुणवत्) करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवको का क्लेश हरण करके आनन्द देता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—'भिषजा शुचि' "वैद्यरूप से पवित्रात्मा" के स्थान मे (भिषजा शुचि) "वैद्यो मे पवित्रात्मा" ऐसा पाठ अधिक ठीक दीखता है। लिपि प्रमाद से अनुस्वार नही लगा। नीचे के प्रयोगो को विचारिये ॥

१—ऋग्वेद मे ऐसा पाठ है—

भिषक्तम त्वा भिषजां शृणोमि ॥ ऋ. २ । ३३ । ४ ॥

मै तुझ को (भिषजाम्) वैद्यो मे महा वैद्य सुनता हू ॥

२—अथर्ववेद मे ऐसा है—

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ अ० ६ । २४ । २ ॥

(भिषजाम्) वैद्यो मे अति पूजनीय वैद्य (आप.) परमेश्वर उन सब दु खो को हटावे ॥

३—यजुर्वेद मे ऐसा पाठ है।

सुत्रामाण ँ सवितारं वरुण भिषजां पति ँ स्वाहा ॥ य० २१ । ४० ॥

बडे रक्षक, परम ऐश्वर्य वाले, श्रेष्ठ, (भिषजाम्) वैद्यो के (पतिम्) रक्षक को सुन्दर वाणी है[1] ॥

ऽडाटौ (पा० ३ । ४ । ९४) इति कृञ् करणे—लेटि अडागम । **कः करत्करति०** (पा० ८ । ३ । ५०) इति निस षत्वम्। निष्कृति निर्मुक्ति पापादिभ्य उद्धार कुर्यात्। **सुभिषक्तमः**। सु+भिषज्+तमप्। म० ३। अतिशयेन पूजनीयो भिषक्, भयनिवारको वैद्य। **भेषजानि**। अ० २। ३। २। औषधानि। **कृणवत्**। कृवि हिसाकरणयो—लेट्। कुर्यात्। **भिषजा**। म० ३। भिषग्रूपेण। इत्थभावे तृतीया। यद्वा (भिषजाम्) इति पाठे। वैद्याना मध्ये। **शुचि**। द्र० अ० १ ३३। १। शुचिर् शौचे—इन्। स च कित्। शुद्धस्वभावः। पवित्र·।

१. पूर्वसस्करण मे उपरिलिखित पाठ अधिक है, जिसे भाष्यकार एव वैदिक सिद्धान्त के प्रतिकूल होने से अपपाठ जानना चाहिये। वस्तुत तृतीयान्त मानने पर यहाँ अर्थ मे कोई विप्रतिपत्ति नही है एव षष्ठ्यन्त अर्थ करने पर भी छान्दस अनुस्वार लोप माना जा सकता है, पर वेद मे लिपि प्रमाद कहना कथञ्चिदपि ठीक न होगा ॥ सम्पा० ॥

सूक्तम् १० ॥

१-८ ॥ ब्रह्म देवता । १ त्रिष्टुप्, २-७ प्रथम-द्वितीय-पचम-षष्ठपादा-त्रिष्टुप्, तृतीय-चतुर्थौ च जगतीछन्दः ॥

मुक्तिप्राप्त्युपदेश —मुक्ति की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥

क्षेत्रियात् । त्वा । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वश के रोग से, (निर्ऋत्या) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] से, (जामिशसात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से, (द्रुह) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दड पाश वा

१--**क्षेत्रियात्** । द्र० अ० २ । ८ । १ । देहे वशे वा जाताद् रोगाद् दोषाद्वा । **निर्ऋत्याः** । द्र० अ० १ । ३१ । २ । निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्ति (निरु० २ । ७) कृच्छ्रापत्ते सकाशात् । **जामिशंसात्** । 'जामिः' इति व्याख्यातम्—अ० २ । ७ । २ । जम भक्षणे-इञ् । जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य वोपजन (निरु० ४ । २०) शसु हिसास्तुत्यो -अप्रत्यय । भक्षणशीलस्य । बालिशस्य मूर्खस्य शसनात् हिंसनात् । **द्रुहः** । द्रुह [1]अनिष्टचिन्तने—क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । **मुञ्चामि** । मोचयामि । **वरुणस्य** । द्र० अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे उनन् । दुष्टानामावरकस्य न्यायाधीशस्य । **पाशात्** । पश्यते बध्यतेऽनेन । पश बन्धे बाधे च—घञ् । शस्त्रभेदात् । दण्डबन्धात् । **अनागसम्** । इण

१ धातुपाठ में द्रुह जिघासायाम् पठित है ।

बन्ध से (मुञ्चामि) मै छुडाता हूँ। (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (त्वा) तुमको (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूँ। (ते) तेरे लिये (उभे) दोनो (द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मगलमय (स्ताम्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ :—मनुष्य वेद ज्ञान प्राप्ति से ऐसा प्रयत्न करे कि आत्मिक, शारीरिक, और दैवी विपत्तियो और मूर्खो के दुष्ट आचरणो से पृथक् रहे और न कभी कोई पाप करे जिस से परमेश्वर वा राजा उसे दण्ड न देवे किन्तु सुशीलता के कारण ससार के सब पदार्थ आनन्दकारी हो ॥

शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोमः॑ स॒हौष॑धीभिः । ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद्द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् । अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा॒ त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ २ ॥

शम् । ते॒ । अ॒ग्निः । स॒ह । अ॒त्ऽभिः । अ॒स्तु॒ । शम् । सोमः॑ । स॒ह । ओष॑धीभिः । ए॒व । अ॒हम् । त्वाम् । क्षे॒त्रि॒यात् । निःऽऋ॑त्याः । जा॒मि॒ऽशं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् । अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ :—(ते) तेरे लिये (अग्नि) (अद्भि सह) जल के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (सोम) अमृत [ऐश्वर्य] (ओषधीभि सह)

आगोऽपराधे च (उ० ४ । २१२) इति इण् गतौ-असुन्, आगादेश । अपराधरहितम् । निर्दोषम् । **ब्रह्मणा** । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । **शिवे** । अ० २ । ६ । ३ । कल्याणकारिण्यौ । **द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** (पा० १ । १ । ११) इति सन्ध्यभाव । आकाशपृथिवीस्था पदार्था । **स्ताम्** । भवताम् ॥

२—**शम्** । सुखकर । **ते** । तुभ्यम् । **अग्निः** । पावक । अद्भि । जलेन । **सोमः** । अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययो —मन् । ऐश्वर्यम् । **ओषधीभिः** ।

अन्न आदि औषधियो के साथ (शम्) सुखदायक हो। (एव) ऐसे ही (अहम्) मै (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शरीर वा वश के रोग से [मन्त्र १] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य को विज्ञान पूर्वक देश, काल, अग्नि, जल, वायु, खान, पान आदि पदार्थो का ठीक उपयोग करके स्वस्थ और ऐश्वर्यवान् रहकर आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

शं ते वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षे॒ वयो॑ धा॒च्छं ते॑ भवन्तु प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः। ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒गसं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ ३ ॥

शम्। ते॒। वात॑ः। अ॒न्तरि॑क्षे। वय॑ः। धा॒त्। शम्। ते॒। भ॒व॒न्तु॒। प्र॒ऽदिश॑ः। चत॑स्रः। ए॒व। अ॒हम्। त्वाम्। क्षे॒त्रि॒यात्। निःऽऋ॑त्याः। जा॒मि॒ऽशं॑सात्। द्रु॒हः। मु॒ञ्चा॒मि॒। वरु॑णस्य। पाशा॑त्। अ॒ना॒गस॑म्। ब्रह्म॑णा। त्वा॒। कृ॒णो॒मि॒। शि॒वे इति॑। ते॒। द्यावा॑पृथि॒वी इति॑। उ॒भे इति॑। स्ता॒म् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(ते) तेरे लिये (अन्तरिक्षे) मध्य मे दीखने वाले आकाश मे वर्त्तमान (शम्) सुखदायक (वात) पवन (वय) अन्न वा यौवन [शारीरिक बल] को (धात्=धेयात्) पुष्ट करे, (ते) तेरे लिये (चतस्र) चारो (प्रदिश) महादिशाये (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवे। (एव) ऐसे ही

अ० १। २३। १। ओष+धा-कि, ङीप्। ओषो दाहो धीयतेऽत्र। व्रीह्यियवादिभि। **एव**। एवम्। अन्यद्गत म० १॥

३—वातः। अ० १। ११। ६। वा सुखाप्तिगतिसेवासु—तन्। पवन.। **अन्तरिक्षे**। अ० १। ३०। ३। सर्वमध्ये दृश्यमाने। आकाशे। **वयः**। सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८६) इति वय गतौ, वी गतौ, यद्वा अज गतौ—असुन् अजतेर्वीभाव। अन्नम्-निघ० २। ७। यौवनम्। सामर्थ्यम्। **धात्**। डुधाञ्

(अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से [मन्त्र २] ।।

भावार्थः—मनुष्य प्रयत्न और परिश्रम करके अपने शरीरस्थ प्राण वायु और देशस्थ वायु, और सब स्थानो को यथोचित शुद्ध और स्वस्थ रख कर आनन्द प्राप्त करे ।। ३ ।।

(वयोधात्=वय धात्) इन दो पदो के स्थान पर संहिता और पदपाठ के विरुद्ध सायणभाष्य मे [वयोधा] एक पद मानकर [वयसा पक्षिणा धाता धारयिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वात] व्याख्या की है ।।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ४ ॥

इमाः । याः । देवीः । प्रऽदिशः । चतस्रः । वातऽपत्नीः । अभि । सूर्यः । विऽचष्टे । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(सूर्य) चलने वा चलाने वाला सूर्य लोक (इमा) इन (या) जिन (देवी) दिव्यगुणवाली (वातपत्नी) वायु मण्डल से रक्षित (चतस्र.) चारो

धारणपोषणयो –लेटि विधिलिङि वा छान्दस रूपम् । धत्तात् । दध्यात् । **शम्** । मुखकार्यः । **प्रदिशः** । प्रकृष्टा दिश प्राच्याद्या महादिशा ।

४–**देवीः** । अ० १ । ४ । ३ देव–ङीप् । द्योतमाना । दिव्या । **वातपत्नीः** । **विभाषा सपूर्वस्य** (पा० ४ । १ । ३४) इति वातपूर्वस्य पति शब्दस्य इकारस्य नकारो ङीप् च । वात पतिः रक्षको यासा ता वायुरक्षिता,

(प्रदिश) महादिशाओ को (अभि) सब प्रकार (विचष्टे) देखता है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मै (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वशागत रोग से [मन्त्र २] ॥ ४॥

भावार्थः—जैसे सूर्य अपनी किरणो से आकर्षण करके पृथिवी आदि लोको को धारण करता और वायु मण्डल पतन होजाने से उन की रक्षा करता है, ऐसे ही मनुष्य को अपनी प्रजा का पोषण करके सुखी रहना चाहिये ॥ ४ ॥

तासु त्वान्तर्जरस्यादधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ५ ॥

तासु । त्वा । अन्तः । जरसि । आ । दधामि । प्र । यक्ष्मः । एतु । निःऽऋतिः । पराचैः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(तासु) उन [दिशाओं] मे (त्वा) तुझको (जरसि) स्तुति के (अन्त) मध्य मे (आ) भले प्रकार से (दधामि) धारण करता हू, (यक्ष्म) राज रोग [क्षयी आदि] और (निर्ऋति) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] भी (पराचै) औधे मुह होकर (प्र+एतु) चली जावे । (एव) ऐसे ही (अहम्) मै (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वशागत रोग से [मन्त्र २] ॥५॥

सर्वलोका इत्यर्थ । **सूर्यः** । अ० १।३।५ । आकाशे सर्त्ता सविता प्रेरको वा । आदित्यलोक । **विचष्टे** । चक्षिङ व्यक्तायां वाचि दर्शने च-लट्, अदादित्वात् शपो लुक् । चष्टे, विचष्टे पश्यतिकर्माणौ (निघ० ३ । ११) विविध पश्यति । किरणै प्रकाशयति, आकर्षति धारयति चेत्यर्थ ॥

५—तासु । पूर्वोक्तासु दिक्षु । **त्वा** । त्वा मनुष्यम् । आत्मानम् । **अन्तर्** ।

भावार्थः—मनुष्य को परमेश्वर ने सब प्राणियो मे श्रेष्ठ बनाया है, इसलिये पुरुष पुरुषार्थ करके सब विघ्नो को हटावे और कीर्त्तिमान् होकर सदा आनन्द भोगे और अमर होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—हमारे विचार मे यहाँ 'जरस्' पद का अर्थ निघण्टु और निरुक्त आदि के अनुसार स्तुति वा कीर्त्ति है[1] बुढापे का अर्थ बेमेल है। अथर्ववेद १ । ३० । २ । की टिप्पणी देखिये, और यजु० ३६ । २४ भी विचारिये।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ य० ३६ । २४ ॥

(तत्) परब्रह्म (चक्षु) सब का द्रष्टा, (देवहितम्) विद्वान् देवताओ का हितकारी (शुक्रम्) वीर्यवान्, (पुरस्तात्) पहिले काल से वा सम्मुख होकर (उच्चरत्) ऊँचा चढ रहा है। [ऐसा ध्यान करते हुए] (शतम् शरद) सौ शरद् ऋतु वा वर्ष तक (पश्येम) हम देखते रहे, (शतम् शरदः) सौ वष तक (जीवेम) हम जीते रहे, (शतम् शरद) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनते रहे, (शतम् शरद) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलते रहे, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (अदीना) दीनता रहित (स्याम) हम रहे, (च) और (शतात् शरद) सौ वर्ष से (भूय) अधिक अर्थात् हम सर्वथा पुष्टाग रहे और कभी अङ्गहीन और धनहीन न हो ॥

मध्ये। **जरसि** । म० १ । ३० । २ । गॄ शब्दे-असुन्। जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । स्तुतौ । यशसि। **आ** । सम्यक् । यथाविधि। **दधामि** । अह मनुष्य स्वपौरुषेण धारयाम्यात्मानमित्यर्थ । **यक्ष्मः** । **अर्त्तिस्तुसुहु०** (उ० १ । १४०) इति यक्ष पूजायाम्-मन् । पूज्यते वैद्यो रोगे। राजरोग । क्षय । **प्र+एतु** । प्रैतु। प्रगच्छतु। निर्गच्छतु। **निर्ऋतिः** । म० १। अलक्ष्मी । दरिद्रतादिविपत्ति । **पराचैः** । **नौ दीर्घश्च** (उ० ५ । १३) इति बाहुलकात्, पर+चिञ् चयने-डैसि। अकारस्य दीर्घश्च। पराङ्मुखो ॥

---

१ वृद्धत्व का वाचक जरा शब्द जॄष् वयोहानौ धातु से अङ् प्रत्यय (पा० ३।३।१०४) होकर बनेगा तत्पश्चात् अजादि प्रत्यय परे रहते जराया जर० (पा० ७ । २ । १०१) से जरस् आदेश हो जायेगा। स्तुतिवाचक जरा एव जरस् शब्द गॄ शब्दे धातु से बनेंगे, अत जरा एव जरस् शब्दो के दोनो ही अर्थ है। द्र० निरु० १ । ७, जरिता गरिता ॥ सम्पा० ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥६॥

अमुक्थाः । यक्ष्मात् । दुःऽइतात् । अवद्यात् । द्रुहः । पाशात् । ग्राह्याः । च । उत् । अमुक्थाः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(यक्ष्मात्) राज रोग [क्षयी आदि] से, (दुरितात्) दुर्गति से, और (अवद्यात्) अकथनीय निन्दनीय कर्म से (अमुक्था) तू मुक्त हो गया है, और (द्रुह) द्रोह [अनिष्ट चिन्तन] से (च) और (ग्राह्या) जकडने वाली पीडा के (पाशात्) पाश वा बन्ध से (उत्+अमुक्था) तू छूट चुका है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मै (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वशागत रोग से [मन्त्र २] ॥ ६ ॥

भावार्थः—जैसे उत्तम वैद्य रोगी के रोगो को निवृत्त करके स्वस्थ कर देता है ऐसे ही ब्रह्मचारी वेद विज्ञान की प्राप्ति से निर्मल होकर सुखी होता है ॥ ६ ॥

६—अमुक्थाः । मुच्लृ मोचने-कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने । झलो झलि (पा० ८ । २ । २६) इति सिचो लोप । मुक्तोऽसि । **यक्ष्मात्** । म० ५ । राजरोगात् । **दुरितात्** । दुर्+इण् गतौ-भावे क्त । दुष्टम् इत गमन नरकादिदुर्गति -इति दुरितम् । दुर्गते पापात् । **अवद्यात्** । **अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु** (पा० ३ । १ । १०१) इति अ+वद कथने-यत्प्रत्ययान्तो निपात्यते, क्यपि प्राप्ते। अवचनीयात्, अकथनीयात्, गर्ह्यात्, पापात् । **द्रुहः** । द्रुह क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । **पाशात्** । बन्धनात् । **ग्राह्याः** । अ० २ । ९ । १ । ग्रह-इञ् । ग्रहणशीलाया पीडाया सकाशात् । **उत्** । उङ् शब्दे-क्विप्, तुक् । पृषोदरादित्वाद् दत्व वा । प्राकट्येन । उत्कर्षेण । अन्यद् गतम् ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यंभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा
कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अहाः। अरातिम्। अविदः। स्योनम्। अपि। अभूः। भद्रे। सुऽकृतस्य। लोके। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निःऽऋत्याः। जामिऽशसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥७॥

भाषार्थः—(अरातिम्) कजूसी वा बैर को (अहा =अहासी) तूने त्याग दिया है, (स्योनम्) हर्ष को (अविदः) तूने पाया है, (अपि) और भी (सुकृतस्य) सुकृत [पुण्य कर्म] के (भद्रे) आनन्दमय (लोके) लोक में (अभूः) तू वर्त्तमान हुआ है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मै (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वशागत रोग से . [मन्त्र २] ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्य बैर छोड कर उदार, उपकारी, सर्वमित्र बनकर अनेक बल अर्थात् मुक्ति के आनन्द को पाता है ॥ ७ ॥

पातञ्जल योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २२ देखिये—

७—**अहाः**। ओहाक् त्यागे—लुङि। **मन्त्रे घसह्वरणशवृदहादृ०** (पा० २।४।८०) इति च्लेर्लुक्। अहासी, अत्याक्षी। **अरातिम्**। अ० १।१८।२। रा दाने—क्तिन्। अदातृताम्। शत्रुताम्। **अविदः**। विद्लृ लाभे-लुङ्। लृदित्वाद् अङ्। लब्धवानसि। **स्योनम्**। **सिवेष्टेर्यू च** (उ० ३।९।) इति षिवु तन्तुसन्ताने-नप्रत्ययः, टिभागस्य यू इत्यादेशे गुण। स्योनमिति सुखनाम स्यतेरवस्यन्त्येतत् सेवितव्य भवतीति वा। निरु० ८।९। सुखम्। आनन्दम्। **अपि**। न पियति। पि गतौ—क्विप्, न तुक्। समुच्चये। अवधारणे। पुनरर्थे। **अभूः**।

मैत्र्यादिषु बलानि ।

मित्रता आदिको मे (सयम से) अनेक बल होते है ।।

टिप्पणी—'अभू' का अर्थ परोक्षपरक सायणभाष्य में 'अभूत्' माना है।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम् । ऋतम् । तमसः । ग्राह्याः । अधि । देवाः । मुञ्चन्तः । असृजन् । निः । एनसः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(देवा) (ईश्वर के) दिव्य सामर्थ्यो ने (ऋतम) चलने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (तमस) अन्धकार की (ग्राह्या) पकड से और (एनस अधि) कष्ट से (मुञ्चन्त) छुडा कर (निः+असृजन्) उत्पन्न किया है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मै (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वशागत रोग से,

---

भू सत्तायाम्-लुङ् । त्व वर्त्तमानोऽभू । **भद्रे** । अ० १ । १८ । १ । भदि-रन् । भन्दनीये । सुखप्रदे । **लोके** । द्र० अ० २ । ६ । १ । स्थाने । अन्यद् गतम् ।।

८—**सूर्यम्** । अ० १ । ४ । २ । गतिशील प्रेरक वाऽदित्यम् । **ऋतम्** । ऋ गतौ–कर्त्तरि क्त । ऋत, मध्यमस्थानी देवता—निरु० १० । ४० । अर्त्तारम् अन्तरिक्षे गन्तारम् । **तमसः** । तमु काङ्क्षायाम्-असुन् । अन्धकारस्य । **ग्राह्याः** । म० १ । ग्रहणात् । **देवाः** । ईश्वरस्य दिव्यबलानि । **मुञ्चन्तः** । मोचयन्त । **असृजन्** । सृज विसर्गे । सृष्टवन्त । उत्पादितवन्त । **निर्** । नॄ नयने—क्विप्, न दीर्घ । निश्चये । बहिर्भावे । **एनसः** । **इण आगसि** (उ० ४।१९८) इति

(निर्ऋत्या) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] से (जामिशसात्) भक्षण शील मूर्ख के सताने से, (द्रुह) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दण्ड पाश वा बन्ध से (मुञ्चामि) मै छुडाता हूँ। (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (त्वा) तुझ को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूँ, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनो (द्यावापृथिवी = ०-द्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मगलमय (स्ताम्) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर की शक्ति से सूर्य प्रलय वा ग्रहण के अन्धकार मे छुट कर प्रकाशित होकर क्लेश हरण करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने सब विघ्नो का नाश करके, आत्मिक बल बढा कर ससार मे उपकार करे, और आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—५॥ पुरुषो देवता । १ पंचषट्का, २-५ प्रथमद्वितीयपादौ द्व्यष्टका, तृतीयचतुर्थौ च द्विपट्का गायत्री ।

पुरुषार्थोपदेश —पुरुषार्थ का उपदेश ॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

दूष्याः । दूषिः । असि । हेत्याः । हेतिः । असि । मेन्याः । मेनिः । असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥१॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] तू (दूष्या) दूषित क्रिया का (दूषि) खण्डनकर्त्ता (असि) है, और (हेत्या) बरछी का (हेति) बरछी (असि) है,

इण् गतौ–असुन्। नुट् च। एन एते—निरु० ११। २४। दुःखात्। पापात्। अपराधात्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१—**दूष्याः**। अ० १। २३। ४। दुष दुष्टकर्मणि—इन्। दुष्टक्रियायाः। **दूषिः**। दूषक, निवारक —इति सायणोऽपि। **असि**। भवसि। **हेत्याः**। **ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च** (पा० ३। ३। ९७) इति हन हिंसागत्यो, यद्वा, हि गतिवृद्ध्यो —क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते।

का (मेनि) वज्र (असि) है। (श्रेयासम्) अधिक गुणी मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले (अति=अतीत्य) बढ कर (क्राम) पद आगे बढा ॥ १ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने मनुष्य को बडी शक्ति दी है। जो पुरुष उन शक्तियो को परमेश्वर के विचार और अधिक गुण वालो के सत्सग से, काम मे लाते है वे निर्विघ्न होकर अन्य पुरुषो से अधिक उपकारी होकर आनन्द भोगते है ॥ १ ॥

स्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिस॒रो॑ऽसि प्रत्यभि॒चर॑णोऽसि ।
आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑सम॒ति स॒मं क्रा॑म ॥ २ ॥

स्र॒क्त्यः । अ॒सि । प्र॒ति॒ऽस॒रः । अ॒सि । प्र॒ति॒ऽअ॒भि॒चर॑णः । अ॒सि ।
आ॒प्नु॒हि । श्रेयां॑सम् । अति॑ । स॒मम् । क्रा॒म ॥ २ ॥

भाषार्थः—तू (स्रक्त्यः) गतिशील (असि) है, (प्रतिसर) प्रत्यक्ष चलने वाला (असि) है, और (प्रत्यभिचरण) अभिचार [दुष्ट कर्म] का हटाने वाला (असि) है। (श्रेयासम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को

हेतिर्वज्रनाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । आयुधस्य । **हेतिः** । अस्त्रम् । **मेन्याः** । **वीज्याज्वरिभ्यो निः** (उ० ४ । ४८) इति मिञ् हिसायाम्-नि । मेनिर्वज्रनाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । **मेनिः** । वज्र । **आप्नुहि** । प्राप्नुहि । **श्रेयांसम्** । **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (पा० ५ । ३ । ५७) इति प्रशस्य-ईयसुन् । **प्रशस्यस्य श्रः** (पा० ५ । ३ । ६०) इति प्रशस्यशब्दस्य श्र इत्यादेश । प्रशस्यतरम् । अधिकगुणवन्त पुरुष परमात्मान मनुष्य वा । **अति** । अतीत्य । उल्लङ्घ्य । **समम्** । समानम् । तुल्यबलिनम् । **क्राम** । क्रमु पादविक्षेपे-लोट् । अग्रे गच्छ ॥

२—**स्रक्त्यः** । स्रक, स्रकि गतौ "सरकना"-क्तिन् । स्रक्तिर्गति । **भवे छन्दसि** (पा० ४ । ४ । ११०) इति यत् । गतिमान् । उद्यमी । **प्रतिसरः** । प्रति+सृ गतौ-अच् । **चितः** (६ । १ । १६३) । इति अन्तोदात्त । प्रति प्रत्यक्ष सरतीति । अग्रगामी । **प्रत्यभिचरणः** । प्रति+अभि+चर गमने, अदने

(आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ कर (क्राम) पद आगे बढा ॥ २ ॥

भावार्थः—जो पुरुषार्थी मनुष्य निष्कपट, सरल स्वभाव होकर अग्रगामी होता है वह सकटो को हटा कर आनन्द प्राप्त करता है। मन्त्र १ देखिये ॥ २ ॥

प्रति तमभिचर योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । चर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् ।
वयम् । द्विष्मः । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (तम् प्रति) उस [दुराचारी पुरुष] की ओर (अभिचर) चढाई कर (य) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) बैर करता है, और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रीति करते है। (श्रेयासम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ कर (क्राम) पद आगे बढा ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो छली कपटी धर्मात्माओ से अप्रीति करे और जिन दुष्कर्मियो से धर्मात्मा लोग घृणा करते हो, राजा उन दुष्टो को वश मे करके दण्ड देवे ॥

२—सब मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोगो को हटाकर सत्य धर्म मे प्रवृत्त हो और प्रयत्न पूर्वक सदैव उन्नति करे ॥ ३ ॥

आचारे च—ल्युट् । प्रति, प्रतिकूलम् अभिचरणम् अभिचारो हिसन यस्मात् स प्रत्यभिचरण । व्यभिचारनिवारक । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

३—**प्रति** । अभिलक्ष्य । **अभि+चर** । अभिभव । नाशय । **यः** । दुराचारी पुरुष । **अस्मान्** । धर्मचारिण । **द्वेष्टि** । द्विष अप्रीतौ-अदादित्वात् शपो लुक् । अप्रीत्या गृह्णाति । जिघासति । **द्विष्मः** । अप्रीत्या गृह्णीम । अन्यद् गतम् ।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

सूरिः । असि । वर्चःऽधाः । असि । तनूऽपानः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ४ ॥

भाषार्थः—हे राजन् ! तू (सूरि) विद्वान् (असि) है, (वर्चोधा) अन्न वा तेज का धारण करने वाला (असि) है, (तनूपान) हमारे शरीरो का रक्षक (असि) है। (श्रेयासम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति= अतीत्य) बढकर (क्राम) पद आगे बढा ॥ ४ ॥

भावार्थः—विद्वान् प्रतापी राजा अन्न आदि से अपनी प्रजा की सदा रक्षा और उन्नति करे ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः ।
असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(शुक्र) तू वीर्यवान् (असि) है (भ्राज) प्रकाशमान् (असि) है, (स्व) तू स्वर्ग [सुखधाम] (असि) है, (ज्योति) [सूर्यादि के समान]

४—**सूरिः** । **सूङः क्रिः** (उ० ४ । ६४) इति षूङ प्राणिप्रसवे, यद्वा, षू प्रेरणे क्रि । सूते उत्पादयति, सुवति प्रेरयति वा सद्वाक्यानि । स्तोता—निघ० ३ । १६ । अभिज्ञ । पण्डित । **वर्चोधाः** । वर्चस्+धाञ्–विच् । वर्च द्र० अ० १ । ९ । ४ । वर्चस , अन्नस्य तेजसो वा धाता । **तनूपानः** । तनू+पा रक्षणे-भावे ल्युट् । तनूना पान रक्षण यस्मात् स । शरीररक्षक ॥

५—**शुक्रः** । **ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०** (उ० २ । २८) इति शुच दीप्तौ-रन् । शुक्रम्=पुंस्त्वम् । वीर्यम् । तेज । उदकम्-निघ० १ । १२ । तत **अर्श आदिभ्यो ऽच्** (पा० ५। २। १२७) इति अच् । यद्वा, शुच–क्विप् । रो मत्वर्थीय । वीर्यवान् ।

तेज स्वरूप (असि) है। (श्रेयासम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ कर (क्राम) पद आगे बढा ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजा महाशक्तिमान्, प्रतापी, और ऐश्वर्यवान् ईश्वर पर श्रद्धालु होकर अपनी और प्रजा की सदा वृद्धि करे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ ॥ विश्वेदेवा देवताः । १—६ त्रिष्टुप्, ७, ८ अनुष्टुप्छन्दः ॥

सर्वरक्षोपदेश —सबकी रक्षा के लिए उपदेश ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥१॥

द्यावापृथिवी इति । उरु । अन्तरिक्षम् । क्षेत्रस्य । पत्नी । उरुऽगायः । अद्भुतः । उत । अन्तरिक्षम् । उरु । वातऽगोपम् । ते । इह । तप्यन्ताम् । मयि । तप्यमाने ॥ १ ॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) सूर्य और पृथ्वी (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) मध्य मे दीखने वाला आकाश, (क्षेत्रस्य) निवास स्थान, ससार की (पत्नी) रक्षा करने वाली [दिशा वा वृष्टि], (अद्भुतः) आश्चर्य स्वरूप (उरुगाय) विस्तृत स्तुति वाला परमेश्वर, (उत) और (उरु) विस्तीर्ण (वातगोपम्) प्राण वायु से रक्षा किया हुआ (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्ती

कान्तिमान् । **भ्राजः** । टुभ्राजृ दीप्तौ—अच् । दीप्यमान । तेजस्वी । **स्वर्** । अ० २ । ५ । २ । सु + ऋ गतौ, यद्वा, स्वृ शब्दोपतापयो –विच् । सुगमन । शत्रूपतापक । स्वर्ग । सुखप्रद । **ज्योतिः** । अ० १ । ६ । १ । द्युत दीप्तौ—इसिन् । दस्य ज । (द्र० उ० २ । ११०) तेज । प्रकाश ॥

१—**द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** (पा० १ । १ । ११) इति सन्धिविषये प्रकृतिभाव । सूर्यभूमी । **उरु** । **महति ह्रस्वश्च** (उ० १ । ३१) इति ऊर्णुञ् आच्छादने–कु नुलोपो ह्रस्वश्च । महत् । वड्रम् । **अन्तरिक्षम्** । अ० १ । ३० । ३ । अन्तर् +ईक्ष दर्शने –घञ् । आकाशम् । अन्त -करणम् । **क्षेत्रस्य** । **गुधृवीपचिवचि०** (उ० ४ । १६७) इति क्षि निवासगत्यैश्वर्येषु– त्र । निवासस्थानस्य ससारस्य भूमेर्वा । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति

अन्त करण [ये सब जो देव है] (ते) वे सब (इह) यहाँ पर [इस जन्म मे] (मयि) मुझ (तप्यमाने) तपश्चर्या करते हुये पर (तप्यन्ताम्) ऐश्वर्य वाले होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमो के पालन से विद्या ग्रहण करके देख भाल करता है, परमेश्वर और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उस पुरुषार्थी पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते है ॥ १ ॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति । पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदम् । देवाः । शृणुत । ये । यज्ञियाः । स्थ । भरत्ऽवाजः । मह्यम् । उक्थानि । शंसति । पाशे । सः । बद्धः । दुःऽइते । नि । युज्यताम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ २ ॥

भाषार्थः—(देवा) हे दिव्य गुण वाले महात्माओ ! (ये) जो तुम (यज्ञिया) सत्कार योग्य (स्थ) हो, (इदम्) यह (शृणुत) सुनो, (भरद्वाज) पुष्टि-

---

क्षेत्रमुक्त लोकत्रयम्—इति सायणोऽपि । **पत्नी । पत्युर्नो यज्ञसयोगे** (पा० ४ । १ । ३३) इति पतिशब्दस्य नकारादेश , डीप् च । पालयित्री दिशा वृष्टिर्वा । **उरुगायः** । उरु+गै गाने—घञ् । उरुभिर्महद्भि , यद्वा, उरु विस्तीर्ण गीयते स । बहुगीयमान । **अद्भुतः । अदि भुवो डुतच्** (उ० ५ । १) अततीति । अत सातत्यगमने—क्विप् । अत्, अद् वा आश्चर्यार्थे [1] । अत्+भू सत्ताया, भा दीप्तौ वा डुतच् । आश्चर्यस्वरूप । अपूर्व । **उत** । अपि च । **वातगोपम्** । वातः प्राणवायु, गोपा गोपयिता यस्य, यद्वा प्राणवायुना गोप्यमान धार्यमाण यत्तद् अन्तरिक्ष हृदयम् । **ते** । सर्वे पदार्था । **इह** । अस्मिन् जन्मनि । **तप्यन्ताम्** । तप उपतापे ऐश्वर्ये च । दिवादि । आत्मनेपदी—लोट् । ऐश्वर्यवन्तो भवन्तु । पश्यत—"तप्यते धनी, ईश्वरः स्यादित्यर्थ ।" **मयि** । उपासके । **तप्यमाने** । तप उपतापे—कर्मणि शानच् । ब्रह्मचर्यादि-तपश्चर्या कुर्वति क्लिश्यमाने वा ॥

२—**इदम् । इन्देः कमिन्नलोपश्च** (उ० ४ । १५७) इति इदि परमैश्वर्ये कमिन् । पुरोवर्त्ति वक्ष्यमाण वा वाक्यम् । **देवाः** । दीप्यमाना । दातार । विद्वास ।

---

१. अद्भुतम् अभूतमिव । द्र० निरु० १ । ६ ॥ सम्पा० ॥

कारक अन्न एव बल वा विज्ञान का धारण करने वाला, परमेश्वर (मह्यम्) मुझ को (उक्थानि) वेद वचनो का (शसति) उपदेश करता है। (स) वह मनुष्य (दुरिते) बडे कठिन (पाशे) फाँस मे (बद्ध) बँधा हुआ (नि+युज्यताम्) आज्ञा मे रहे, (य) जो मनुष्य (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग मे लगे हुये] (मन॰) मन को (हिनस्ति) सतावे ।। २ ।।

भावार्थः—विद्वानो को परस्पर मिल कर ब्रह्मविचार करना चाहिये। वह सर्वशक्तिमान् दुष्कर्मियो को क्लेश और सुकर्मियो को आनन्द देता है। उस सर्वपोषक ने यह आज्ञा वेद द्वारा मनुष्य मात्र के लिए प्रकाशित की है ।। २ ।।

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ।।३।।

इदम् । इन्द्र । शृणुहि । सोमऽप । यत् । त्वा । हृदा । शोचता । जोहवीमि । वृश्चामि । तम् । कुलिशेनऽइव । वृक्षम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ।। ३ ।।

भाषार्थः—(सामप) हे ऐश्वर्य के रक्षक [वा अमृन पीने वाले वा अमृत

शृणुत । श्रु श्रवणे । आकर्णयत । **यज्ञियाः** । **यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ** (पा० ५ । १ । ७१) इति यज्ञशब्दात् घप्रत्यय । यज्ञार्हा । पूजनीया । **स्थ** । भवथ । **भरद्वाजः** । भरत्+वाज । भृञ् धारणपोषणयो –शतृ । **अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्** (पा० ३ । ३ । १९) इति वज गतौ-घञ् । वाज॰, अन्नम्–निघ० २ । ७ । बलम् निघ० २ । ९ । भरत् देवाना पोषक वाजो हविर्लक्षणम् अन्न यस्य सोय भरद्वाज, इति सायणः । बिभर्तीति भरन् वाजमन्न य स भरद्वाजोऽन्नधर्त्ता-इति महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १३ । ५५ । वाजोऽन्नं विज्ञान वा बिभर्त्ति येन-इति दयानन्दसरस्वती–तत्र यजुर्वेदभाष्ये । अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्त्ता धारक पोषको वा परमेश्वर । **मह्यम्** । मदर्थम् । **उक्थानि** । **पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्** (उ० २ । ७) इति वच कथने-थक । शास्त्राणि । **शंसति** । शसु हिसास्तुत्यो कथने च । कथयति, उपदिशति । **पाशे** । अ० २ । ८ । १ । बन्धने । **बद्धः** । बन्ध बन्धे-क्त । निरुद्ध । निगडित । **दुरिते** । इण् क्त । दुर्गते । अतिकठिने । **नि+युज्यताम्** । युज सयमे बन्धने-कर्मणि लोट् । नियतो बद्धो भवतु । **मनः** । मन बोधे–असुन् । मननात्मक चित्ताम् । हृदयम् । **इदम्** । सन्मार्गप्रवृत्तम् । **हिनस्ति** । हिसि हिसायाम् । बाधते । क्लिश्नाति ।।

३–**इदम्** । म० २ । वक्ष्यमाण वाक्यम् । **इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् !

की रक्षा करने वाले] (इन्द्र) राजन्! परमेश्वर! (इदम्) इस [वचन] को (श्रृणुहि) तू सुन (यत्) क्योंकि (शोचता) शोक करते हुए (हृदा) हृदय से (त्वा) तुझे (जोहवीमि) आवाहन करता हूँ। (इव) जैसे (कुलिशेन) कुठारी से (वृक्षम्) वृक्ष को [काटते है वैसे ही] मै (तम्) उस [मनुष्य] को (वृश्चामि) काट डालू (य) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) [सन्मार्ग मे लगे हुए] (मन) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जैसे प्रजा गण दुष्टो से पीडित होकर राजा के सहाय से उद्धार पाते है, वैसे ही बलवान् राजा उस परम पिता जगदीश्वर के आवाहन से पुरुषार्थ करके अपने कष्टो से छुटकारा पावे ॥ ३ ॥

श्रृणुहि । **उतश्च प्रत्ययात्० इत्यत्र छन्दसि वेति वक्तव्यम्** (वा० पा० ६ । ४) १०६ । इति हेरलुक् । श्रृणु । **सोमप** । **अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०** (उ० १ । १४०) इति षु गतौ, ऐश्वर्यप्रसवयोश्च-मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोम । **आतोऽनुपसर्गे कः** (पा० ३ । २ । ३) इति सोम+पा रक्षणे पाने वा–क । हे सोमस्य ऐश्वर्यस्य रक्षक! यद्वा । अमृतस्य मोक्षसुखस्य पानशील रक्षक वा! **यत्** । यत । यस्मात कारणात् । **त्वा** । त्वामिन्द्रम् । **हृदा** । हृञ् हरणे–क्विप् तुक् च । हृदयेन । मनसा । **शोचता** । शुच शोके–शतृ । शोकार्तेन । दुःखितेन । **जोहवीमि** । ह्वेञ् आह्वाने–यङ्लुगन्तात् लडुत्तमैकवचने । **ह्वः सम्प्रसारणम्** (पा० ६ । १ । ३२) **अभ्यस्तस्य च** (पा० ६ । १ । ३३) इति सम्प्रसारणम् । पुन पुनराह्वयामि । **वृश्चामि** । ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् श । छिनद्मि । **कुलिशेन** । कुल बन्धे सहतौ च–इन्, किच्च । कुलि.=हस्त· । यद्वा । कुल अस्त्यर्थे इनि । कुली पर्वत । कुलौ हरते शेते वर्तते, शीङ् शयने–ड । यद्वा । कुलिन सहतिवन्त पर्वत पर्ववन्तम् अतिदृढ श्यति, शो तनूकरणे–ड । वज्रेण । **वृक्षम्** । **स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्** (उ० ३ । ६६) इति ओव्रश्चू छेदने–स प्रत्ययः । स च कित् । यद्वा । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० । ३ । १ । १३५) इति वृक्ष वरणे–क । वृक्षते स्वीकरोति श्रान्त जन स वृक्ष । वृश्चति परिश्रमम् । यद्वा । विटपम्, पादपम् । अन्यत् व्याख्यातम् ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अशीतिऽभिः । तिसृऽभिः । सामऽगेभिः । आदित्येभिः । वसुऽभिः । अङ्गिरःऽभिः । इष्टापूर्तम् । अवत । नः । पितृणाम् । आ । अमुम् । ददे । हरसा । दैव्येन ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(तिसृभि) तीन (अशीतिभि) व्याप्तियो [अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति] से (सामगेभि =०—गै) मोक्ष विद्या [ब्रह्म विद्या] के गाने वाले, (आदित्येभि =०—त्यै) सर्वथा दीप्यमान, (वसुभि) प्रशस्त गुण वाले (अङ्गिरोभि) ज्ञानी पुरुषो के साथ (पितृणाम्) रक्षक पिताओ

४—**अशीतिभिः । वसेस्तिः** (उ० ४ । १८०) इति अशूङ व्याप्तौ-ति छन्दसि इडागमो दीर्घश्च । अथवा, **तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके** (पा० ७ । ३ । ९५) इति बाहुलकाद् ईडागम । व्याप्तिभि , ईश्वरजीवप्रकृतिरूपाभि । **तिसृभिः । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** (पा० ७ । २ । ९९) इति त्रिशब्दस्य तिसृ इत्यादेश । त्रिसख्याकाभि । **सामगेभिः । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ** (उ० ४ । १५३) इति षो नाशे-मनिन् । स्यति नष्टीकरोति पाप दु खमिति साम, सर्वैर्गीयमानो वेद । साम+गै—उ । **बहुलं छन्दसि** (पा० ७ । १ । १) इति भिस ऐस्भावो न । सामगै । वेदपाठिभि । ब्राह्मणै । **आदित्येभिः ।** द्र० अ० १ । ९ । १ । आङ+डुदाञ् दाने, दीपी दीप्तौ वा-यक् निपात्यते । आदातृभिर्ग्रहीतृभिर्गुणानाम् । प्रकाशमानै । सूर्यवत्तेजस्विभि । **वसुभिः ।** द्र० अ० १ । ९ । १ । वस आच्छादने, निवासे, दीप्तौ च—उप्रत्यय । **ञ्वसो वसीयःश्रेयसः** (पा० ५ । ४ । ८०) वसुशब्द प्रशस्तवाची—इति भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्त-कौमुद्याम् । प्रशस्तै । श्रेष्ठै । **अङ्गिरोभिः । अङ्गेरसिः** (उ० ४ । २३६) इति अगि गतौ-असिप्रत्यय , रुडागमश्च । अगनै । व्यापनशीलै ज्ञानिभि । महर्षिभि । **इष्टापूर्त्तम् ।** इष्टम् च पूर्त्त च द्वयो समाहार , पूर्वपददीर्घ । यज देवपूजादानसङ्गतिकरणेषु, इषु वाञ्छे वा=भावे क्त । इज्यते इष्यते वा यत्तद् इष्टम् । पॄ पालने-क्त । **न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्** (पा० ८ । २ । ५७) इति तस्य नत्वप्रतिषेध । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म । यथा शब्द—कल्पद्रुमकोषे—

[पिता के समान उपकारियो] के (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (न) हमे (अवतु) तृप्त करे, (दैव्येन) विद्वानो के सम्बन्धी (हरसा) तेज से (अमुम्) उस [दुष्ट] को (आ+ददे) मै पकडता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थः—राजा बहुत से सत्यवादी, सत्यपराक्रमी, सर्वहितैषी, निष्कपटी, विद्वानो की सम्मति और सहाय, बडे बडे पुरुषो के पुण्य कर्मो के अनुकरण, तथा दुष्टो को दण्ड दान से प्रजा मे शान्ति स्थापित करके सदा सुखी रहे ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रंभध्वम् । अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी इति । अनु । मा । आ । दीधीथाम् । विश्वे । देवासः । अनु । मा । आ । रभध्वम् । अङ्गिरसः । पितरः । सोम्यासः । पापम् । आ । ऋच्छतु । अपऽकामस्य । कर्ता ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) हे सूर्य और पृथिवी ! (मा) मुझ पर (अनु=अनुलक्ष्य) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (दीधीथाम्)

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अवतु । रक्षतु । तर्पयतु । **नः** । अस्मान् । **पितृणाम्** । अ० १ । २ । १ । पालयितॄणाम् । रक्षकानाम् । **आददे** । गृह्णामि । स्वीकरोमि । **अमुम्** । त शत्रु पूर्वमन्त्रोक्तम् । **हरसा** । हृञ् हरणे—असुन् । हरो हरतेर्ज्योतिर्हर उच्यते—निरु० ४ । १९ । हर: क्रोध —निघ० २ । १३ । ज्योतिषा । तेजसा । **दैव्येन** । द्र० अ० २ । २ । २ । देव—यञ् । देवसम्बन्धिना ॥

५—**द्यावापृथिवी** । म० १ । हे सूर्यभूमी । सर्वे पदार्था । **अनु** । अनुर्लक्षणे (पा० १ । ४ । ८४) इति अनो कर्मप्रवचनीयता । **कर्मप्रवचनीययुक्ते**

दोनो प्रकाशित हो, (विश्वे) हे सब (देवास =०—वा) उत्तम गुण वाले महात्माओ! (मा) मुझ पर (अनु) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (रभध्वम्) उत्साही बनो। (अङ्गिरस) हे ज्ञानी पुरुषो! (पितर) हे रक्षक पिताओ! (सोम्यास =०—म्या) हे सौम्य, मनोहर गुण वाले विद्वानो! (अपकामस्य) अनिष्ट का (कर्त्ता) कर्त्ता (पापम्) दुःख (आ+ऋच्छतु) प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए कि सूर्य और पृथिवी अर्थात् ससार के सब पदार्थ अनुकूल रहे, और बडे २ उपकारी विद्वानो के सत्संग से डाकू उचक्के आदि को यथोचित दण्ड देकर और वश में करके शान्ति रक्खे ॥५॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् । तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

अति॑ऽइव । यः । मरुतः । मन्यते । नः । ब्रह्म । वा । यः । निन्दिषत् । क्रियमाणम् । तपूंषि । तस्मै । वृजिनानि । सन्तु । ब्रह्मऽद्विषम् । द्यौः । अभिऽसंतपाति ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(मरुत) हे शत्रुओ को मारने वाले शूरो! (य) जो [दुष्ट

द्वितीया (पा० २।३।८।) इति मा इत्यस्य द्वितीया। अनुलक्ष्य। **मा**। माम्। **दीधीथाम्**। दीधीङ् दीप्तिदेवनयो—लोट्, अदादित्वात् शपो लुक्। दीप्येताम्। **विश्वे**। सर्वे। **देवासः**। जसि असुगागम। हे देवा। महात्मान.। **आ+रभध्वम्**। रभ राभस्ये=उत्सुकीभावे—लोट्। उत्सुका भवत। उद्युक्ता भवत—इति सायणाचार्य। **अङ्गिरसः**। म० ४। हे ज्ञानिन। महर्षय। **पितरः**। म० ४। हे पालका। पितृवत् सत्करणीया। **सोम्यासः**। **तस्मै हितम्** (पा० ५।१।५) इति यत्। **आज्जसेरसुक्** (पा० ७।१।५०) इति असुक्। हे सोम्या। सोमाय ऐश्वर्याय हिता। मनोहरा. प्रियदर्शना। **पापम्**। **पानिविषिभ्यः** प (उ० ३।२३) इति पा रक्षणे-पप्रत्यय। पाति रक्षति अस्मादात्मानमिति। अधर्मम्। पातकम्। दुःखम्। **आ+ऋच्छतु**। आर्च्छतु। ऋच्छ गतौ। **उपसर्गादृति धातौ** (पा० ६।१।९१) इति गुणापवादे वृद्धि। प्राप्नोतु। **अपकामस्य**। अप नञर्थे+कम इच्छायाम्—घञ्। अनिष्टस्य। अपकारस्य। अत्याचारस्य। **कर्त्ता**। कृञ्—तृच्। कारक., प्रयोजक ॥

६—**अतीव**। **अतिरतिक्रमणे च** (पा० १।४।९५) इव अवधारणे,

पुरुष] (न) हम पर (अतीव = अतीत्य एव) हाथ बढा कर (मन्यते = मानयते) मान करे (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) उपयुक्त किये हुये (ब्रह्म) [हमारे] वेद विज्ञान वा धन की (निन्दिषत्) निन्दा करे, (वृजिनानि) [उसके] पाप कर्म (तस्मै) उस के लिये (तपूंषि) तापकारी [तुपक रूप] (सन्तु) हो। (द्यौः) दीप्यमान परमेश्वर (ब्रह्मद्विषम्) वेद विरोधी जन को (अभिसंतपाति) सब प्रकार से सन्ताप दे ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य वेदो की सर्वोपकारी आज्ञाओ का उल्लघन करे, उसे शूरवीर पुरुष योग्य दण्ड देवे, वह दुराचारी परमेश्वर की न्यायव्यवस्था से भी कष्ट भोगता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६ । ५२ । २ मे है ॥

स॒प्त प्रा॒णान॒ष्टौ म॒न्यस्तांस्ते॑ वृश्चामि॒ ब्रह्म॑णा ।
अया॑ य॒मस्य॒ साद॑नम॒ग्निदू॑तो॒ अरं॑कृतः ॥ ७ ॥

स॒प्त । प्रा॒णान् । अ॒ष्टौ । म॒न्यः । तान् । ते॒ । वृ॒श्चा॒मि॒ । ब्रह्म॑णा ।
अयाः॑ । य॒मस्य॑ । सद॑नम् । अ॒ग्नि॒ऽदू॑तः । अर॑म्ऽकृतः ॥ ७ ॥

भाषार्थः—[हे दुष्ट जीव] (ते) तेरे (तान्) उन [प्रसिद्ध] (सप्त) सात

प्रादिसमास । अत्येव । अतिशयेन अतिक्रम्य तिरस्कृत्य । **यः** । विरोधीजनः । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । मृङ् प्राणत्यागे अन्तर्भावितण्यर्थः—उति । हे शत्रुनाशका । शूरा । **मन्यते** । मन गर्वे चुरादि, छन्दसि दिवादि । मानयते । गर्वयते । **नः** । अस्मान् । **ब्रह्म** । अ० १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् । धनम् । **निन्दिषत्** । णिदि कुत्सायाम्, इदित्वान्नुम् । **लेटोऽडाटौ** (पा० ३ । ४ । ६४) इत्यडागम । **सिब् बहुलं लेटि** (पा० ३ । १ । ३४) इति सिप् । निन्देत् । दूषयेत् । **क्रियमाणम्** । कृञ् करणे—कर्मणि शानच्, मुक् च । अनुष्ठीयमानम् । विधीयमानम् । **तपूंषि** । **अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्** (उ० २ । ११७) इति तप दाहे—उसि, नित्वात् आद्युदात्त । तापकानि तेजासि आयुधानि वा—इति श्री सायणः । **वृजिनानि** । **वृजेः किच्च** (उ० २ । ४७) इति वृजी वर्जने—इनच् । धर्मवर्जकानि पापकर्माणि । **ब्रह्मद्विषम्** । ब्रह्म + द्विष अप्रीतौ—क्विप् । वेदविरोधिनम् । **द्यौः** । **गमेर्डोः** (उ० २ । ६७) इति द्युत दीप्तौ—डो । **गोतो णित्** (पा० ७ । १ । ६०) इति वृद्धि । द्योतमानः परमेश्वर । **अभि-सम्-तपाति** । तप दाहे—लेट् । आडागम । सर्वत सदहेत् ॥

७—**सप्त** । **सप्यशूभ्यां तुट् च** (उ० १ । १५७) इति षप समवाये-कनिन्,

(प्राणान्) प्राणो को और (अष्टौ) आठ (मन्य॰ = मन्याः) नाडियो को (ब्रह्मणा) वेद नीति से (वृश्चामि) मै तोडता हू । तू (अग्निदूत) अग्नि को दूत बनाता हुआ और (अरकृत) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) न्यायकारी वा मृत्यु के (सादनम् = सदनम्) घर मे (अया) आ पहुचा है ॥ ७ ॥

भावार्थः—सात प्राण अर्थात् दो आख, दो नथने, दो कान और एक मुख एव आठ प्रधान नाडियाँ वा अवयव अर्थात् दो दो दोनो भुजाओ और दोनो टागो के है । तात्पर्य यह है कि दण्ड के द्वारा शत्रु के अगो को छेद कर अनेक क्लेशो के साथ भस्म करके शीघ्र नाश कर देना चाहिये कि अन्य पुरुष दुष्ट कर्म न करने पावे ॥ ७ ॥

टिप्पणी—लिपि प्रमाद[1] से 'मन्या' के स्थान मे 'मन्यः' पद जान पडता है ।

अथर्ववेद १० । २ । ६ देखिये—

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥अ० १०।२।६ ॥

(क) प्रजापति ने (शीर्षणि) मस्तक मे (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि+ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ) यह दोनो कान, (नासिके) दो नथने,

---

तुट् च । सप्त सख्याकान् । **प्राणान्** । प्र+अन प्राणने—करणे घञ् प्राणिति जीवत्यनेन । शीर्षण्यानि कर्णनासिकादीन्द्रियानि । **अष्टौ** । **सप्यशूभ्यां तुट् च** (उ० १ । १५७) इति अशू व्याप्तौ कनिन्, तुट् च । **अष्टाभ्य औश्** (पा० ७ । १ । २१) इति औश् । अष्टसख्याकाः । **मन्यः** । मन धृतौ–क्यप्, स्त्रिया टाप् । लिपिप्रमादेन[1] मन्या इत्यस्य स्थाने मन्य इति जातमनुमीयते । ग्रीवाया पश्चात् शिरा । अत्र तु हस्तपादद्वयस्थान् अष्टप्रधानावयवान् । **वृश्चामि** । छिनद्मि । **ब्रह्मणा** । वेदज्ञानेन । धर्मेण । **अयाः** । या प्रापणे–लङ् । त्व प्राप्तवानसि । **यमस्य** । यम प्रतिबन्धे–अच्, यमयति नियमयति जीवाना पुण्यापुण्यफलम् । न्यायकारिण पुरुषस्य । मृत्यो । **सादनम्** । षद्लृ गतौ–ल्युट्, सीदन्त्यत्र ।

---

१ लिपि प्रमाद कहना ठीक नही । छान्दस ह्रस्वत्व होकर 'मन्य' हो जायेगा । द्र० हमारी टि० पृ० २३७ ॥ सम्पा० ॥

(चक्षणी) दो आँखे, और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (मह्यानि) महिमा मे (चतुष्पाद) चौपाये और (द्विपद) दो पाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते है ॥

आ द॑धामि ते प॒दं समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि ।

अ॒ग्निः शरी॑रं वेवे॒ष्ट्वसुं॒ वागपि॑ गच्छतु ॥ ८ ॥

आ । द॒धा॒मि॒ । ते॒ । प॒दम् । सम्ऽइ॑द्धे । जा॒तऽवे॑दसि । अ॒ग्निः ।

शरी॑रम् । वे॒वे॒ष्टु॒ । असु॑म् । वाक् । अपि॑ । ग॒च्छ॒तु॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थः—[हे दुराचारी] (ते) तेरे (पदम्) पद [वा स्थान] को (समिद्धे) जलती हुई (जातवेदसि) वेदना अर्थात् पीडा देने वाली अग्नि मे (आ+दधामि) डाले देता हूँ। (अग्नि) अग्नि (शरीरम्) [तेरे] शरीर मे (वेवेष्टु) प्रवेश करे, और (वाक्) वाणी (अपि) भी (असुम्) [अपने] प्राण [अश] मे (गच्छतु) जावे ॥ ८ ॥

साहितिको दीर्घ । सदनम् । गृहम् । **अग्निदूतः** । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अग्निर्दूत अनुचरो यस्य स तथोक्त । **अरंकृतः** । ऋ गतौ–अच्, इयर्त्ति गच्छत्यनेनेति अर शीघ्रम् । शीघ्रीकृत । शीघ्र न्यायालये प्राप्त ॥

८—**आ** । समन्तात् । **दधामि** । स्थापयामि । **ते** । तव । त्वदीयम् । **पदम्** । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३ । १ । १३४) इति पद गतौ अच् । व्यवसायम्, स्थानम्, पादम् । **समिद्धे** । सम्+इन्धी दीप्तौ–क्त । प्रदीप्ते । **जातवेदसि** । द्र० अ० १ । ७ । २ । जात+विद वेदनाया, ज्ञाने, सत्तायाम्, यद्वा विद्लृ लाभे–असुन् । जात वेदो वेदना दु ख यस्मात् स जातवेदा , तस्मिन् पीडाजनके अग्नौ । **अग्निः** । पावक । **शरीरम्** । **कॄशपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन्** (उ० ४ । ३०) इति शॄ हिसायाम्–ईरन् । शीर्य्यते हिस्यते रोगादिना यत् । गात्रम् । कायम् । **वेवेष्टु** । विष्लृ व्याप्तौ । जुहोत्यादित्वात् शप श्लु । **निजां त्रयाणां गुणः श्लौ** (पा० ७ । ४ । ७५) प्रविशतु । **असुम्** । **शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि०** (उ० १ । १०) इति असु क्षेपणे–उप्रत्यय । असुरिति प्राणनामास्त. शरीरे भवति (निरु० ३ । ८) प्राणम् । स्वकारणम् । **वाक्** । **क्विप् वचिप्रच्छिश्रि०** (उ० २ ।

भावार्थः—दुराचारी मनुष्य राजदण्ड और ईश्वर नियम से ऐसा शारीरिक और मानसिक ताप पाता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि मे जल कर कष्ट पाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—५। ब्रह्मचारी देवता ॥ १—३, ५ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्छन्दः ॥

ब्रह्मचारिण समावर्त्तने वस्त्रादिधारणोपदेश —ब्रह्मचारी के समावर्त्तन, विद्या समाप्ति पर वस्त्र आदि के लिए उपदेश ।

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥१॥

आयुःऽदाः । अग्ने । जरसम् । वृणानः । घृतऽप्रतीकः । घृतऽपृष्ठः । अग्ने । घृतम् । पीत्वा । मधु । चारु । गव्यम् । पिताऽइव । पुत्रान् । अभि । रक्षतात् । इमम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे तेजस्विन् परमेश्वर ! तू (आयुर्दाः) जीवन दाता और (जरसम्) स्तुति योग्य कर्म को (वृणान) स्वीकार करने वाला, (घृतप्रतीक) प्रकाश स्वरूप और (घृतपृष्ठ) प्रकाश [वा सार तत्त्व] से सीचने वाला है। (अग्ने) हे तेजस्विन् ईश्वर ! [अग्नि के समान] (मधु)

---

५७) इति वच परिभाषणे–क्विप्, दीर्घोऽसम्प्रसारण च । वागिन्द्रियम् । गच्छतु । प्राप्नोतु ॥

१—**आयुर्दाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (पा० ३ । २ । ७४) इति आयुः+दा दाने–विच् । आयु –अ० १ । ३० । ३ । जीवनदाता । **अग्ने** । हे तेजस्विन् परमेश्वर ! **जरसम्** । अ० १ । ३० । ३ । जरस्–अर्शआद्यच् । स्तुत्यम् । प्रशसनीय कर्म । **वृणानः** । वृङ् सभक्तौ–लट शानच् । **श्नाभ्यस्तयोरातः** (पा० ६ । ४ । ११२) इत्याकारलोप । सभजमान । स्वीकुर्वाण । **घृतप्रतीकः । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः** (उ० ३ । ८९) इति घृ भासि सेके च–क्त ।

मधुर, (चारु) निर्मल, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रान्) पुत्रो को (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] की (अभि) सब ओर से (रक्षतात्) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थः—जैसे अग्नि गौ के घृत, काष्ठ आदि हवन सामग्री से प्रज्वलित होकर, हवन, अन्न सस्कार, शिल्प प्रयोग आदि मे उपयोगी होता है, वैसे ही परमेश्वर वेद विद्या के और बुद्धि, अन्न आदि पदार्थो के दान से मनुष्यो पर उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्यो को परस्पर उपकारी होना चाहिये ॥१॥

परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒राम॑त्युं कृणु॒त दी॒र्घमायुः॑ । बृह॒स्पतिः॒ प्राय॑च्छ॒द् वास॑ ए॒तत् सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑-धात॒वा उ॑ ॥ २ ॥

परि॑ । ध॒त्त । ध॒त्त । नः॒ । वर्च॑सा । इ॒मम् । ज॒राऽम॑त्युम् । [ज॒राऽअम॑त्युम्] । कृ॒णु॒त । दी॒र्घम् । आयुः॑ । बृह॒स्पतिः॑ । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । वासः॑ । ए॒तत् । सोमा॑य । राज्ञे॑ । परि॑ऽधात॒वै । ऊँ॒ इति॑ ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (न) हमारे लिये (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (परि+धत्त) वस्त्र पहराओ, और (वर्चसा) तेज वा अन्न से (धत्त)

अलीकादयश्च (उ० ४ । २५) इति प्रति+इण् गतौ-कीकन् । घृता दीप्ता प्रतीका अङ्गानि यस्य स । प्रकाशस्वरूप । **घृतपृष्ठः** । **तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः** (उ० २ । १२) इति पृषु सेके-थक्प्रत्ययान्तो निपात । घृतस्य पृष्ठ सेचन यस्मात् स । प्रकाशेन सेचक । **घृतम्** । आज्यम् । **पीत्वा** । पानेन स्वीकृत्य । **मधु** । मन-उ ।[1] मधुरम् । **चारु** । अ० २ । ५ । १ । मनोहरम् । **गव्यम्** । **गोपयसोर्यत्** (पा० ४। ३। १६०) इति गो–यत् । **वान्तो यि प्रत्यये** (पा० ६ । १ । ७९) इति अव् । गोसम्बन्धि । **पिता** । पाता पालक , जनक । **इव** । यथा । **पुत्रान्** । द्र० अ० १ । ११५ । पूङ् पवने–क्त्र । शुभकर्मणा मातापित्रादिशोधकान् । तनयान्, अपत्यानि । **अभि** । सर्वतः । **रक्षतात्** । हेस्तातङ् आदेशः । पाहि । **इमम्** । एनमुपासकम् । ब्रह्मचारिणम् ॥

२—**परिधत्त** । अन्तर्भावितण्यर्थं । परिधापयत । वस्त्रेण अलङ्कुरुत । **धत्त** । पोषयत । **नः** । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । **वर्चसा** । तेजसा । अन्नेन

१ मनेर्धश्छन्दसि (उ० २ । ११६) ॥ सम्पा० ॥

पुष्ट करो, [तथा इस का] (दीर्घम्) बडा (आयु) आयु, वा आय, अर्थात् धन प्राप्ति, और (जरामृत्युम् = जरा-अमृत्यु जरा-मृत्युं वा) स्तुति से अमरपन, अथवा स्तुति वा बुढापे से मृत्यु[1] (कृणुत) करो। (बृहस्पति) बडे बडे [विद्वानो] के रक्षक [राजा वा प्रधानाचार्य] ने (एतत्) यह (वास·) वस्त्र (सोमाय) सूर्य समान (राज्ञे) ऐश्वर्य वाले [ब्रह्मचारी] को (उ) ही (परिधातवै) धारण करने के लिये (प्र+अयच्छत्) दान किया है ॥ २ ॥

भावार्थः—जब ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर चुके, तब विद्वान् पुरुष परस्पर उपकार के लिए उसकी योग्यता का सत्कार करे, और राजा वा आचार्य विशेष वस्त्र आदि से अलकृत करके उस का मान बढावे, जिससे विद्या का प्रचार और आपस मे प्रीति अधिक होवे ॥

जैसे विद्वान् पुरुष विद्यादि चिह्नो से अलकृत होकर पुरुषो मे दर्शनीय होता है, वैसे ही मनुष्य शरीर का चोला पाकर सृष्टि मे सर्व श्रेष्ठ गिना जाता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र अथर्ववेद १६ । २४ । ३ । में भी है।

निघ० २ । ७ । **इमम्** । दर्शनीय ब्रह्मचारिणम् । **जरामृत्युम्** । जरा-अमृत्यु जरा-मृत्यु वा । **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (पा० ३ । ३ । १०४) इति जॄष् वयोहानौ वेदे तु स्तुतौ[2] च-अङ् । **ऋदृशोऽङि गुणः** (पा० ७ । ४ । १६) इति गुण । टाप् । जरा स्तुतिर्जरते स्तुतिकर्मण —निरु० १० । ८ । **भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ** (उ० ३ । २१) इति मृङ् प्राणत्यागे-त्युक् । जरया स्तुत्या अमृत्युम् अमरत्वम् । यद्वा । जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा त्यु मरणम् । **कृणुत** । कुरुत । **दीर्घम्** । दॄ विदारणे[3] घक् । आयतम् । प्रवृद्धम् । **आयुः** । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ—उसि । जीवितकाल । जीवनसाधनम् । आय । धनप्राप्ति । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । बृहत्+पति सुट्तलोपौ । बृहस्पतिर्बृहत पाता वा पालयिता वा—निरु० १० । ११ । बृहता विदुषा रक्षक । **प्र+अयच्छत्** । दाण् दाने—लङ् । **पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०** (पा० ७ । ३ । ७८) इति यच्छादेश । अददात् । **वासः** । **वसेर्णित्** (उ० ४ । २१८) इति वस आच्छादने-असुन्, स च णित् । वस्त्रम् । वासनम् । ज्ञानम् । **एतत्** । पुरोवर्त्ति । **सोमाय** । अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययो —मन् सोम· सूर्य प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणा जनितेत्यर्थ —निरु० १४ । १२ । सूर्यवत्तेजस्विने ।

---

१ वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर मृत्यु हो अकाल मृत्यु न हो यह अभिप्राय है ॥सम्पा० ॥

२ स्तुतिवाचक जरा शब्द 'गॄ शब्दे' से बनेगा, (द्र० टि० पृ० २४३) । सम्पा० ॥

३ दृणातेर्घक् च (दश० उ० ३ । ७१) से यहाँ घक् हुआ है। निरुक्त मे दीर्घं द्राघतेः (द्र० निरु० २ । १६) कहा है ॥ सम्पा० ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

परि । इदम् । वासः । अधिथाः । स्वस्तये । अभूः । गृष्टीनाम् । अभिशस्तिऽपाः । ऊँ इति । शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । रायः । च । पोषम् । उपऽसव्यंयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थः---[हे ब्रह्मचारिन् !] (इदम्) इस (वास) वस्त्र को (स्वस्तये) आनन्द बढाने के लिये (परि+अधिथाः) तूने धारण किया है, और (गृष्टीनाम्) ग्रहणीय गौओ की (अभिशस्तिपा) हिसा से रक्षा करने वाला (उ) अवश्य (अभू) तू हुआ है। (च) निश्चय करके (पुरूची) बहुत पदार्थो से व्याप्त (शतम्) सौ (शरद) शरद ऋतुओ तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और (राय) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उप+स+व्ययस्व) अपने सब ओर धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थः---विद्वान् लोग ब्रह्मचारी को विदित कर दे कि यह उसकी विद्या का सम्मान इस लिये किया गया है कि ससार मे गौ आदि उपकारी पदार्थो

राज्ञे । अ० १ । १० । १ । राजति=ईष्टे । निघ० २।२१। ऐश्वर्यवते पुरुषाय । **परिधातवै** । **तुमर्थे सेसेन०** (पा० ३।४।९) इति तवै प्रत्यय । परिधातुम् । **उ** । एव ॥

३-**इदम्** । अ० २ । १ । १ । पुरोवर्त्ति । **वासः** । म० २ । वस्त्रम् । **परि+अधिथाः** । **स्थाघ्वोरिच्च** (पा० १ । २ । १७) इति धाञो लुङि इकारोऽन्तादेश , सिच्च किद्वत् । **ह्रस्वादङ्गात्** (पा० ८ । २ । २७) इति सिज्लोप । परिहितवानसि । प्राप्तवानसि । **स्वस्तये** । अ० १ । ३० । २ । सु+अस सत्तायाम्-ति प्रत्यय । क्षेमाय । **अभूः** । भू-लुङ । त्व वर्त्तमानोऽभू । **गृष्टीनाम्** । ग्रह उपादाने-क्तिच् । पृषोदरादित्वात् साधु । ग्राह्याना गवाम् । **अभिशस्तिपाः** । अभि-शसु स्तुतौ, हिंसाया च-क्तिन् । पा रक्षणे-विच् । अभिशस्ति अभितो विशसन हिसा, तन्निमित्ताद् भयात् पालक इति सायण । हिंसाभयाद् रक्षक । **शतम्** । बहुनाम-निघ० ३ । १ । बह्वी । **जीव** । जीव प्राणधारणे । प्राणान् धारय । **शरदः** । अ० १। १०। २ । ऋतुविशेषान् । सवत्सरान् । **पुरूचीः** । **ऋत्विग्दधृक्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति पुरु+अञ्चु गतिपूजनयो-क्विन् । **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (पा० ६ । ४ । २४) इति नलोप । **उगितश्च** (पा० ४ । १ । ६)

और विद्या धन और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके कीर्तियुक्त जीवन व्यतीत करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद १६ । २४ । ६ मे है ॥

एह्यश्मा॑न॒मा ति॒ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः ।
कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥

आ । इ॒हि॒ । अश्मा॑नम् । आ । ति॒ष्ठ॒ । अश्मा॑ । भ॒व॒तु॒ । ते॒ । त॒नूः ।
कृ॒ण्वन्तु॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । आयुः॑ । ते॒ । श॒रदः॑ । श॒तम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्मचारिन्] (एहि = आ + इहि) तू आ, (अश्मानम्) इस शिला पर (आ + तिष्ठ) चढ, (ते) तेरा (तनू) तन [शरीर] (अश्मा) शिला [शिला जैसा दृढ] (भवतु) होवे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले [पुरुष और पदार्थ] (ते) तेरी (आयु) आयु को (शतम्) सौ (शरद) शरद् ऋतुओ तक (कृण्वन्तु) [दीर्घ] करे ॥ ४ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी को शिक्षा दे कि वह यथानियम पथ्य सेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य और पौरुष करके अपने शरीर को दृढ और स्वस्थ रक्खे, और विद्वानो के मेल और उत्तम पदार्थो के सेवन से पूर्ण आयु भोगकर ससार मे उपकार करे ॥ ४ ॥

अ० १ । २ । २ । मे आया है "अश्मान तन्व कृधि" शरीर को पत्थर सा दृढ बना" ॥

अत्र वार्त्तिकम् । **अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्** इति ङीप् । बहुविधान् पदार्थान् व्याप्नुवती **रायः** । रै—ङस् विभक्ति । धनस्य । **पोषम्** । पुष पुष्टौ—घञ् । पुष्टिम् । समृद्धिम् । **उप-सम्-व्ययस्व** । वेञ् तन्तुसन्ताने । परिधत्स्व ॥

४—**आ + इहि** । आगच्छ । **अश्मानम्** । अ० १ । २ । २ । प्रस्तरम् । **अश्मा** । पाषाणशिला । पाषाणवद्दृढा । **आ + तिष्ठ** । अधितिष्ठ । आरूढो भव । **तनूः** । तनु विस्तारे—ऊ । शरीरम् । **कृण्वन्तु** । कुर्वन्तु । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । दिव्यगुणा पुरुषा पदार्था वा । **आयुः** । म० २ । जीवनम् । **ते** । तव । **युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तः पादम्** (पा० ८।३।१०३) इति सकारस्य षत्त्वम् । **शरदः** । शरदृतून् । सवत्सरान् । **शतम्** । बह्वीः । बहुसवत्सरान् ॥

यस्यं ते वासः प्रथमवास्यं१ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः । तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

यस्यं । ते । वासः । प्रथमऽवास्यम् । हरामः । तम् । त्वा । विश्वे । अवन्तु । देवाः । तम् । त्वा । भ्रातरः । सुऽवृधा । वर्धऽमानम् । अनु । जायन्ताम् । बहवः । सुऽजातम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्मचारिन्] (यस्य) जिस (ते) तेरे (प्रथमवास्यम्) प्रधानता से धारण योग्य (वास) वस्त्र को (हराम) हम लाते है [धारण कराते है] (तम्) उस (त्वा) तेरी (विश्वे) सब (देवा) उत्तम गुण (अवन्तु) रक्षा करे, और (तम्) उस (सुवृधा) उत्तम सम्पत्ति से (वर्धमानम्) बढते हुये, (सुजातम्) पूजनीय जन्म वाले (त्वा) तेरे (अनु) पीछे (बहव) बहुत से (भ्रातर) भाई (जायन्ताम्) प्रकट हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—जब ब्रह्मचारी इस प्रकार विद्वानो मे बडा मान पावे, तब वह उत्तम गुणो की प्राप्ति से ऐसी वृद्धि और उन्नति करे कि उसी के समान उसके दूसरे भ्रातृगण ससार मे यश प्राप्त करे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त मे 'वास' पद का चोला अर्थात् मनुष्य शरीर का अर्थ करने से आध्यात्मिक विषय का विनियोग भी हो सकता है। यथा मन्त्र २ देखिये ॥

५—**वासः** । वस्त्रम् । शरीरम् । **प्रथमवास्यम्** । प्रथ ख्यातौ—अमच् । **ऋहलोर्ण्यत्** (पा० ३ । १ । १२४) इति वस आच्छादने—कर्मणि ण्यत् । **तित् स्वरितम्** (पा० ६ । १ । १८५) इति स्वरित । प्रथम प्रधानत्वेन वास्या परिधानीयम् । **हरामः** । प्रापयाम । **तम्** । तादृशम् । **त्वा** । त्वा ब्रह्मचारिणमात्मान वा । **अवन्तु** । रक्षन्तु । **भ्रातरः** । **नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृ०** (उ० २ । ९५) इति टुभ्राजृ दीप्तौ—तृन् । यद्वा । भृञ् भरणे-तृन् । भ्राजमाना परस्पर दीप्यमाना । परस्परपोषका । सहोदरा । भ्रातृवत् परस्परपोषणशीला पुरुषा । **सुवृधा** । वृधु वृद्धौ—क्विप् । महावृद्ध्या । समृद्ध्या । **वर्धमानम्** । वृध्—शानच् । वृद्धिविशिष्टम् । **अनु** । अनुसृत्य । **जायन्ताम्** । जनी प्रादुर्भावे । प्रादुर्भवन्तु । उत्पद्यन्ताम् । **बहवः** । अनेका । **सु-जातम्** । जनी क्तः । प्रशस्तजन्मानम् ॥

सूक्तम् ॥ १४ ॥

१—६ ॥ अलक्ष्मीर्दुर्भिक्षता वा देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

अलक्ष्मीर्मनुष्यै प्रयत्नेन नाशनीया–निर्धनता का मनुष्यों को प्रयत्न से नाश करना चाहिये ॥

निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

निःऽसालाम् । धृष्णुम् । धिषणम् । एकऽवाद्याम् । जिघत्ऽस्वम् । सर्वाः । चण्डस्य । नप्त्यः । नाशयामः । सदान्वाः ॥१॥

भाषार्थः—(निः सालाम्) बिना साला=घर वाली, (धृष्णुम्) भयानक रूपवाली, (एकवाद्याम्) [दीनता का] एक वचन बोलने वाली, (धिषणम्) बोध वा उत्तम वाणी को (जिघत्स्वम्) खा लेने वाली, (चण्डस्य) क्रोध की (सर्वा) इन सब (नप्त्य =नप्त्री) सन्तानो, (सदान्वा) सदा चिल्लाने वाली यद्वा दानवो, दुष्कर्मियो के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीडाओ] को (नाशयाम.) हम मिटा देवे ॥ १ ॥

भावार्थः—निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता, कुरूप हो जाता, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ाये

१—निः सालाम् । षल गतौ–घञ् । साल प्रकारोऽस्त्यस्याः सा साला गृहम् । **अर्शआदिभ्योऽच्** (पा० ५ । २ । १२७) इति अच् । टाप् । निर्गता सालायास्ताम् । निर्गृहाम् । **धृष्णुम्** । **त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः** (पा० ३ । २ । १४०) इति धृषि क्रोधे हिंसे, शक्तिबन्धे–क्नु । घर्षणशीला भयस्य जनयित्रीम् । **धिषणम्** । **धृषेर्धिषच् सञ्ज्ञायाम्** (उ० २ । ८२) इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये–क्यु , धिषजादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे-क्यु , धिषणा वाङ्नाम–निघ० १ । ११ । कोषादौ बुद्धि । बोध वाच वा । 'जिघत्स्वम्' इत्यस्य कर्म । **एकवाद्याम्** । **ऋहलोर्ण्यत्** (पा० ३ । १ । १२४) इति वद वाचि ण्यत् । एकम् एकप्रकारमेव वाद्य दीनतारूप वचन यस्या. सा । ताम् अलक्ष्मीम् ।

क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती है। मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को न आने दे और सदा सुखी रहे ।। १ ।।

ऋग्वेद मे ऐसा वर्णन है—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे ।

शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥ ऋ० १०।१५५।१॥

(अरायि) हे अदान शील [कजूसिनि] ! (काणे) हे कानी ! (विकटे) हे लगडी ! (सदान्वे = सदा नोनुवे शब्दकारिके) सदा चिल्लाने वाली ! (गिरिम्) पहाड को (गच्छ) चली जा ! (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (तेभि) उन (सत्वभि) जलो से (त्वा) तुझे (चातयामसि) हम मिटाये देते है ।।

इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या निरु० ६ । ३० मे है। उसके और निरुक्त टीकाकार देवराजयज्वा के आधार पर यहा अर्थ किया है ।।

जिघत्स्वम् । **लुङ्सनोर्घसॢ** (पा० २ । ४ । ३७) इति अद भक्षणे+सन्–घसॢ आदेश , तत., **सनाशंसभिक्ष उः** (पा० ३ । २ । १६८) इति उः, स्त्रियाम् ऊङ् वा । अत्तुमिच्छुम् । **सर्वाः** । निखिला । **चण्डस्य** । क्लीबान्त । चडि कोपे–पचाद्यच् । यद्वा **अमन्ताड् डः** (उ० १ । ११४) इति चण धातो ड । बाहुलकात् डस्य इत्सञ्ज्ञाप्रतिषेध । कोपस्य । क्रोधस्य । **नप्त्यः** । न पतन्ति पितरो येनेति नप्ता । **नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०** (उ०२।९५) इति न+पत्लृ गतौ–तृन् । **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (पा० ४ । १ । ५) इति ङीप् । छन्दसि रलोप ततश्च जस्विभक्ति । नप्त्री । अपत्यभूता । **नाशयामः** । हन्म । **सदान्वाः** । नौते. शब्दकर्मणो यङ्लुगन्तात् । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३ । १ । १३४) इति पचाद्यच् । **न धातुलोप आर्धधातुके** (पा० १ । १ । ४) इति गुणप्रतिषेधे उवङ्स्थाने छान्दसो यण् आदेश , टाप् च । सदान्वे सदा नोनुवे शब्दकारिके–निरु० ६ । ३० । दुर्भिक्षाधिदेवतोच्यते, कालकर्णी वा अलक्ष्मी –इति टीकाया देवराजयज्वा । सदानोनुवाः । सर्वदा नोनूयमाना· शब्दायमानाः सर्वप्रकारा दरिद्रतादिविपत्ती. यद्वा । स+दानवा· । **केशाद् वोऽन्यतरस्याम्** अत्रवार्त्तिकम्, **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (पा० वा० ५ । २ । १०९) इति वप्रत्ययो मत्वर्थे, अकारलोप । दानवैश्छेदनशीलैः सह वर्तमाना ।।

निर्वो॑ गो॒ष्ठाद॑जामसि॒ निर॒क्षान्निरु॑पान॒सात् ।
निर्वो॑ मगुन्द्या दुहितरो गृ॒हेभ्य॑श्चातयामहे ॥ २ ॥

निः । वः॒ । गो॒ऽस्थात् । अ॒जा॒म॒सि॒ । निः । अ॒क्षात् । निः । उ॒प॒ऽआ॒न॒सात् ।
निः । वः॒ । म॒गु॒न्द्याः॒ । दु॒हि॒त॒रः॒ । गृ॒हेभ्यः॑ । चा॒त॒या॒म॒हे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थः—(व) तुमको (गोष्ठात्) [अपनी] गोठ अर्थात् वाचनालय वा गोशाला से (निर्+अजामसि) हम निकाले देते है, (अक्षात्) व्यवहार से (निर्) निकाले, (उपानसात्) अन्नगृह वा धान्य की गाडी से (निर्) निकाले देने है। (मगुन्द्या) हे ज्ञान की मिथ्या करने वाली [कुवासना वा निर्धनता] की (दुहितर) पुत्रियो ! [पुत्री समान उत्पन्न पीड़ाओ] (व) तुम को (गृहेभ्य.) [अपने] घरो से (निर्) निकालकर (चातयामहे) हम नाश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य धन के उपार्जन और व्यय करने मे ऐसा प्रबन्ध करे

२—वः । युष्मान् । **गोष्ठात्** । **सुपि स्थः** (पा० ३ । २ । ४) इति गो+ष्ठा गतिनिवृत्तौ--क । यद्वा, घञर्थे क । **अम्बाम्बगोभूमि०** (पा० ८ । ३ । ९७) इति षत्वम् । गावो वाचो धेन्वादिपशवो वा तिष्ठन्ति यत्र । गोष्ठ्या , वाचनालयात्, गोशालाया. । **निर्+अजामसि** । अज गतिक्षेपणयो । **इदन्तो मसि** (पा० ७ । १ । ४६) इति मस् इत्यस्य इकारागम । निरजाम. । नि.सारयाम' **निर्** । निरजामसि । **अक्षात्** । अक्षू व्याप्तौ -पचाद्यच् घञ् वा । व्यवहारात् । **उपानसात्** । **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (पा० ५ । ४ । १०७) इति अनस् शब्दात् टच् समासान्त । अन जीवने—असुन् । अन , अन्नम् । शकटम् । जन्म । अनस समीपम् उपानस धान्यगृहम् । यद्वा । **अनोऽश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः** (पा० ५ । ४ । ९४) इति तत्पुरुषे टच् । उपगत च तद् अनश्च उपानस धान्यपूर्णं शकटम् । तस्मात्, धान्यगृहात् । धान्यपूर्णशकटात् । **मगुन्द्याः** । मनु बोधे-ड+गुद्रि[1] मिथ्योक्तौ--अच्, ङीप् च, छन्दसि रलोप । म ज्ञान गुन्द्रयति मिथ्या वदति सा मगुन्द्री तस्या । ज्ञाननाशयित्र्याः कुवासनाया

१ धातुपाठ मे कुद्रि धातु पठित है। क्षीरतरङ्गिणी मे 'गादि पारायणे' लिखकर गकारादि गुद्रि धातु मानी है, (द्र० क्षीर० पृ० २७९) । धातुवृत्ति मे 'ऋदित्इत्येके' कहकर गुद्र धातु भी माना है । ऋदित् मानने पर छान्दस रेफ लोप नही मानना पडेगा ॥ सम्पा० ॥

कि पठन पाठन, गौ आदि पशुओ, व्यापार और अन्न आदि मे हानि न हो किन्तु सब पदार्थो के यथावत् सग्रह से सर्वदा सुख की वृद्धि रहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—गोट 'गोष्ठ' शब्द राजस्थान मे बातचीत के स्थान अर्थ मे लिया जाता है।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

असौ । यः । अधरात् । गृहः । तत्र । सन्तु । अराय्यः । तत्र ।
सेदिः । नि । उच्यतु । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(असौ) वह (य) जो (गृह) घर (अधरात्) नीचे की ओर है, (तत्र) वहाँ पर (अराय्य) निर्धनता वाली [विपत्तिया] (सन्तु) रहे। (तत्र) वहा ही (सेदि) महामारी आदि क्लेश (नि+उच्यतु) नित्य निवास करे, (च) और (सर्वा) सब (यातुधान्य) पीडा देने वाली क्रियाये भी ॥ ३ ॥

निर्धनताया । **दुहितरः** । **नप्तृनेष्टृ दुहितृ** (उ० २ । ९५) इति दुह प्रपूरणे-तृन्, निपातनाद् गुणाभाव । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता । पुत्र्य । पुत्रीवद् उत्पन्ना । **गृहेभ्यः** । **गेहे कः** (पा० ३ । १ । १४४) इति ग्रह उपादाने-क. । गेहात् । **निर्** । नि सार्य नि शेषेण वा । **चातयामहे** । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । नाशयाम ॥

३—अधरात् । अधस्-आति । अधोभागे । नीचै स्थाने । **गृहः** । म० २ । गेहम् । **अराय्यः** । रा दानग्रहणयोः—घञ् । **आतो युक्चिण्कृतोः** (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक् आगम । राति ददातीति रायो धनम् । न राय, अरायः अधनम् । **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** इत्यत्र वार्त्तिकम् । **छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ** (पा० ५ । २ । १०९)। इति मत्वर्थीय ईकार. । अराय, अधन यस्या सा अरायी । अलक्ष्म्यः विपत्तय । **तत्र** । अधोदेशे । **सेदिः** । **आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च** (पा० ३ । २ । १७१) इत्यत्र वार्त्तिकम् । **किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि**

भावार्थः—जैसे राजा चोर आदि दुष्टो को पकड़ कर कारागार मे रखता है, ऐसे ही मनुष्यो को प्रयत्न पूर्वक निर्धनता, दुर्भिक्षता, और दु खदायी रोगो को हटा कर आनन्दित रहना चाहिये ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भूतऽपतिः । निः । अजतु । इन्द्रः । च । इतः । सदान्वाः । गृहऽस्य । बुध्ने । आसीनाः । ताः । इन्द्रः । वज्रेण । अधि । तिष्ठतु ॥४॥

भाषार्थः—(भूतपति) न्याय, सत्य वा प्राणियो का रक्षक (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला पुरुष (सदान्वा) सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवो दुष्कर्मियो के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीडाओ] को (इत) यहाँ से (निर्+अजतु) निकाल देवे । (इन्द्र) वही महा प्रतापी पुरुष (गृहस्य) [हमारे] घर की (बुध्ने) जड मे (आसीना) बैठी हुई (ताः) उन [पीडाओ] को (वज्रेण) वज्र [कुल्हाडे आदि] से (अधि+तिष्ठतु) वश मे करे ॥ ४ ॥

सदादिभ्यो दर्शनात् । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कि प्रत्यय । तस्य लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपौ । निर्ऋति । विषाद । **न्युच्यतु** । उच समवाये दिवादि । नित्य समवैतु । **सर्वाः** । निखिलाः । **यातुधान्यः** । अ० १ । ७ । १ । यत[1] ताडने-उण्+धाञ्-युच् ङीष् । यातना-प्रदा पीडादात्र्य क्रिया (न्युच्यन्तु) इति शेष ॥

४—**भूतपतिः** । भू सत्ताया प्राप्तौ च—कर्त्तरि क्त । भूतस्य न्यायस्य सत्यस्य वा, अथवा भूताना प्राणिना पालकः पुरुषः । **निर्** । निस्सार्य । **अजतु** । प्रेरयतु । बहिष्करोतु । **इन्द्रः** । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये—रन् इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण इन्दञ्छत्रूणा दारयिता वा द्रावयिता वा आदरयिता च यज्वानाम् निरु० १० । ८ । परमैश्वर्यवान् महात्मा । **इतः** । अस्मात् स्थानात् । **सदा-**

---

१ यातु शब्द या धातु से तु प्रत्ययान्त कमिमनिजनि० (उ० १ । ७३) मे सिद्ध किया है । जो कि अर्थ की दृष्टि से सङ्गत हैं (द्र० द० भा० १ । ३५ । १०) । उण् प्रत्यय मानने पर उ० १ । १ मे बाहुलक से ताडनार्थक यत धातु की कल्पना करनी पड़ती है ॥ सम्पा० ॥

भावार्थः—क्लेशो के भीतरी कारणो को भली भाति विचार कर राजा और गृहपति सब पुरुषो को सचेत करके क्लेशो से बचावे और आनन्द मे रक्खे ।।४।।

यदि स्थ चैत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥

यदि । स्थ । क्षेत्रियाणाम् । यदि । वा । पुरुषऽइषिताः । यदि । स्थ । दस्युऽभ्यः । जाताः । नश्यत । इतः । सदान्वाः[1] ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे पीडाओ !] (यदि) यदि (क्षेत्रियाणाम्) शरीर सम्बन्धी, वा वश सम्बन्धी रोगो की (वा) अथवा (यदि) यदि (पुरुषेषिता) अन्य पुरुषो को प्रेषित (स्थ) हो, (यदि) जो (दस्युभ्य) चोर आदिको से (जाता) प्रकट हुयी (स्थ) हो, वह तुम (सदान्वा) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा दानवो के साथ रहने वाली [पीडाओ !] (इत) यहा से (नश्यत) हट जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यो को अपने कुपथ्य सेवन, ब्रह्मचर्य आदि के खण्डन से अथवा माता पिता आदि के कुसस्कार से शारीरिक वा आध्यात्मिक और शत्रु चोर आदि के अन्यथा व्यवहार से आधिभौतिक पीडाये प्राप्त होती है । मनुष्य पुरुषार्थ से सब प्रकार के क्लेशो का नाश करके आनन्द से रहे ॥ ५ ॥

न्वाः । म० १ । सदा+नोनुवा । आक्रोशकारिणी , यद्वा, । स+दानवा , दानवै सह वर्त्तमाना. पीडा ।।

५--**यदि** । पक्षान्तरम् । चेत् । **स्थ** । यूय भवथ । **क्षेत्रियाणाम्** । द्र० अ० २ । ८ । १ । स्वकीये देहे वशे वा जाताना रोगाणाम् । **पुरुषेषिताः** । **पुरः कुषन्** (उ० ४ । ७४) इति पुर अग्रगतौ—कुषन् । पुरति अग्रेगच्छतीति पुरुष । इष गतौ यद्वा, ईष गतिहिंसादर्शनेषु- कर्मणि निष्ठा, इडागम । अन्यजनै प्रेषिता प्रेरिता दत्ता वा । **दस्युभ्यः** । **यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्** (उ० ३ । २०) इति दसु उपक्षये-युच् । बाहुलकाद् अनादेशाभाव । दस्यति नाशयति परपदार्थानिति दस्यु , चौरादिभ्य सकाशात् । **जाताः** । प्रादुर्भूता । **नश्यत** । णश अदर्शने, दिवादि । तिरोभवत । निर्गच्छत । **सदान्वाः** । म० १ । हे सर्वदा शब्दयित्र्य यद्वा दानवैः सह वर्त्तमाना ॥

---

[1] 'सदान्वा'' ऐसे स्वर वाला भी पाठ विभिन्न प्रतियो मे उपलब्ध है। सम्पा० ।।

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

परि । धामानि । आसाम् । आशुः । गाष्ठाम्ऽइव । असरन् ।
अजैषम् । सर्वान् । आजीन् । वः । नश्यत । इतः । सदान्वाः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—[वे विद्वान्] (आसाम्) इन [पीडाओ] के (धामानि) घरो को (परि) सब प्रकार (असरन्) पहुँच गये है । (आशुः इव) जैसे शीघ्रगामी घोडा (गाष्ठाम्) अपने गमन स्थान [थान] पर । (व) तुम्हारे (सर्वान्) सब (आजीन्) सग्रामो को (अजैषम्) मैने जीत लिया है, (सदान्वा) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवो के साथ रहने वाली [पीडाओ !] (इत) यहा से (नश्यत) चपत हो जाओ ।। ६ ।।

भावार्थः—जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशो के कारण शीघ्र जान चुके है, जैसे कि घोडा मार्ग से लौटते समय अपने थान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा, जैसे शूरवीर पुरुष सग्राम मे शत्रुओ को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आई हुई विपत्तियो का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतीकार करे और सुख से आयु को भोगे ।। ६ ।।

६—**परि** । परित सर्वत । **धामानि** । **सर्वधातुभ्यो मनिन्** (उ० ४ । १४५) इति धाञ्-मनिन् । धीयन्ते द्रव्यजातानि यत्र । गृहाणि । जन्मानि । कारणानि । **आसाम्** । पूर्वोक्ताना पीडानाम् । **आशुः** । **कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्** (उ० १ । १) इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने—उण् । अश्वनाम निघ० १ । १४ । अश्व. कस्मादश्नुतेऽध्वान महाशनो भवतीति वा—निरु० २ । २७ । शीघ्रगामी घोटक. । **गाष्ठाम्** । गाङ गतौ—क्विप्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ विच् । गमनाय गमनाद्वा तिष्ठति यत्र । गमनस्थानम् । **असरन्** । सृ गतौ भ्वादि , लङ । अगच्छन् ते विद्वान्स । **अजैषम्** । जि जये-लुङ । अह जितवानस्मि । **आजीन्** । **अज्यतिभ्यां च** (उ० ४ । १३१) इति अज गतिक्षेपणयो —इण् । वीभावाभाव । आजौ, सग्रामनामसु—निघ० २ । १७ । अजन्ति गच्छन्ति

'असरन्' के स्थान पर सायणभाष्य मे 'असरम्' और (गाष्ठाम्) के स्थान पर [ग्लाष्ठाम्] पद व्याख्यात है ।।

सूक्तम् १५ ।।

१—६ ।। प्राणो देवता । गायत्री छन्दः ।।

मनुष्यो धर्मपालने निर्भयो भवेत्—मनुष्य धर्म के पालन मे निर्भय रहे ।।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।। १ ।।

यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ।। १ ।

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (द्यौ) आकाश (च) और (पृथिवी) दोनो (न) न (रिष्यत) दुःख देते है, और (न) न (बिभीतः) डरते है । (एव) ऐसे ही, (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभे) मत डर ।। १ ।।

भावार्थः—यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने २ स्थान और मार्ग मे स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते है, ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापो को छोड कर और सुकर्मो को करके सदा निर्भय और सुखी रहता है ।। १ ।।

यत्र विजयश्रिय योद्धारः क्षिपन्ति शस्त्राणि यत्र । सग्रामान् । व । युष्माकम् । अन्यद् व्याख्यातम् ।।

१—यथा । येन प्रकारेण । **द्यौः** । द्र० अ० २। १२। ६। द्योतन्ते लोका यत्र । आकाशम् । **च** । निश्चये । समुच्चये । **पृथिवी** । द्र० अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे—षिवन्,[१] ङीष् । भूमिः । सत्तास्थानम् । **न** । निषेधे । **बिभीतः** । ञिभी भये । दर त्रास प्राप्नुतः । **रिष्यतः** । रिष हिंसायाम्, दिवादि, सकर्मकः । हिनस्तः । आज्ञाभङ्ग कुरुतः—इत्यर्थः । **एव** । एवम् । तथा । **मे** । मम । **प्राण** । प्र+अन प्राणने अच्, घञ् वा । हे आत्मन् । **मा बिभेः** । ञिभी भये, लङ् । त्व शङ्का मा कार्षीः ।।

---

१ प्रथे षिवन्० (उ० १ । १५०) ।। सम्पा० ।।

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

यथा । अहः । च । रात्री । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः । एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात दोनो (न) न (रिष्यत) दुख देते है और (न) न (बिभीत) डरते है, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभे.) मत डर ॥ २ ॥

भावार्थः— जो मनुष्य अपने काल प्रयोग मे नही चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते है ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः । एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सूर्य) सूर्य (च) और (चन्द्र) चन्द्र दोनो (न) न (रिष्यत) दुख देते है और (न) न (बिभीत) डरते है, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभे.) मत डर ॥ ३ ॥

भावार्थः—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियो में घूमकर ससार मे किरणो और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि औषधो को पुष्ट करके उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेद विहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहे ॥ ३ ॥

२—**अहः । नञि जहातेः** (उ० १ । १५८) इति नञ्+ओहाक् त्यागे-कनिन् । न जहाति न त्यजति सर्वथा परिवर्त्तमानत्वात् तद् अहः । दिनम् । **रात्री** । द्र० अ० २ । ८ । २ । रात्रि कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युप-रमयतीतराणि ध्रुवीकरोति । रातेर्वा स्याद् दानकर्मण प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः, निरु० २ । १८ । क्षपा । निशा ॥

३—**सूर्यः** । अ० १ । ३ । ५ । आदित्यः । सप्ताश्व । **चन्द्रः** । अ० १ । ३ । ४ । चन्द्रमाः ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

यथा । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । । न । बिभीतः । न ।

रिष्यतः । एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] जन (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय जन, दोनो (न) न (रिष्यतः) दु ख देते और (न) नही (बिभीत) डरते है । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभे) मत डर ॥ ४ ॥

भावार्थः—जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते और न भय करते है, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर ईश्वराज्ञा पालन मे निर्भय होकर आनन्द उठावे ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

यथा । सत्यम् । च । अनृतम् । च । न । बिभीतः । न ।

रिष्यतः । एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ (च) और (अनृतम्) अयथार्थ (न) न (रिष्यत) दु ख देते, और (न) न (बिभीत) डरते है । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभे) मत डर ॥ ५ ॥

भावार्थः—सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का निषेध, यह दो प्रधान अग न्याय के है । मनुष्य विधि और निषेध के यथावत्

४—**ब्रह्म** । अ० १ । ८ । ४ । ब्राह्मणजाति । वेदवेत्तृजन । **क्षत्रम्** । क्षणु हिसायाम् क्विप्, क्षत्[1] । ततस्त्रायते । क्षत्+त्रैङ पालने-क । यद्वा । **गुधृवी०** (उ० ४ । १६७) इति क्षद[2] भक्षणे, सवेषणे, सभृतौ, वधे च-त्रप्रत्यय । क्षदति शत्रूनिति क्षत्रम् । क्षत्रियकुलम् ॥

५—**सत्यम्** । **तस्मै हितम्** (पा० ५ । १ । ५) इति सत्-यत् । सद्भ्यो

१ क्षणु धातु से सम्पदादिभ्य क्विप् (पा० वा० ३ ।३।९४) से क्विप्, तुक् आगम एव गमादीनामिति वक्तव्यम् (पा० वा० ६ । ४ । ४०) से अनुनासिक लोप होकर क्षत् बनेगा ॥ सम्पा० ॥

२ क्षद धातु सौत्र पाठ की है ॥ सम्पा० ॥

रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड कर सुमार्ग मे निर्भय चले और अचल आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

यजुर्वेद मे वर्णन है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धांसत्ये प्रजापतिः ॥ य० १९ । ७७ ॥

(प्रजापति॰) प्रजाओ के रक्षक परमेश्वर ने (रूपे) दो रूप, (सत्यानृते) सत्य और झूठ (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) समझाये। (प्रजापति) उस प्रजापति ने (अनृते) झूठ मे (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा वा अप्रीति और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा वा प्रीति को (अदधात्) धारण कराया।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

यथा । भूतम् । च । भव्यम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् [होने हारा] काल (न) न (रिष्यत) दु ख देते और (न) न (बिभीत) डरते है (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभे) मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थः—समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुये है और आगे होगे। इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते है वे सुखी रहते है ॥ ६ ॥

हितम्। तथ्यम्। यथार्थकथनम्। **अनृतम्** । न ऋत नञ्समास । मिथ्याभाषणम् ॥

६—**भूतम्** । भू—क्त। अतीतम्। गतकाल॰। **भव्यम्** । **भव्यगेयप्रवचनीयो॰**(पा० ३ । ४ । ६८) इति भू-यत्। भविष्यत्। अनागतम् ॥

---

१ 'सत्य कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा' (निरु० ३ । १३, १ । १३) ऐसा निरुक्त में निर्वचन किया है ॥ सम्पा० ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ आत्मा देवता । १ आसुरी पङ्क्तिः, २ आसुर्युष्णिक्, ३ आसुरी त्रिष्टुप्, ४----५ आसुरी गायत्री ॥

आत्मरक्षाया उपदेश —आत्म रक्षा के लिए उपदेश ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातम् । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थः–(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनो (मृत्यो) मृत्यु से (मा) मुझे (पातम्) बचाओ, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी [आशीर्वाद] हो ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य, व्यायाम, प्राणायाम, पथ्य भोजन आदि से प्राण अर्थात् भीतर जाने वाली श्वास, और अपान, अर्थात् बाहिर आने वाली श्वास की स्वस्थता स्थापित करे और बलवान् रह कर चिरजीवी होवे ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । उपऽश्रुत्या । मा । पातम् स्वाहा । ॥ २ ॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) हे आकाश और पृथिवी ! दोनो (उपश्रुत्या) पूर्ण श्रवण शक्ति के साथ (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो (स्वाहा) यह सुवाणी [सुन्दर आशीर्वाद] हो ॥ २ ॥

१---**प्राणापानौ** । अन प्राणने–अच् वा घञ् । प्राणश्च अपानश्च तौ । हे उच्छ्वासनिश्वासौ । हे अन्तर्मुखश्वासबहिर्मुखश्वासौ । **मृत्योः** । अ० १ । ३० । ३ । मृङ्–त्युक् । प्राणत्यागात् । मरणात् । **मा** । माम् । **पातम्** । युवां रक्षतम् । **स्वाहा** । सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने–डा । वाङ्नाम–निघ० १ । ११ । स्वाहेत्येतत् सु आहेति स्वा वागाहेति वा स्व प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा–निरु० ८ । २० । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

२---**द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । हे आकाशभूमी ! तदन्तराल-

भावार्थः—सब दिशाओ मे मनुष्य को अपनी श्रवणशक्ति बढानी चाहिये ॥ २ ॥

सूर्य॒ चक्षु॑षा मा पाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सूर्य॑ । चक्षु॑षा । मा॒ । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(सूर्य) हे सूर्य, तू (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुवाणी हो ॥ ३ ॥

भावार्थः—सूर्य प्रकाश का आधार है, और उसी से नेत्र मे ज्योति आती है। मनुष्य को सूर्य के समान अपनी दर्शन शक्ति ससार मे स्थिर रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

अग्ने॒ वैश्वानर॒ विश्वै॑र्मा दे॒वैः पा॑हि॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । वै॒श्वा॒न॒र॒ । विश्वैः॑ । मा॒ । दे॒वैः । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(वैश्वानर) हे सबको चलाने वाले (अग्ने) अग्नि ! (विश्वै) सब (देवै) इन्द्रियो [वा विद्वानो] के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थः—शरीर मे अग्नि अर्थात् उष्णता का होना बल तेज और प्रताप का लक्षण है और इन्द्रिय आदि का चलाने वाला है। सब मनुष्य अन्न की पाचन शक्ति से शरीर मे अग्नि स्थिर रखकर सब इन्द्रियो को पुष्ट करे और उत्तम पुरुषो के सत्सग से स्वस्थ और सुखी रहे ॥ ४ ॥

वर्तिन्यो दिशो विवक्षिता । **उपश्रुत्या**। उप+श्रु-क्तिन्, उपश्रूयते। समीपश्रवणेन । पूर्णश्रवणशक्तिप्रदानेन । अन्यद् गतम् ॥

३—**सूर्य** । अ० १ । ३ । ५ । हे सर्वप्रेरक ! हे आदित्य ! **चक्षुषा** । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-उसि । नेत्रेण । रूपदर्शनशक्त्या ॥

४—**अग्ने** । अ० १ । ६ । २ । अग्निः कस्मादग्रणी भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीवि –निरु० ७ । १४ । हे शरीरस्थतेजोविशेष ! । **वैश्वानर** । अ० १ । १० । ४ ! वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एन नरा नयन्तीति वा–निरु० ७ । २१ । हे सर्वेषामिन्द्रियादीनां नायक !। **विश्वैः**। सर्वैः । **देवैः** । दिवु–अच् । इन्द्रियैः विद्वद्भिः ॥

विश्वंम्भर॒ विश्वे॑न मा॒ भर॑सा पाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

विश्व॑म्ऽभर । विश्वे॑न । मा॒ । भर॑सा । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(विश्वम्भर) हे सर्वपोषक परमेश्वर ! (विश्वेन) सब (भरसा) पोषण शक्ति से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—सब शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य उस (विश्वम्भर) परमेश्वर के अनन्त पथ्य, पोषक द्रव्यो और शक्तियो का उपयोग करे और अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढा कर सदा बलवान् रहकर (विश्वम्भर) सर्वपोषक बने और आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १७ ॥

१--७॥ **ईश्वरो देवता** ॥ १---६ **आसुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुर्युष्णिक्** ॥

आयुर्वर्धनायोपदेश —आयु बढाने के लिए उपदेश ॥

ओजो॒ऽस्योजो॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

ओजः॑ । अ॒सि॒ । ओजः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर] तू (ओज) शारीरिक सामर्थ्य (असि) है, (मे) मुझे (ओज) शारीरिक सामर्थ्य (दा =दद्या) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(ओज) बल और प्रकाश का नाम है। वैद्यक मे रसादि सात धातुओ से उत्पन्न, आठवे धातु शरीर के बल और पुष्टि के कारण, और

५----**विश्वम्भर** । **संज्ञायां भृतृवृजि०** (पा० ३।२।४६) इति विश्व+डुभृञ् धारणपोषणयोः-खच् । **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (पा० ६।३।६७) इति मुम् । हे सर्वधारक ! जगत्पोषक ! विष्णो ! परमात्मन् ! **विश्वेन** । समस्तेन । **भरसा** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४।१८६) इति डुभृञ्-असुन् । पोषणशक्त्या । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१----**ओजः** । अ० १।१२।१। ओज बले, तेजसि-असुन् । बलम् ।

ज्ञानेन्द्रियो की नीरोगता को (ओज) कहते है। जैसे (ओज) हमारे शरीरो के लिये है वैसे ही परमात्मा सब ब्रह्माण्ड के लिये है ऐसा विचार कर मनुष्यो को शारीरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद के पाठ से प्राय मिलता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ य० १९ । ९ ॥

तू तेज है, मुझ मे तेज धारण कर—इत्यादि ॥

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

सहः । असि । सहः । मे । दाः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे परमात्मा !] तू (सह) पराक्रम स्वरूप (असि) है, (मे) मुझे (सह) आत्मिक पराक्रम (दा) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थः—अनन्त ब्रह्माण्डो का रचक और धारक परमेश्वर पराक्रम स्वरूप है। ऐसा सोचकर विद्यादि उपायो से मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति बढावे ॥ २ ॥

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

बलम् । असि । बलम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर] तू (बलम्) सामाजिक बल (असि) है, (मे) मुझे (बलम्) सामाजिक बल (दा) दे (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थः—परमेश्वर मे सब देवता, मनुष्य आदि समाजो का बल है, ऐसा जान कर मनुष्य अपने कुटुम्बी आदि से प्रीति बढा कर सामाजिक बल बढावे ॥ ३ ॥

प्रकाश । वैद्यके रसादिसप्तधातुसारजधातुविशेष शरीरस्य बलपुष्टिकारणम् । ज्ञानेन्द्रियाणा पाटवम् । **मे** । मह्यम् । **दाः** । त्व दद्या , देया ॥

२—**सहः** । षह अभिभवे, क्षमायाम्—असुन् । मानसिकबलम् । पराक्रमः ॥

३—**बलम्** । बल प्राणने, दाने, बधे-पचाद्यच् । बलते विपक्षान् हन्तीति । सामान्यशक्तिः । सैन्यम् । सामाजिक सामर्थ्यम् ॥

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥४॥

आयुः । असि । आयुः । मे । दाः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (आयु) आयु [जीवन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (आयु) आयु (दा) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भावार्थः—ईश्वर ने हमे अन्न, बुद्धि, ज्ञान आदि जीवन सामग्री देकर बडा उपकार किया है, ऐसे ही हम भी परस्पर उपकार से अपना जीवन बढावे ॥ ४ ॥

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥५॥

श्रोत्रम् । असि । श्रोत्रम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति (असि) है (मे) मुझे (श्रवणम्) श्रवण शक्ति (दा) दे (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—परमेश्वर अपनी अनन्त श्रवण शक्ति से हमारी टेर सुनता और सकटो को काटता है। ऐसे ही हम अपनी श्रवण शक्ति को नीरोग रख कर दूसरो के दु खो का निवारण करे और वेदादि शास्त्रो का श्रवण करे ॥५॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥६॥

चक्षुः । असि । चक्षुः । मे । दाः । स्वाहा ॥६॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (चक्षु) दृष्टि [दर्शन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (चक्षु) दर्शन शक्ति (दा) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥६॥

भावार्थः—ऋग्वेद पुरुष सूक्त १० । ९० । १ में भी परमेश्वर का नाम (सहस्राक्ष) अनन्त दर्शन शक्ति वाला है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वद्रष्टा समझ कर मनुष्य अपनी दर्शन शक्ति चगी रक्खे, और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के बहुदर्शी, दूरदर्शी और न्यायकारी होवे ॥ ६ ॥

४----**आयुः** । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ—अस, स च णित् । जीवनम् । जीवनकारणम् ।

५----**श्रोत्रम्** । **हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्** (उ० ४ । १६८) इति श्रु गतिश्रुत्योः—त्रन् । श्रवणेन्द्रियम् । कर्णम् ॥

६--- **चक्षुः** । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् दर्शने—उसि । दृष्ट्या । दर्शन शक्त्या ॥

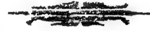
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

परिऽपानम् । असि । परिऽपानम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] तू (परिपाणम्) सब प्रकार पालन शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब प्रकार की पालन शक्ति (दा.) दे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थः—परमेश्वर को अथर्व० १६ । ६ । १ । मे (सहस्रबाहुः) अनन्त भुजाओ की शक्ति वाला कहा है । मनुष्य उसकी अनन्त रक्षण शक्ति देख कर आप भी मनुष्यो मे (सहस्रबाहुः) महा रक्षक और (शतक्रतु) शतकर्मा अर्थात् बहुकार्य कर्त्ता होवे ॥ ७ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाक· ॥



॥ अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ ॥

१–५ ॥ ईश्वरो देवता । साम्नी बृहती छन्दः--१८ अक्षराणि ॥

शत्रुभ्यो रक्षा कर्तव्येत्युपदिश्यते–शत्रुओ से रक्षा करनी चाहिये इसका उपदेश ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

भ्रातृव्यऽक्षयणम् । असि । भ्रातृव्यऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(भ्रातृव्यक्षयणम्) वैरियो की नाशन शक्ति (असि) तू है,

---

७—**परिपाणम्** । परि+पा रक्षणे–ल्युट् । **कृत्यचः** (पा० ८ । ४ । २९) इति नस्य णत्वम् । परित· सर्वत: पालन रक्षणसामर्थ्यम् ॥

१--**भ्रातृव्यक्षयणम्** । **नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०** (उ० २ । ९५) इति भ्राजृ दीप्तौ, वा भृञ्-धारणपोषणयो —तृन् । तत । **व्यन् सपत्ने** (पा० ४ । १ । १४५) इति व्यन् ।

(मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनम्) बैरियो के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थः–(भ्रातृव्य) वह छली पुरुष है जो देखने मे भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे। परमेश्वर वा राजा ऐसे दुराचारियो का नाश करता है, ऐसे ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मिक दोषो का नाश कर के सुख से रहे ॥ १ ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

सपत्नऽक्षयणम् । असि । सपत्नऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः–[हे ईश्वर !] तू (सपत्नक्षयणम्) प्रकट शत्रुओ की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सपत्नचातनम्) प्रकट शत्रुओ के मिटाने का बल (दा) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थः–जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियो का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषो का नाश करके सुख भोगे ॥ २ ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

अरायऽक्षयणम् । असि । अरायऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः–[हे ईश्वर !] तू (अरायक्षयणम्) निर्धनता की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (अरायचातनम्) निर्धनता के मिटाने का बल (दा) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थः–ईश्वर सर्वशक्तिमान् और महा धनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्मति से अथवा अन्य विघ्नो से उत्पन्न निर्धनता को उद्योग कर के मिटावे ॥ ३ ॥

क्षि क्षये—ल्युट् । भ्रातृव्यो गुप्तशत्रु , तस्य क्षयण नाशनम् । **भ्रातृव्यचातनम्** । चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । गुप्तशत्रुनाशनम् । **स्वाहा** । अ० २।१६।१। आशीर्वादोऽस्तु ॥

२—सपत्नक्षयणम् । सह+पत गतौ, न, सहस्य स [1] । एकार्थे पतन्ति यतन्ते ते सपत्ना । तेषा प्रकटशत्रूणा क्षयण नाशनम् । अन्यद् गतम् ॥

३—अरायक्षयणम् । रा+दाने-घञ्, युक् आगम । नञ्तत्पुरुष. । अरायस्य निर्धनत्वस्य नाशनम् ॥

---

१ द्र० टि० पृ० २२३ । व्यन्सपत्ने (४।१।१४५) मे सपत्न शब्द निपातन है ॥ सम्पा० ॥

पिशाचक्षयंणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

पिशाचऽक्षयंणम् । असि । पिशाचऽचातंनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थः—हे ईश्वर ! तू (पिशाचक्षयणम्) मास खाने वालो की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (पिशाचचातनम्) मास खाने वालो के मिटाने का बल (दा·) दे। (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषो को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक है मिटावे तथा हिंसक सिह सर्पादि जीवो का भी नाश करे ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयंणमसि सदान्वाचातंनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

सदान्वाऽक्षयंणम् । असि । सदान्वाऽचातंनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (सदा वाक्षयणम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवो के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सदान्वाचातनम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवो के साथ रहने वाली [निर्धनता वा दुर्भिक्षता] के मिटाने का बल (दा) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—निर्धनता और दुर्भिक्षता [अकाल] आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महादुखी होकर आर्त्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हे सताते है। परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान करके, मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्रभूत धन और अन्न का सचय करके आनन्द से रहे ॥ ५ ॥

४—**पिशाचक्षयणम्** । **कर्मण्यण्** (पा० ३ । २ । १) इति पिशित+अश भोजने-अण् । **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (पा० ६ । ३ । १०९) इति शित-भागस्य लोप, अशभागस्य शाचादेश । पिशित मासम् अश्नन्तीति पिशाचा कुविचारा, अथवा, शारीरिकरोगा हिसका. प्राणिनो वा, तेषा नाशनम् ॥

५—**सदान्वाक्षयणम्** । अ० २ । १४ । १ । सदानोनुवाना सर्वदा शब्दकारिकाना वा दानवै राक्षसै सह वर्त्तमानाना दरिद्रतादिविपत्तीनां नाशनम् ॥

सूक्तम् १९ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, २२ अक्षराणि, ५ साम्नी जगती ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेश —कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

अग्ने । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप [ऐश्वर्य] है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करते है ॥ १ ॥

भावार्थः—दुराचारी, कामी, क्रोधी आदि पुरुष की मति भ्रष्ट हो जाती है, और कुप्रयोग से शारीरिक और बाह्य अग्नि दु खदायी होती, और वही अग्नि सुप्रयोग से विचारशील सदाचारियो को सुखप्रद होती है। ऐसा ही आगे समझना चाहिये ॥ १ ॥

ऐसा कहा भी है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ॥

गुण गुणवान् को प्राप्त करके निखर उठते है, परन्तु वही निर्गुणी को पाकर दोष हो जाते है ॥

१—**अग्ने** । अग्निनामक तेजोविशेष । **ते** । त्वदीयम् । **तपः** । तप ऐश्वर्ये—असुन् । प्रतापः । ऐश्वर्यम् । **तेन** । तपसा । **तम्** । दोषम् । **प्रति** । लक्षीकृत्य । **तप** । प्रतापी भव । **यः अस्मान् द्वेष्टि यं वय द्विष्मः** । इति व्याख्यातम्—अ० २ । ११ । ३ ॥

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

अग्ने । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाश शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से .. मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

अग्ने । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चि) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (य) जो (अस्मान्) हम से . मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो ३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

२—**हरः** । हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु–असुन् । हरो हरतेर्ज्योतिर्हर उच्यते–निरु० ४ । १६ । हरति तमः । नाशनशक्ति । **हर** । नाशय ॥

३—**अर्चिः** । **अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः** (उ० २ । १०८) इति अर्च पूजाप्रकाशयोः–इसि । ज्वलतो नाम–निघ० १ । १७ । दीपनम् ज्वाला । **अर्च** । ज्वलितो भव । दीप्यस्व ॥

अग्ने । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थः---(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (शोचि) शोधन-शक्ति है, (तेन) उससे (नम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (य) जो (अस्मान्) हम से मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमंतेजसं कृणु योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (य.) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करते है ॥ ५ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २० ॥

१--५ ॥ वायुर्देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगतीछन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेश —कुप्रयोग के त्याग के लिए उपदेश ॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

४—**शोचिः** । **अर्चिशुचि०** (उ० २ । १०८) इति ईशुचिर् पूतीभावे -इसि । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । शुच्यत्यनेनेति । शोधनसामर्थ्यम् । **शोच** । शोचय, शोधय ॥

५—**तेजः** । अ० १ । ३५ । ३ । तिज निशाने, तेज पालने वा असुन् । कान्तिः । **अतेजसम्** । तिज, तेज-असुन् । नञ्समासः । कान्तिरहितम् । निस्तेजस्कम् । **कृणु** । कुरु ॥

वायो इति । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (तप) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (य) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करते है ॥ १ ॥

भावार्थः—कुप्रयोग से वायु तत्त्व दुःख देता और सुप्रयोग से आनन्द बढाता है। सू० १९ म० १ देखे ॥ १ ॥

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (हर) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे, (य॰) जो (अस्मान्) हम से ॰ मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चि) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो (य) जो (अस्मान्) हम से ॰ मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

१—वायो । कृवापाजिमि० (उ० १ । १) इति वा गतिगन्धनयोः—उण् आतो युक् चिण्कृतोः (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक् । वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मण —निरु० १० । १ । हे पवन ! अन्यद् गतम्, सू० १९ ॥

२, ३, ४, ५—उपरि व्याख्याता ॥

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो इति । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचि) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (य) जो (अस्मान्) हम से ... मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

वायो इति । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (तेज) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (य) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-५ । सूर्यो देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

सूर्य । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(सूर्य) हे सूर्य [आदित्य मण्डल!] (यत्) जो (ते) तेरा (तप) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (य) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिससे [वयम्] हम [द्विष्म] अप्रिय करे ॥ १ ॥

भावार्थः—सूर्य सृष्टि के पदार्थों को वीर्यवान् और तेजस्वी करता है किन्तु वही कुप्रयोग से दुःखदायी और सुप्रयोग से सुखदायी होता है ॥ १ ॥

सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल]! (यत्) जो (ते) तेरी (हर) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर डाल, (य) जो (अस्मान्) हम से मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल!] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चि)

१-सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सरणशील! हे प्रेरणशील! आदित्य! अन्यदुपरिगतम् ॥

२, ३, ४, ५—उपरि व्याख्याता ॥

दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (य) जो (अस्मान्) हम से ' मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

सूर्य । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचि) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (य) जो (अस्मान्) हमसे मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थः---मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

सूर्य । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थः---(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !](यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (य) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २२

चन्द्रो देवता ॥ १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेश –कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र मण्डल[1]] (यत्) जो (ते) तेरा (तप) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस (दोष) पर (तप) प्रतापी हो, (य) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करे ॥ १ ॥

भावार्थः—शीतल स्वभाव चन्द्रमा स्वभावत: अपनी किरणो से अनिष्टो को हटा कर अन्न आदि औषधियो को पुष्ट करके प्राणियो को आनन्द देता है। परन्तु उसी चन्द्रमा के कुप्रयोग से मनुष्य पागल [Lunatic] और घोडे आदि पशु रोगी हो जाते है। इस कुप्रयोग का त्याग करके सुप्रयोग से आनन्द प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

चन्द्र । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक[1]] (यत्) जो (ते) तेरी (हर) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] का (प्रति हर) नाश कर डाल, (य) जो (अस्मान्) हमसे मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

१—चन्द्र । अ० १ । ३ । ४ । हे आह्लादक चन्द्रलोक ! ।

भाषार्थः–(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चि) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (य) जो (अस्मान्) हम से मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थः–(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचि) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे (य) जो (अस्मान्) हमसे मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थः–(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेज) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृण) कर दे, (य) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१----५ ॥ आपो देवताः । १----४ साम्नी जगती, ५ स्वराट् साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेश —कुप्रयोग त्याग के लिये उपदेश ॥

आपो यद्व् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो ३ऽ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

आपः । यत् । वः । तपः । तेन । तम् । प्रति । तपत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः---(आप·) हे जल [जल पदार्थ] (यत्) जो (व) तुम्हारा (तप) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तपत) प्रतापी हो, (य) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थः---वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल अनावृष्टि दोषो को मिटाकर अन्न आदि पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियो को बल और सुख देता है, और वही कुप्रबन्ध से दुख का कारण होता है ऐसे ही राजा सामाजिक नियमो के विरोधी दुष्टो का नाश करके प्रजा को समृद्ध करता और सुख देता है ॥ १ ॥

आपो यद् वो हरस्तेन त प्रति हरत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

आपः । यत् । वः । हरः । तेन । तम् । प्रति । हरत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः---(आप) हे जलो (यत्) जो (व) तुम्हारी (हर) नाशन शक्ति है (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हरत) नाश कर डालो, (य) जो (अस्मान्) हमसे म० १ ॥ २ ॥

भावार्थः---मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो ३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थः---(आप·) हे जलो (यत्) जो (व) तुम्हारी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चत) प्रदीप्त हो, (य·) जो (अस्मान्) हम से म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थः---मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(आप) हे जलो ! (यत्) जो (व) तुम्हारी (शोचि) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचत) शुद्ध कर दो, (य) जो (अस्मान्) हमसे मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणुत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(आप) हे जलो ! (यत्) जो (व) तुम्हारा (तेज) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणुत) कर दो (य) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे (अथवा) (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्म) अप्रिय करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-८ ॥ **ईश्वरो देवता । पूर्वार्धाः-१, २ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् २३; ३, ४ निचृत् साम्नी त्रिष्टुप् २१; ५ साम्नी बृहती १८; ६-७ भुरिक् साम्नी बृहतीछन्दः, १९; उत्तरार्धाः सर्वत्र साम्नी बृहती १८ अक्षराणि ॥**

म०—१-४ । कुसंस्काराणां ५-८ कुवासनानां च नाशायोपदेशः—म० १-४ कुसंस्कारों के और ५-८ कुवासनाओं के नाश का उपदेश ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

शेरभक । शेरभ । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ १ ॥

भाषार्थः—(शेरभक) अरे बधकपन मे मन लगाने वाले ! (शेरभ) अरे रग मे भंग डालने वाले ! [दुष्ट !] और (किमीदिन) अरे लुतरे लोगो ! (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये, और (हेति) चोट (पुन पुन) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे । तुम (यस्य) जिसके [साथी] (स्थ) हो, (तम्) उस (पुरुष) को (अत्त) खाओ, (य) जिस [पुरुष] ने (व) तुमको (प्राहैत्=प्राहैषीत्) भेजा है, (नम्) उस को (अत्त) खाओ, (स्वा=स्वानि) अपने ही (मासानि) मास की बोटिया (अत्त) खाओ ॥ १ ॥

भावार्थः—जैसे नीति निपुण राजा अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करता है कि शत्रु जो कुछ छलबल करे वह उसी को ही उलटा दु खदायी हो और उसके मनुष्य उसकी कुनीतियो को जान कर उसका ही नाश कर दे, और वह लोग

१--**शेरभक** । शसु हिसायाम्–ड । **कृञादिभ्यः सज्ञायां वुन्** (उ०५।३५) इति रभि[1] उत्सुकीभावे=अविचारप्रवृत्तौ– वुन् । शसति हन्ति येनेति श । शस्त्र हनन वधो वा । शे वधे । रभते उत्सुकीभवतीति शेरभक , तत्सम्बुद्धौ । अलुक् समास । हे हिसायामुत्सुक । **शेरभ** । **वृधिवपिभ्यां रन्** (उ० २ । २७) इति शीङ् स्वप्ने–रन् । भञ्जो आमर्दने–ड । शेव सुखनाम–निघ० ३ । ६ । शेर शेव सुख भनक्तीति शेरभ. सुखभञ्जक , तत्सम्बुद्धौ । **पुनः** । पन स्तुतौ–अर्, अकारस्य उत्वम् । द्वितीय-वारे । भेदे । निवृत्य । **वः** । युष्माकम् । **यन्तु** । इण् गतौ । गच्छन्तु । **यातवः** । अ० द्र० १ । ७ । १ । यत ताडने–उण् । ताडना । पीडा । **हेतिः** । अ० द्र० १।१३।३। हन हिसागत्यो –क्तिन् । हननम् । वज्र । **किमीदिनः** । अ० द्र० १ । ७ । १ । किम्+इदम्–इनि । पिशुना । **यस्य** । अस्मद्विरोधिन । **स्थ** । सहायका भवथ । **तम्** । विरोधिनम् । **अत्त** । भक्षयत । **वः** । युष्मान् ।

---

१ धातुपाठ मे रभ राभस्ये धातु पढा है, रभङ् नहीं । उसीसे यहाँ तात्पर्य है । सम्पा० ॥

आपस मे विरोध करके परस्पर मार डाले । इसी प्रकार आत्मजिज्ञासु पुरुष अपने शरीर और आत्मा की निर्बलता और दोषो और उनसे उत्पन्न दुष्ट फलो को समझ कर बुद्धिपूर्वक उन्हे एक एक करके नाश करदे, और जितेन्द्रिय हो कर आनन्द भोगे । १ ॥

सायणभाष्य मे 'स्वा' पद के स्थान मे 'सा' पद है और उसका अर्थ 'तस्य शत्रो यद्वा सा हेति' ऐसा किया है, हमारी समझ मे बहुवचनान्त (स्वा) पद ही ठीक है ॥

इस सूक्त के पहिले चार मन्त्रो मे पुल्लिङ्ग शब्दो का, और पिछले पॉच मन्त्रो मे स्त्रीलिङ्ग का सम्बोधन है ॥

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिःकिमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥२॥

शेवृधक । शेवृध । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ २ ॥

भाषार्थः—(शेवृधक) अरे बधक पन मे बढने वाले ! (शेवृध) अरे सुख के नाश करने वाले [दुष्ट !] और (किमीदिन) अरे लुतरे लोगो ! (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये और (हेति) (चोट) मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

प्र-अहैत् । हि गतौ—अन्तर्भावितण्यर्थ । लुडि सिचि वृद्धि । **बहुलं छन्दसि** (पा० ७ । ३ । ९७) इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (पा० ८ । २ । २९) इति सलोप । प्राहैषीत । प्रेषितवान् । **स्वा**[१] । स्वानि । **मांसानि** । अ० द्र० १ । ११ । ४ । मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्यय । पिशितानि ॥

२-**शेवृधक** । शसु हिसायाम्—ड । **बहुलमन्यत्रापि** (उ० २ । ३७) इति वृधु वृद्धौ क्वुन् । शे शस्त्रे हनने वधे वा वर्धते दीप्यते वा स शेवृधक । तत्सम्बुद्धौ । **शेवृध** । **सावसेर्ऋन्** (उ० २ । ९६) इति शेवृ सेवने—ऋन् । धक नाशने—डप्रत्यय । शेव सुखनाम—निघ० ३ । ६ । शेवृ शेव सुख धक्षयतीति शेवृध । हे सुखनाशक । अन्यत् पूर्ववत् ॥

---

१ सुपा सुलुक्० (पा० ७।१।३९) से यहाँ जस् को आकारादेश हुआ है ॥ सम्पा० ॥

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३॥

म्रोक । अनुऽम्रोक । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(म्रोक) अरे चोर ! (अनुम्रोक) अरे चोरो के साथी ! (किमीदिन) अरे तुम लुतरे लोगो ! (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये और (हेति) चोट (पुन पुन) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४॥

सर्प । अनुऽसर्प । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(सर्प) अरे साप [क्रूर स्वभाव !] (अनुसर्प) अरे साँपो के साथी ! (किमीदिन) अरे तुम लुतरे लोगो ! (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये और (हेति) चोट (पुन पुन) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे म० १॥ ४॥

भावार्थः--मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

३–**म्रोक । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (पा० ३ । ३ । ११८) इति म्रुचु गतौ-कर्तरि घप्रत्यय । **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (पा० ७।३।५२) इति कुत्वम् । म्रोचति धनादिकम् अपहृत्य छन्न सन् गच्छतीति म्रोक'–इति सायण' । हे चौर, म्लेच्छ । **अनुम्रोक ।** म्रोकान् अनु गच्छतीति अनुम्रोक । चौरसहायक ! ॥

४-**सर्प**—सृप्लृ गतौ–पचाद्यच् । सर्पति इतस्ततो गच्छतीति सर्प । हे हिंस्रजन्तुविशेष ! तद्वत् क्रूरस्वभाव पुरुष ! **अनुसर्प ।** सर्पान् अनुसृत्य सह व्याप्य गच्छतीति अनुसर्प । हे सर्पानुसारिन् । हिंस्रसहायक !॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमी-दिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(जूर्णि) अरी जूडी [जाडे के ज्वर] ! (किमीदिनी = ०न्य) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ !] (व) तुम्हारी (यातव) पीडायें और (हेति) चोट (पुन पुन) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो नीतिज्ञ पुरुष अपने मन की कुवासनाओ और उनके कारण को जानकर उनको सर्वथा मिटाता है, वह वशिष्ठ महा उपकारी जितेन्द्रिय होकर ससार का उपकार करके आनन्दित होता है ॥ ५ ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

उपब्दे । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमी-दिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(उपब्दे) अरी चिघारने वाली ! और (किमीदिनी = ०—न्य)

५—जूर्णि । **वीज्याज्वरिभ्यो निः** (उ० ४ । ४८) इति ज्वर रोगे—नि । **ज्वरत्वरश्रिव्यवि०** (पा० ६ । ४ । २०) इति वकारोपधयोरूठ् । शीतज्वरवद् दु खप्रदकुवासने । **किमीदिनीः । ऋन्नेभ्यो ङीप्** (पा० ४ । १ । ५) इति ङीप् । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०६) इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घ । किमीदिन्य , पिशुन्य ॥

६—उपब्दे । **सर्वधातुभ्यः इन्** (उ० ४ । ११८) इति उपपूर्वात् पद गतौ,

अरी तुम लुतरियो [कुवासनाओ !] (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये और (हेति) चोट (पुन पुन) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे म० ५ ॥ ६ ॥

भावार्थः—कुवासनाओ और कुचिन्ताओ से मनुष्य कठोरवादी हो जाता है ॥ ६ ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनोः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ७ ॥

अर्जुनि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(अर्जुनि) अरे कुटिनी [दूती !] (किमीदिनी = न्य) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ] (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये .. म० ५ ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे कुवासनाओ को कुटिनी वा दूती इत्यादि माना है—शेष मन्त्र ५ के समान ॥ ७ ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

भरूजि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(भरूजि—भरुजि) अरी नीच शृगाली [गीदडनी, लोमडी !]

वा वद व्यक्ताया वाचि—इन् । यद्वा, **कृत्यल्युटो बहुलम्** (पा० ३ । ३ । ११३) इति बहुलवचनात् **उपसर्गे घोः किः** (पा० ३ । ३ । ९२) इति दो अवखण्डने—कि. । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धि । उपब्दि, वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । उपेत्य द्यति खण्डयतीति । हे क्रूरशब्दकारिणि ॥

७—अर्जुनि । अर्जेर्णिलुक् च (उ० ३ । ५८) इति अर्ज लाभे, संस्कारे च—उनन् । **षिद्गौरादिभ्यश्च** (पा० ४ । १ । ४१) इति ङीष । हे कुट्टिनि ! ॥

८—भरूजि । भ + रुजो भङ्गे, वा रुज हिंसायाम्-क । भ—इति शब्देन रुज-

(किमीदिनी =०–न्य) अरी तुम लुतरी [कुवासनाओ !] (व) तुम्हारी (यातव) पीडाये, और (हेति) चोट (पुन पुन) लौट २ कर (यन्तु) चली जावे । तुम (यस्य) जिमकी [साथिनी] (रथ) हो (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (य) जिस [पुरुष] ने (व) तुमको (प्राहैत्) भेजा है, (तम्) उसे (अत्त) खाओ, (स्वा = स्वानि) अपने ही (मासानि) मास की बोटिया (अत्त) खाओ ॥ ८ ॥

भावार्थः—(भरूजी वा भरुजी) गीदडनी को कहते है । जैसे गीदडनी छल कपट करके पीडा देती है, ऐसे ही मनुष्य कुवासनाओ के कारण कपटी छली होकर सताने लगता है । कुवासनाओ के नाश करने का उपाय पुरुष को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये—म० ५ देखो ॥ ८ ॥

टिप्पणी—'भरूजि' पद के स्थान मे सायणभाष्य मे 'भरूचि' पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-५ ॥ पृश्निपर्णी देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

शत्रुनाशायोपदेश —शत्रुओ के नाश के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।

उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वी । पृ॒श्नि॒ऽप॒र्णी । अश॑म् । निः॒ऽऋ॑त्यै । अ॒कः॒ ।

उ॒ग्रा । हि । क॒ण्व॒ऽजम्भ॑नी । ताम् । अ॒भ॒क्षि॒ । सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(देवी) दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर

तीति भरुज , क्षुद्रश्रृगाल –इति शब्दकल्पद्रुमकोषे । **जातेरस्त्रीविषयाद्योपधात्** (पा० ४ । १ । ६३) इति ङीष्, उकारस्य छान्दसो दीर्घ । हे क्षुद्रश्रृगालि । तद्वत् कपटिनि ! ॥

१—**शम्** । सुखम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **देवी** । दीप्यमाना । **पृश्निपर्णी** । पृश्नि'—इति व्याख्यातम्, अ० द्र० २।१।१। स्पृश सस्पर्शने-नि , सलोप । पृश्नि = सूर्य , पृथिवी । **धापृवस्यज्यतिभ्यो नः** (उ० ३ । ६) इति पॄ पालनपूरणयो – नः । पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णं पत्र वा । स्त्रिया ङीष् । सूर्यस्य पृथिव्या वा परमेश्वरस्य पालनशक्ति । सूर्यवत् पृथिवी-वद्वा पर्णानि पत्राणि यस्या सा पृश्निपर्णी, ओषधिरूपा परमेश्वरशक्ति । पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधि'—इति सायण । पृश्नि स्वल्प पर्णमस्या —लता-

शक्ति] ने (नः) हमारे [पुरुषार्थियो के] लिये (शम्) सुख, और (निर्ऋत्यै) दु खदायिनी अलक्ष्मी, महामारी आदि पीडा के लिये (अशम्) दु ख (अकः= अकार्षीत्) किया है। (हि) क्योकि वह शक्ति (उग्रा) प्रचड और (कण्व-जम्भनी) पाप का नाश करने वाली है, [इसलिये] (ताम्) उस (सहस्वतीम्) बलवती को (अभक्षि) मैने भजा वा पूजा है ॥ १ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने सूर्य आदि बडे बडे लोको को धारण किया है और जैसे पृथिवी पर अन्नादि ओषधिया अपने पत्ते, फलादि से उपकार करती है, वैसे ही परमेश्वर की सृष्टि मे सूर्यादि लोक आकर्षण, धारण, वृष्टि आदि से परस्पर उपकारी होते है। परमेश्वर अपने आज्ञापालक पुरुषार्थियो को सुख, और आज्ञानाशक कर्महीनो को दु ख देता है। उस दयालु और प्रचड परमात्मा की आज्ञा मान कर हम सदा आनन्द भोगे ॥ १ ॥

टिप्पणी—'पृश्नि' शब्द का अर्थ सूर्य है–निरु० २। २४। पृथिवी छोटा और विचित्र भी है, 'पर्ण' का अर्थ पालन, और पत्ते है। सायणाचार्य ने **'पृश्निपर्णी'** का अर्थ चित्रपर्णी ओषधि लिखा है। शब्दकल्पद्रुमकोष मे वर्णन है कि 'पृश्निपर्णी' छोटे पत्ते वाली लता विशेष है, उसे बगला में "चाकुलिया" और नागरी मे "चकरौत्" कहते है, इसके गुण कटुत्व, और अतिसार कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, और दाह नाशक है ॥

विशेष, चाकुलिया इति बङ्गभाषा, चकरौत् इति हिन्दीभाषा, अस्याः गुणा — कटुत्वम्, अतीसारकासवातरोगज्वरोन्मादव्रणदाहनाशित्वञ्च, इति शब्दकल्पद्रुमे। **अशम्**। अशान्तिम्। दु खम्। **निर्ऋत्यै**। अ० द्र० १। ३१। २। नि + ऋ गतौ—क्तिन्। अलक्ष्म्यै, निर्धनतायै। **अकः**। डुकृञ् करणे लुङ्। **मन्त्रे घस०** (पा० २। ४। ८०) इति च्लेर्लुक्। गुणे। **हल्ङ्याब्भ्यो०** (पा० ६। १। ६८) इति तिलोप। अकार्षीत्, कृतवती। **उग्रा**। अ० द्र० १। १०। १। उच समवाये–रक्। प्रचण्डा। **हि**। यस्मात् कारणात्। **कण्वजम्भनी**। **अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्** (उ० १। १५१) इति कण गतौ, आर्त्तस्वरे—क्वन्। कण्यते अपोह्यते तत् कण्व पापम्। जभि नाशने—ल्युट्, ङीप्। पापस्य नाशयित्री। **अभक्षि**। भज सेवायाम्, लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचनम्। अह सेवितवानस्मि। **सहस्वतीम्**। सहस् मतुप् ङीप्। **तसौ मत्वर्थे** (पा० १। ४। १९) इति भत्वेन अपदत्वाद् रुत्वाभाव। अभिभवनशीलाम्। बलवतीम् ॥

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥

सहमाना । इयम् । प्रथमा । पृश्निऽपर्णी । अजायत । तया । अहम् । दुःऽनाम्नाम् । शिरः । वृश्चामि । शकुनेःऽइव ॥ २ ॥

भाषार्थः—(सहमाना) जीतने वाली (इयम्) यह (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली औषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (प्रथमा) सब से पहिले (अजायत) प्रकट हुयी है। (तया) उस [शक्ति] से (अहम्) मै (दुर्णाम्नाम्) बुरे नाम वाले दोषो के (शिर) शिर को (वृश्चामि) तोड डालूँ, (इव) जैसे (शकुने) पक्षी के [शिर को तोड डालते है] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य आदिकारण परमेश्वर के विश्वास पर अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढाकर अपने शत्रुओ और दोषो का नाश करके आनन्द भोगे ॥ २ ॥

टिप्पणी—'दुर्नाम' शब्द का शब्दकल्पद्रुम कोष मे 'अर्श' अर्थात् बवासीर रोग अर्थ भी लिखा है ॥

२—सहमाना । षह मर्षणे—शानच् । दोषान् अभिभवन्ती । **इयम्** । समीपवर्त्तिनी पृश्निपर्णी । **प्रथमा** । **प्रथेरमच्** । (उ० ५ । ६८) इति प्रथ प्रख्याने —अमच्, टाप् । प्रख्याता । मुख्या । सृष्टे प्राग्भवा । **पृश्निपर्णी** । म० १ । **अजायत** । जनी प्रादुर्भावे—लङ् । **ज्ञाजनोर्जा** (पा० । ७ । ३ । ७९) इति जा इत्यादेश । प्रादुरभवत् । **दुर्णाम्नाम्** । दुर्दुष्ट निन्दित नाम येषाम् । दुष्टदोषानाम् । दुर्नाम, अर्शो रोग —इति शब्दकल्पद्रुमे । **शिरः** । **श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च** (उ० ४ । १९४) इति श्रिञ सेवने—असुन्, स च कित्, धातो शिरादेशश्च । मस्तकम् । **वृश्चामि** । ओव्रश्चू छेदने । छिनद्मि । **शकुनेरिव** । **शकेरुनोन्तोन्त्युनयः** (उ० ३ । ४९) इति शक्लृ शक्तौ—उनि । यथा पक्षिण शिर खड्गादिक विनापि छिद्यते ॥

अ॒रा॒यम॑सृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति ।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च ॥ ३ ॥

अ॒राय॑म् । अ॒सृ॒क्ऽपावा॑नम् । यः । च॒ । स्फा॒तिम् । जिही॑र्षति ।
ग॒र्भ॒ऽअ॒दम् । कण्व॑म् । ना॒श॒य । पृश्नि॑ऽपर्णि । सह॑स्व । च॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(पृश्निपर्णि) हे सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (अरायम्) निर्धनता को, (च) और (य) जो [रोग] (स्फातिम्) बढवार को (जिहीर्षति) छीनना चाहे, [उस] (असृक्पावानम्) रक्त पीने वाले, और (गर्भादम्) गर्भ खाने वाले [गर्भाधान शक्ति का नाश करने वाले] (कण्वम्) पाप [रोग] को (सहस्व) जीत ले (च और (नाशय) मिटा दे ।। ३ ।।

भावार्थः—जिन आलस्यादि दोषो और ब्रह्मचर्यादि खण्डन रूप कुकर्मो से हम धन हीन, तन क्षीण, मन मलिन होकर वंशच्छेद करे, ऐसे दोषो को हम सर्वथा त्यागे, और उस (पृश्निपर्णी) सूर्यादि जगत् के रचक, पोषक अख-ण्डव्रत परमात्मा का ध्यान करके विद्यावृद्धि धनवृद्धि और कुलवृद्धि करके आनन्द भोगे ।। ३ ।।

३—**अरायम्** । रा दाने-घञ् युक् आगम । नञ्समास । निर्धनताम् । **असृक्पावानम्** । असु क्षेपणे, यद्वा असूञ् दीप्तिग्रहणगतिषु–ऋजिप्रत्यय [१] । अस्यते क्षिप्यते नाडीभि । यद्वा अस्यति शरीर येन, यद्वा गृह्णाति गच्छति वा यत्तद् असृक्, रक्तम् । **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (पा० ३ । २ । ७४) इति पा पाने वनिप् । रुधिरस्य पानशील नाशकम् । **स्फातिम्** । स्फायी वृद्धौ -क्तिन् । वृद्धिम् । **जिहीर्षति** । हृञ् हरणे--सनि लट् । हर्त्तु इच्छति नाशयितुम् उपक्रमते । **गर्भादम्** । **अदोऽनन्ने** (पा० ३ । २ । ६८) इति गर्भ+अद भक्षणे–विट् । गर्भस्य भक्षकम् । **कण्वम्** । व्याख्यातम् (कण्वजम्भनी) इति शब्दे--म० १ । कण्यते अपोह्यते इति कण्व पापम् । **अर्श आदिभ्योऽच्** (पा० ५ । २ । १२७) इति मत्वर्थे अच् । पापयुक्त दु खकर रोगम् । **नाशय** । मारय । **पृश्निपर्णि** । म० १ । **सहस्व** । अभिभव ।।

---

१ असु क्षेपे से ऋजि प्रत्यय की कल्पना करने की अपेक्षा सृज विसर्गे धातु से क्विन् प्रत्यय क ना अधिक उचित है । अर्थात् न सृज्यते इतररागवत् ससृज्यते सहजत्वादिति असृक्=रुधिर ।। सम्पा० ।।

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

गिरिम् । एनान् । आ । वेशय । कण्वान् । जीवितऽयोपनान् । तान् । त्वम् । देवि । पृश्निऽपर्णि । अग्निःऽइव । अनुऽदहन् । इहि ॥ ४ ॥

भाषार्थः--(देवि) हे दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णि) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधिरूप परमेश्वर शक्ति] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणो के मोहने वाले [व्याकुल करने वाले] (कण्वान्) पाप रोगो को (गिरिम्) पहाड [अगम्य स्थान] मे (आ वेशय) गाड दे । और (त्वम्) तू (अनुदहन्) क्रम से दाह करती हुई (अग्नि इव) आग के समान (तान्) उन पर (इहि) पहुच ॥ ४ ॥

भावार्थः--जिन (कण्वान्) आत्म दोषो से मनुष्य का जीवन द्विविधा में पडे और विघ्नो मे फँसकर अपकीर्ति मिले, उन दु खदायी दोषो को परमेश्वर का सहाय लेकर सर्वथा नाश करे ॥ ४ ॥

टिप्पणी---पातञ्जल योगदर्शन, पाद १ सूत्र से इन विघ्नो का वर्णन किया है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल-
ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥

४—**गिरिम्** । **कॄगॄशॄपॄकुटि॰** (उ॰ ४ । १४३) इति गॄ निगरणे, अथवा गृणाति स्तुतिकर्मा—निरु॰ ३ । ५ । इप्रत्यय , किच्च । गिरति धारयति पृथिवी ग्रियते स्तूयते गुरुत्वाद्वा । पर्वतम् । अगम्यस्थानम् । **एनान्** । समीपस्थान्, प्रसिद्धान् । **आ+वेशय** । द्विकर्मक । प्रवेशय, स्थापय । **कण्वान्** । म॰ ३ । दु खकरान् दोषान् । **जीवितयोपनान्** । जीव प्राणधारणे—भावे क्त । **कृत्यल्युटो बहुलम्** (पा॰ ३ । ३ । ११३) इति युप विमोहने—कर्तरि ल्युट् । जीवनस्य विमोहकान । **अनुदहन्** । अनुक्रमेण भस्मीकुर्वन् । **इहि** । इण् गतौ—लोट् । गच्छ, प्राप्नुहि आक्रमस्व । अन्यद् गतम् ॥

१—(व्याधि) रोग, २—(स्त्यान) भारीपन, ३—(सशय) द्विविधा, ४—(प्रमाद) भूल, ५—(आलस्य) ढीलापन, ६—(अविरति) जजाल मे फस जाना, ७—(भ्रान्तिदर्शन) भ्रम वा अज्ञान से कुछ का कुछ देखना, ८—(अलब्ध-भूमिकत्व) ठिकान का न पाना, और ६—(अनवस्थितत्वानि) अदृढता, (चित्तविक्षेपा) चित्त की हलचले है और (ते अन्तराला) वे विघ्न है ॥

परांच एनान् प्र णुंद कण्वान् जीवितयोपंनान् ।
तमांसि यत्र गच्छंन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम् ॥ ५ ॥

परांचः । एनान् । प्र । नुद । कण्वान् । जीवितऽयोपंनान् ।
तमांसि । यत्र । गच्छंन्ति । तत् । क्रव्यऽअदः । अजीगमम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणो के मोहने वाले (कण्वान्) पाप रोगो को (पराच) ओधे मुख (प्र णुद) ढकेल दे । (यत्र) जहा (तमासि) अन्धकार (गच्छन्ति) व्याप्त रहते है, (तत्=तत्र) वहाँ (क्रव्याद) मास खाने वाले [रोगो] को (अजीगमम्) मैने पहुँचा दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जैसे राजा महापापी दुराचारी पुरुष को बन्ध करके अँधेरे कारागार मे डाल देता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष व्यायाम करने और

५—**पराचः** । परा प्रातिलोम्ये, अनादरे, न्यग्भावे, तत्पूर्वाद् अञ्चु गति-पूजनयो —क्विन्, शसि रूपम् । पराङ्मुखान्, विमुखान् । **एनान्** । समीपस्थान् । अस्माक कुमस्कारोत्पन्नान् । **प्र + नुद** । णुद प्रेरणे । प्रेरय । अपसारय । **तमांसि** । तमु काक्षायाम्-असुन् । क्लेशहेतुका । अन्धकारा । **यत्र** । यत् स्थानम् । **गच्छन्ति** । व्याप्नुवन्ति । **तत्** । नि सूर्यस्थानम् । **क्रव्यादः** । क्लव भये[1]-यत् । रलयोरेकत्वात् । **क्रव्ये च** (पा० ३ । २ । ६९) क्रव्योपपदाद् अद

---

१ क्लव भये धातु धातुपाठ आदि मे कही नही है । भाष्यकार ने यह व्युत्पत्ति आप्ट आदि कोशो के आधार पर लिखी है । निरुक्त मे 'क्रव्य विकृत्ताज्जायते' (निरु० ६।११) ऐसी व्युत्पत्ति की है, जो कि सगत है । वस्तुत कृती छेदने से 'कृत्त' शब्द बनेगा । उसके उपपद रहते अद धातु से यहाँ औत्सर्गिक अण् (पा० ३ । २ । १) होकर कृत्त को क्रव्य भाव पृषोदरादीनि० (पा० ६ । ३ । १०३) से होकर क्रव्याद बन जायेगा । (द्र काशि ३ । २ । ६९) । कोशानुसारी व्युत्पत्ति करके क्रव्य बनाना एव विट् प्रत्यय करना यहाँ अशुद्ध है । क्रव्याद पक्वमासभक्ष (द्र न्या ३ । २ । ६९) ॥ सम्पा० ॥

पथ्य पदार्थों के सेवन से आलस्य, ज्वर आदि शारीरिक रोगों को मिटाकर अविद्यादि मानसिक रोगों का नाश करे ॥ ५ ॥

सूक्तम् २६ ॥

१---५॥ त्वष्टा सविता वा देवता । १–२ त्रिष्टुप्, ३-५ अनुष्टुप् ॥

सङ्गतिकरणोपदेश —मेल करने का उपदेश ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष । त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

आ । इह । यन्तु । पशवः । ये । पराऽईयुः । वायुः । येषाम् । सहऽचारम् । जुजोष । त्वष्टा । येषाम् । रूपऽधेयानि । वेद । अस्मिन् । तान् । गोऽस्थे । सविता । नि । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ :---(पशवः) वे पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इह) यहां (आ यन्तु) आ जावें, (ये) जो (परेयुः) भटक गये हैं। (येषाम्) जिनके (सहचारम्) साथ साथ चलना (वायुः) पवन ने (जुजोष) अङ्गीकार किया है। (त्वष्टा) सूक्ष्म क्रियाओं का रचने वाला [सूक्ष्मदर्शी पुरुष] (येषाम) जिनके (रूपधेयानि) रूपों [शारीरिक रूपों और मानसिक स्वभावों] को (वेद) पहिचानता है, (सविता) वह सब का चलाने वाला [गोपाल वा सभाप्रधान पुरुष] (तान्) उन [पशुओं] को (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) [गोठ, अर्थात् गोशाला वा सभा] में (नियच्छतु) बांध कर रखे ॥ १ ॥

भक्षणे—विट् । मांसभक्षकान् कुष्ठादिरोगान् । **अजीगमम्** । गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं प्रेरितवानस्मि ॥

१- **-इह** । अत्र गोष्ठे सभायां वा । **आ+यन्तु** । इण् गतौ । आगच्छन्तु । **पशवः** । द्र० अ० १ । १५ । २ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पशि आदेश । पशवः=व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ । मनुष्यगवादिप्राणिनः । जीवाः । **परा-ईयुः** । इण् गतौ—लिट् । विमुखा जग्मुः । **वायुः** । अ०२।२०।१। पवनः । **येषाम्** । पशूनाम् । **सहचारम्** । सह+चर गतौ—घञ् । सङ्गमनम् । **जुजोष** । जुषी प्रीतिसेवनयोः—लिट्, छन्दसि परस्मैपदम् । जुजुषे ।

भावार्थः—इस सूक्त मे (पशु) शब्द का अर्थ गौ आदि और सब प्राणी मात्र है। 'पशु व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले है—" निरु० ११। २९। अर्थात् मनुष्य आदि और गौ आदि। जैसे विचारशील गोपाल, गोरक्षक वायु लगने से इधर उधर भटकते हुये गौ आदि पशुओ को प्रेम के साथ बाडे मे लाकर बाँधता है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी प्रधान पुरुष अपने आश्रितो और सम्बन्धियो को, जो वायु लगने अर्थात् कुसस्कार पाने से भटक गये हो, उन्हे उपकार और प्रीति की दृष्टि से एकत्र करके सभा मे नियमबद्ध करे ॥ १ ॥

पशु शब्द प्राणी मात्र के अर्थ मे प्राय वेद मे आया है, जैसे—

त्वमी॑शिषे पशू॒नां पार्थि॑वानां॒ ये जा॒ता उ॒त वा॒ ये ज॒नित्राः॑ ॥ अ० २।२८।३ ॥

तू पृथिवी के पशुओ [प्राणियो] का राजा है जो उत्पन्न हुये है अथवा जो उत्पन्न होगे।

य ईशे॑ पशु॒पति॑ः पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्विपदा॑म् ॥ अ० २। ३४। १।

जो पशुपति चौपाये और जो दोपाये पशुओ का स्वामी है ॥

इ॒मं गो॒ष्ठं प॒शव॒ः सं स्र॑वन्तु॒ बृह॒स्पति॒रा न॑यतु प्रजा॒नन् ।
सि॒नी॒वा॒ली न॑य॒त्वाग्र॑मेषामाज॒ग्मुषो॑ अनुमते॒ नि य॑च्छ ॥ २ ॥

सेवते स्म। **त्वष्टा**। अ०। २। ५। ६। त्वक्षू तनूकरणे—तृन। व्यवहारतनूकर्ता। सूक्ष्मदर्शी पुरुष। **रूपधेयानि**। **भागरूपनामभ्यो धेयः**। (पा० वा० ५। ४। २५) नानारूपाणि। विविधस्वभावान्। **वेद**। विद ज्ञाने–लट्। वेत्ति। जानाति। **अस्मिन्**। निकटस्थे। **गोष्ठे**। अ० २। १४। २। गोशालायाम्, सभायाम्। **सविता**। अ० १। १८। २। पशुप्रेरक। सभाप्रधान। **नि+यच्छतु**। **इषुगमियमां छः** (पा० ७। ३। ७७) इति निपूर्वाद् यमे शपि छत्वम्। नियमयतु नियमे स्थापयतु ॥

इमम् । गोऽस्थम् । पशवः । सम् । स्रवन्तु । बृहस्पतिः । आ । नयत । प्रऽज्ञानन् । सिनीवाली । नयतु । आ । अग्रम् । एषाम् । आऽजग्मुषः । अनुऽमते । नि । यच्छ ॥ २ ॥

भाषार्थः- -(पशव) सब पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इमम्) इस (गोष्ठम्) स्थिर वचन वाले पुरुष [गोपाल वा प्रधान] से (सम् स्रवन्तु) आ आकर मिले और वह (बृहस्पति) बडे बडो का स्वामी [गोपाल वा सभापति] (प्रजानन्) पहचान २ करे [उनको] (आ नयतु) ले आवे (सिनीवाली) अन्न देने वाली देवी [गृहपत्नी वा नीतिविद्या, आप] (एषाम्) इन का (अग्रम्) आगमन (आ नयतु) स्वीकार करे। (अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि वाली [गृहपत्नी वा नीतिविद्या] (आजग्मुष) इन आये हुओ को (नियच्छ) नियम मे बाध कर रख ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे सायकाल मे गौ आदि मिल कर अपने गो वाले के पास आते है, और (बृहस्पति) बडे उपकारी गौ आदि का रक्षक उनको ढू ढ २ कर लाता है, और उस की गृहपत्नी आगे आकर उनको अन्न तृण आदि देकर प्रसन्न करती और अपने २ स्थान पर बाध देती है, इसी प्रकार उत्तम सभा-

२---**इमम्** । शुभगुणैर्निर्दिष्ट गोपाल प्रधानपुरुष वा । **गोष्ठम्** । गौर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । गवि वाचि तिष्ठतीति गोष्ठ । स्थिरवाच दृढ- वचन गोपाल प्रधानपुरुष वा । **पशवः** । म० १ । **सम्+स्रवन्तु** । स्रु गतौ । समेत्य गच्छन्तु । **बृहस्पतिः** । अ० २ । १३ । २ । बृहता महता प्राणिना पाता रक्षिता । गोप सभापतिर्वा । **आनयतु** । आगमयतु । **प्रजानन्** । प्र+ज्ञा-शतृ । विद्वान् । **सिनीवाली** । **इणूसिञ्जिदीङु- ष्यविभ्यो नक्** (उ० ३ । २) इति षिञ् बन्धने—नक् स्त्रिया ङीप् । वल सवरणे, यद्वा, बल प्राणने दाने—अण्, ङीप् । मिनीवाली, सिनमन्न भवति सिनाति भूतानि बाल पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती । निरु० ११ । ३१ । सिनी सिन- मन्न वलति धारयतीति । अन्नधर्त्री । अन्नवती गृहपत्नी नीतिविद्या वा । **आ+नयतु** । **छन्दसि परेऽपि** (पा० १ । ४ । ८१) इति उपसर्गस्य परत्वम् ।

पति अपने सगठित सभासदो को यथायोग्य आसन दे और नीति अर्थात् सुशीलता और विनय के साथ उनका आदर सत्कार करके नियम मे रक्खे ।। २ ।।

'अनुमते' पद के स्थान मे सायणभाष्य मे 'अनुगते' व्याख्यान है ।।

सं संस्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
संधान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ।। ३ ।।

सम् । सम् । स्रवन्तु । पशवः । सम् । अश्वाः । सम् । ऊँ इति । पुरुषाः ।
सम् । धान्यस्य । या । स्फातिः । सम् । स्राव्येण । हविषा । जुहोमि ।। ३ ।।

भाषार्थः—(पशव) गौ आदि (सम्) मिल कर, (अश्वा) घोडे (सम्) मिल कर, (उ) और (पुरुषा) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्रवन्तु) चले। और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फाति) बढती है, [वह भी] (सम्=सम् स्रवतु) मिल कर चले (सस्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) मैं ग्रहण करू ।। ३ ।।

भावार्थः—सब उपकारी गौ, अश्व आदि पशु और मनुष्य नियम के साथ

आगमयतु । **अग्रम्** । **ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०** (उ० २ । २८) इति अगि गतौ -रन् । अग्रत । पुरस्तात् । **आजग्मुषः** । आङ्+गमे क्वसु । **वसोः संप्रसारणम्** (पा० । ६ । ४ । १३१) इति शसि सप्रसारणम् । आगतान् । पशून् । **अनुमते** । अनु+मन ज्ञाने--क्तिन् । अनुमतिरनुमननात्--निरु० ११ । २९ । अनुकूलबुद्धियुक्ते । **नियच्छ** । नियमय ।।

३—सम् । सम्यक् । यथाविधि । समेत्य । **स्रवन्तु** । गच्छन्तु । **पशवः** । गवादय । **अश्वाः** । द्र० अ० १ । १६ । ४ । घोटा । **पूरुषाः** । द्र० अ० १ । १६ । ४ । मनुष्या । **धान्यस्य** । **दधातेर्यन्नुट् च** (उ० ५ । ४८) इति डुधाञ् धारणपोषणयो --यत् नुट् च । अन्नस्य । **स्फातिः** । द्र० अ० २ । २५ । ३ ।

मिल कर रहे, एव प्रयत्न पूर्वक पुष्कल जीविका प्राप्त करे, और प्रधान पुरुष उन के शिक्षादान तथा भरण पोषण की यथोचित सुधि रक्खे ।। ३ ।।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । सम् । आज्येन । बलम् । रसम् । सम्ऽसिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः । मयि । गोऽपतौ ॥४॥

भाषार्थः—(गवाम्) गौओ का (क्षीरम्) दूध [अपने मनुष्यो पर] (सम्) यथानियम (सिञ्चामि) मै सीचता हू, और [उन मनुष्यो के] (बलम्) बल और (रसम्) शरीर पोषक धातु को (आज्येन) घृत से (सम्) यथानियम [सीचता हू] (अस्मा म्) हमारे (वीरा) वीर पुरुष [दूध, घी आदि से] (ससिक्ता) अच्छे प्रकार सिचे रहे, [इसलिए] (मयि) मुझ (गोपतौ) गोपति मे (गाव) गौये (ध्रुवाः) स्थायी [रहे] ।। ४ ।।

भावार्थः—मनुष्य प्रयत्न से गौओ की रक्षा करके उन के दूध घी आदि के सेवन से अपने और अपने पुरुषो के शारीरिक धातुओ को पुष्ट कर के और बल और बुद्धि बढा कर शूर वीर बनावे । इसी प्रकार जो प्रधान पुरुष अपने उपकारी सभासदो को भरण पोषण आदि उचित व्यवहार से पुष्ट करते रहते है, वही नीति निपुण संसार की वृद्धि करते है ।। ४ ।।

समृद्धि । **सम्राज्येण हविषा जुहोमि** । अ० १ । १५ । १ । आर्द्रीभावयुक्तेन भक्त्या अन्नेन वा स्वीकरोमि ।।

४—**सम्** । यथाविधि । **सिञ्चामि** । षिच क्षरणे । आर्द्रीकरोमि । वर्धयामि । **गवाम्** । **गमेर्डोः** (उ० २ । ६७) धेनूनाम् । **क्षीरम्** । अ० १ । १५ । ४ । घस्लृ=अद भक्षणे ईरन् । दुग्धम् । **आज्येन** । अ० १ । ७ । २ । घृतेन । **बलम्** । अ० १ । १ । १ । सामर्थ्यम् । **रसम्** । अ० १ । ५ । २ । सारम् । वीर्य्यम् । देहस्थ भुक्तान्नादे परिणामम् । **संसिक्ताः** । षिच—क्त ।

टिप्पणी—इस मन्त्र के अर्थ से "दूधो नहाओ पूतो फलो" इस आशीर्वाद का मिलान कीजिये ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं १ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

आ । हरामि । गवाम् । क्षीरम् । आ । अहार्षम् । धान्यम् । रसम् ।
आऽहृताः । अस्माकम् । वीराः । आ । पत्नीः । इदम् । अस्तकम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(गवाम्) गौओ के (क्षीरम्) दूध को (आ हरामि) मै प्राप्त करू, [क्योकि दूध से] (धान्यम्) पोषण वस्तु अन्न और (रसम्) शारीरिक धातु को (आ अहार्षम्) मैने पाया है। (अस्माकम्) हमारे (वीरा) वीर पुरुष (आहृता) लाये गये है, और (पत्नी =पत्न्य) पत्निया भी (इदम्) इस (अस्तकम्=अस्तम्) घर मे (आ = आहृता) लायी गयी है ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यो को सदा गौओ की रक्षा करनी चाहिये, जिससे सब स्त्री पुरुष दूध घी का सेवन करके हृष्ट पुष्ट होकर शूर वीर रहे और घरो मे सब प्रकार की सम्पत्ति बढती जावे ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाक ॥

घृतदुग्धादिना ससिक्तशरीरा दृढगात्रा सन्तु । **वीराः** । अ० १ । १६ । ६ । शूरपुरुषा । **ध्रुवाः** । **ध्रुवः कः** (उ० २ । ६१) इति ध्रु स्थैर्ये-क । दृढा । स्थिरा । **गावः** । धेनव । **मयि** । उपासके । धार्मिके पुरुषे । **गोपतौ** । गोस्वामिनि ॥

५—**आहरामि** । आनयामि । **गवां क्षीरम्** । म० ४ । धेनूना दुग्धम् । **अहार्षम्** । हृञ् हरणे—लुङ् । आनीतवानस्मि । **धान्यम्** । म० ३ । अन्नम् **रसम्** । म० ४ । शारीरिकधातुम् । **आहृताः** । आनीता । **वीराः** । अ० १ । २९ । ६ । पराक्रमिण पुरुषा । **पत्नीः** । अ० २ । १२ । १ । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घ । पत्न्य । **अस्तकम्** । **हसिमृग्रिण्०** (उ० ३ । ८६) इति अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु-तन, स्वार्थे क. । अस्तम्= गृहम्—निघ० ३ । ४ ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २७ ॥

१–७ ॥ १–६ ओषधिर्देवता, ७ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

बुद्ध्या विवाद कर्तव्य इत्युपदिश्यते--बुद्धि से विवाद करे, इसका उपदेश ॥

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शत्रुः । प्राशम् । जयाति । सहमाना । अभिऽभूः । असि ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ १ ॥

भाषार्थः—(शत्रु) बैरी (प्राशम्) प्रश्न कर्ता [मुझ] को (न इत्) कभी न (जयाति) जीते, [हे बुद्धि] तू (सहमाना) जयशील और (अभिभू) प्रबल (असि) है । (प्राशम्) [मुझ] प्रश्न कर्ता के (प्रतिप्राश) प्रतिकूल वादियो को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ज्वरादिताप हरने वाली औषध के समान बुद्धि उन सबको] (अरसान्) नीरस [फीका] (कृणु) कर ॥

भावार्थः—इस सूक्त मे ओषधि के उदाहरण से बुद्धि का ग्रहण है । ओषधि का अर्थ निरु० ९ । २७ मे किया है "औषधिये ओषत्, दाह वा ताप को पी लेती हैं अथवा ताप मे इनको पीते है, अथवा ये दोष को पी लेती है" ।

१—**न** । निषेधे । **इत्** । अवधारणे । एव । **शत्रुः** । अ० २ । ५ । ३ । विपक्ष । प्रतिवादी । **प्राशम्** । **क्विब् वचिप्रच्छिश्रि०** (उ० २ । ५७) इति प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्--क्विप्, दीर्घ सम्प्रसारणाभावश्च । **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (पा० ६।४।१९) इति च्छस्य श । प्रष्टार वादिन माम् । **जयाति** । जयतेर्लेटि आडागम । जयतु । अभिभवतु । **सहमाना** । अ० २ । २५ । २ । जेत्री । **अभिभूः** । **भुवः संज्ञान्तरयोः** (पा० ३।२।१७९) इति अभि + भू-क्विप् । अभिभवित्री । **प्रतिप्राशः** । प्रति + प्रच्छ कर्त्तरि क्विप । **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (पा० २ । ३ । ६९)

मन्त्र का आशय जिस प्रकार शुद्ध परीक्षित ओषधि के सेवन करने से ज्वर आदि रोग नाश होते है, ऐसे ही मनुष्य के बुद्धि पूर्वक, प्रमाण युक्त विवाद करने से बाहिरी और भीतरी प्रतिपक्षी हार जाते हैं ॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ २ ॥

सुऽपर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् ।
नसा । प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थः–(सुपर्ण) सुन्दर पक्ष वाले [गरुड, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (अनु=अन्विष्य) ढूंढ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकर) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्रबुद्धि और बलवान् [पुरुष] ने (त्वा) तुझको (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (प्राशम्) मुझ प्रश्न कर्त्ता के (प्रतिप्राश) प्रतिवादियो को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ २ ॥

इति तृन् ग्रहणात् । तद्वाचके क्विपि प्रत्ययेऽपि (प्राशम्) इत्यस्य कर्मत्वम् । प्रतिकूलप्रष्टॄन् । प्रतिवादकान् । **जहि** । हन हिंसागत्यो –लोट् । नाशय । पराजितान् कुरु । **अरसान्** । नीरसान् । निर्वीर्यान् । **कृणु** । कुरु । **ओषधे** । अ० १ । २३ । १ । उष दाहे–घञ् । ततो धेट् पाने–कि । ओषधय. ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोष धयन्तीति वा–निरु० ६ । २७ । ओष दाह धयति पिबति नाशयतीति ओषधि । यवादिधान्यम् । रोगनाशक-द्रव्यम् । तापनाशिका बुद्धि । तत्सबुद्धौ ॥

२–**सुपर्णः** । **धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः** (उ० ३ । ६) इति सु+पॄ पालनपूरणयोः–न , यद्वा । पत गतौ–नप्रत्यय तकारस्य रेफ । सुपतन शोभनगमन । शीघ्रगामी । गरुड । पक्षिमात्रम् । **अनु** । अन्विष्य । **अविन्दत्** । विद्लृ लाभे लङ् । **शे मुचादीनाम्** (पा० ७ । १ । ५९) इति नुम् । अलभत । **सूकरः** ।

भावार्थः—(सुपर्ण) गिद्ध, मोर आदि पक्षी बडे तीव्रदृष्टि होते है और सूकर एक बलवान् पशु अपनी नासिका से अपने खाद्य तृण को पृथिवी मे से खोद कर खा जाता है। इसी प्रकार दूरदर्शी परिश्रमी और बलवान् पुरुष बुद्धि की महिमा को साक्षात् करके यथायोग्य उसका प्रयोग करते है और सदा जय पाते है ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ह च॒क्रे त्वा॑ बा॒हाव॑सु॒रेभ्य॒ स्तरी॑तवे ।
प्राशं॒ प्रति॑प्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । ह॒ । च॒क्रे॒ । त्वा॒ । बा॒हौ । असु॑रेभ्यः । स्तरी॑तवे ।
प्राश॑म् । प्रति॑ऽप्राशः । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) बडे ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (ह) ही (त्वा) तुझको (बाहौ) अपनी भुजा पर (असुरेभ्यः) असुरो से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (चक्रे) किया है। (प्राशम्) [मेरे] प्रश्न के (प्रतिप्राश) प्रतिवादियो को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ३ ॥

ॠदोरप् (पा० ३ । ३ । ५७) इति सु+कॄ विक्षेपे, कॄञ् हिसायाम्, वा कॄङ् विज्ञाने वा-अप् । अथवा, टप्रत्यय । उकारस्य दीर्घः । अथवा, सू इति शब्द करोति, सू+कॄ–ट । सुकिरति भूमि सुकृणाति मनुष्यान् यद्वा सुकारयते विजानाति खाद्य पदार्थान् । वराह । **अखनत्** । खनुअवदारणे–लङ । विदारितवान् । उद्धृतवान् । **नसा** । णस कौटिल्ये–ण्वुल्[२] । नासिकया ॥

३–इन्द्रः—अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् महाप्रतापी पुरुष । **ह** । हन हिसागत्यो –ड । प्रसिद्धम् । **चक्रे** । कृञ्–लिट् । कृतवान् । **त्वा** । त्वाम् । ओषधिम् । **बाहौ** । **कृवापाजिमि**० (उ० १ । १) इति वह प्रापणे, यद्वा, वाहृ प्रयत्ने–उण् । यद्वा, **अर्जिदृशिकमि**० (उ० १।२७) इति बाधृ विलोडने–कु , धस्य हः । बकारवकारयोरेकत्वम् । भुजे । **असुरेभ्यः** । **सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्** । (उ०२ । २४) इति षु ऐश्वर्यप्रसवयो –क्रन् । यद्वा, सुर दीप्त्यैश्वर्ययो –कप्रत्यय । देवनिरोधिभ्य । अपण्डितेभ्य । राक्षसेभ्य सकाशात् । (असुरेभ्यस्तरीतवे)

---

१ धातुपाठ मे यह धातु एव इसका अर्थ दोनो ही नही है।

२ नासिका को पद्दन्नोमास्० (६ । १ । ६३) से यहाँ नस् आदेश होकर तृतीयैकवचन में 'नसा' बना है ॥ सम्पा० ॥

भावार्थः—(इन्द्र) महाप्रतापी महाबली पुरुष ही अपने बुद्धि बल से (असुर) देवताओ के विरोधी अधर्मियो का नाश करते आये है, करते है और करेंगे ।। ३ ।।

सायणभाष्य मे 'स्तरीतवे" के स्थान मे "तरीतवे" है ।

पाटामिन्द्रो व्या॑श्नादसु॑रेभ्य स्तरी॑तवे ।
प्राशं प्रति॑प्राशो जह्यरसान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ४ ॥

पाटाम । इन्द्रः । वि । आश्नात् । असुरेभ्यः । स्तरी॑तवे ।
प्राशम् । प्रति॑ऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) बडे ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पाटाम्) चमकती हुयी [ओषधि रूप बुद्धि] को (असुरेभ्य) असुरो से (स्तरीतवे) रक्षा के लिए (वि) विविध प्रकार से (आश्नात्) भोजन किया है। (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राश) प्रतिवादियो को (जहि) मिटा दे (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [औषधि के समान बुद्धि उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ।। ४ ।।

भावार्थः—जैसे उत्तम ओषधि के सेवन से रोग का नाश होकर शरीर और चित्त को आनन्द मिलता है, वैसे ही ऐश्वर्यशाली पुरुष बुद्धि के यथावत् प्रयोग से शत्रुओ का नाश करके शान्ति लाभ करते है ।। ४ ।।

वा शरि (पा० ८ । ३ । ३६) **खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः** । वार्त्तिकम् । इति विसर्जनीयलोप । **स्तरीतवे । तुमर्थे सेसेनसेऽसे०** (पा० ३ । ४ । ९ ।) इति स्तृञ् प्रीतिरक्षाप्राणनेषु [श० क० द्रुमकोषे] तवे प्रत्यय । रक्षितुम् ।।

४—पाटाम् । पट गतिदीप्तिवेष्टनेषु—घञ्, टाप् । गतिम्, दीप्तिम् । विद्याम् । ओषधिम् । अत्र प्रसङ्गात् सायणभाष्योक्तम् 'पाठ" इति पद व्याख्यायते तद् यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे—पठ्यते बहुगुणवत्तया कथ्यते इति । पठ—कर्मणि घञ् अजादित्वात् टाप्, लताविशेष , आकनादि इति भाषा, तत्पर्याय प्राचीना, दीपनी , अस्या गुणा , तिक्तत्वम् गुरुत्वम्, उष्णत्वम्, वातपित्तज्वर-

तीनो सहिताओ के 'पाटाम्' पद के स्थान पर सायणभाष्य मे 'पाठाम्' है, और भाष्यकार ने उसे ओषधि विशेष माना है। शब्दकल्पद्रुम कोष मे लिखा है कि 'पाठा' लता विशेष है, आकनादि भाषा नाम है। उसके गुण तिक्तता, गुरुता, उष्णता, और वातपित्त, ज्वरपित्त, दाह, अतीसार, शूल नाशन आदि है।

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया । अहम् । शत्रून् । साक्षे । इन्द्रः । सालावृकान्ऽइव ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अहम्) मै (तया) उस [ओषधि रूप बुद्धि] से (शत्रून्) बैरियो को (साक्षे) हरा दू, (इन्द्र) ऐश्वर्यशाली [वह पति] (साला वृकान् इव) जैसे घर के भेडियो, कुत्ते, बिलाव आदियो को। (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राश) प्रति वादियो को (जहि) मिटा दे (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थः—जैसे ओषधि बल से रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्य बुद्धि बल से, अपने दोषो और शत्रुओ का नाश करके आनन्द लाभ करे ॥ ५ ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

पित्तदाहातीसारशूलनाशित्वम् भग्नसन्धानकारित्व च। **वि** । विविधम्। **आश्नात्** । अश भोजने—लङ । अभक्षयत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—**तया** । पाटया। तत्प्रभावेन। **शत्रून्** । वैरिण । **साक्षे** । षह अभिभवे-लेटि उत्तमे। अभिभवामि। अमत्प्रायान् करोमि। **सालावृकान्** । सालाया गृहे वृक इव। शालावृकान्। कुक्कुरान् विडालान्। अन्यद् गतम् ॥

रुद्र । जलाषऽभेषज । नीलऽशिखण्ड । कर्मऽकृत् ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥६॥

भाषार्थः—(रुद्र) हे ज्ञान प्रापक ! हे दुःख विनाशक ! (जलाषभेषज) हे सुख दायक औषधि वाले ! (नीलशिखण्ड) हे निधियो वा निवास स्थानो के प्राप्त कराने वाले ! (कर्मकृत्) हे कार्य्य मे कुशल पुरुष ! (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राश) प्रतिवादियो को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि रूप बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर दे ॥ ६ ॥

भावार्थः—जैसे उपकारी चतुर सद्वैद्य सुपरीक्षित औषधियो से ससार मे उपकार करते है, वैसे ही मनुष्यो को अपने बुद्धि प्रभाव से कार्यकुशल होकर सदा उपकारी रहना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्य प्राशं त्वं जहि यो नं इन्द्राभिदासंति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

६—**रुद्र** । अ० १ । १९ । ३ । रुत्+र । रु गतौ—वधे क्विप् तुक् आगम । रवने गच्छति जानाति येनेति रुत् ज्ञानम् । रा दाने-क [1] । यद्वा । मत्वर्थे रप्रत्यय । ज्ञानदाता ज्ञानवान् वा रुद्र । यद्वा । रवते हिनस्तीति रुत्, दुःखम् । रुत् रवते नाशयतीति रुत्+र बधे-ड । दुःखनाशको रुद्र । तत्सबुद्धौ । **जलाषभेषज** । जनी-ड+लष कान्तौ—घञ् । जे जातं लष्यते, इति जलाषम् । ततो भिषज् चिकित्सायां सुखने-अच् । जलाष भेषज च सुखनाम—निघ० ३ । ६ । जलाष सुखकर भेषज यस्य । हे सुखप्रदौषधयुक्त । **नीलशिखण्ड** । **स्फायितञ्चिवञ्चि०** (उ० २ । १३) इति णीञ प्रापणे, रक् । रस्य ल । नीयते प्राप्यते इति नील, निधिभेद । सख्याविशेषो वा । यद्वा । नि+इल गतौ क । नील-नीड निवास । **अण्डन् कृसृभृवृञः** (उ० १ । १२९) इति शिखि गतौ—अण्डन्, स च कित् । नीलाना निधीना निवासाना वा शिखण्ड प्राप्तिर्यस्मात् स नीलशिखण्ड । हे निधीना निवासाना वा प्रापक ! **कर्मकृत** । कर्म+कृञ्-क्विप्, तुक् च । कर्माणि कृत्यानि करोतीति स' हे कृत्यकुशल ! । अन्यद् गतम् ॥

---

१ रुद्रो रौतीति सत , रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा (निरु १०।५) यह निरुक्त का पाठ यहा द्रष्टव्य है ॥ सम्पा० ॥

तस्य । प्राशम् । त्वम् । जहि । यः । नः । इन्द्र । अभिऽदासति । अधि । नः । ब्रूहि । शक्तिऽभिः । प्राशि । माम् । उत्ऽतरम् । कृधि ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बडे ऐश्वर्य वाले [पुरुष !] (त्वम्) तू (तस्य) उस पुरुष के (प्राशम्) प्रश्न को (जहि) मिटा दे, (य) जो (न) हमको (अभि-दासति) दबावे । (न) हम से (शक्तिभिः) अपनी शक्तियो के साथ (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूहि) कथन कर, और (प्राशि) विवाद मे (माम्) मुझ को (उत्तरम्) अधिक उत्तम (कृधि) कर दे ॥ ७ ॥

भावार्थः—जैसे न्यायी राजा सत्यवादी को जिता और मिथ्यावादी को हराता है । वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपने कुविचारो को दबाकर और सुविचारो को प्रबल करके आनन्द भोगे । ऐसे ही मनुष्य (इन्द्र) परम सामर्थ्य वाले होते है । ॥ ७ ॥

'प्राशि पद के स्थान पर सायणभाष्य मे 'प्राशम्' है ॥

सूक्तम् ॥ २८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढाने के लिए उपदेश ॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये । मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः ॥ १ ॥

७—तस्य । प्रतिवादिन । **प्राशम्** । म० १ । **सम्पदादिभ्यः क्विप्** (वा० पा० ३ । ३ । ९४) इति प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—भावे क्विप् । प्रश्नम् । **अभि-दासति** । दसु उपक्षये, ण्यन्तात् शप । **छन्दस्युभयथा** (पा० ३ । ४ । ११७) इति आर्धधातुकत्वात् **णेरनिटि** (पा० ६ । ४ । ५१) इति णिलोप । उपक्षपयति । तिरस्करोति । **अधि** । अधिकृत्य । **नः** । अस्मान् । **ब्रूहि** । कथय । निर्णय । **शक्तिभिः** । स्वसामर्थ्यैं । **प्राशि** । पूर्ववद् भावे क्विप् । प्रश्ने । **माम्** । प्रष्टारम् । सत्यवादिनम् । **उत्तरम्** । उत अतिशयेन उद्गत । उत् -तरप् । ऊर्ध्वम् । उत्कृष्टम् । **कृधि** । **श्रुशृणुपकृवृभ्यश्छन्दसि** (पा० ६ । ४ । १०२) इति हेर्धिरादेश । कुरु ॥

तुभ्यम् । एव । जरिमन् । वर्धताम् । अयम् । मा । इमम् । अन्ये । मृत्यवः । हिंसिषुः । शतम् । ये । माताऽइव । पुत्रम् । प्रऽमनाः । उपऽस्थे । मित्रः । एनम् । मित्रियात् । पातु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(जरिमन्) हे स्तुति योग्य परमेश्वर ! (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने के] लिये (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (वर्धताम्, बढे, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (शतम्) सौ (मृत्यव) मृत्यु है, [वे] (इमम्) इस पुरुष को (मा हिंसिषु) न मारे। (प्रमना) प्रसन्न मन (माता इव) माता जैसे (पुत्रम्) कुलशोधक पुत्र को (उपस्थे) गोद मे [पालती है वैसे ही] (मित्र) मृत्यु से बचाने वाला, वा बडा स्नेही परमेश्वर (एनम्) इस पुरुष को (मित्रियात्) मित्र सम्बन्धी (अहम) पाप से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य अपने जीवन को सदैव ईश्वर की आज्ञा पालन अर्थात् शुभ कर्म करने मे बितावे, और प्रयत्न करे कि उसकी मृत्यु निन्दनीय कामो मे कभी न हो और न उसके मित्रो मे फूट पडे और न वे दुष्कर्मी हो। और न कोई दुष्ट पुरुष अपने मित्रो को मता सके। जैसे प्रसन्नचित्त विदुषी माता की गोद मे बालक निर्भय क्रीडा करता है, वैसे हा वह नीतिज्ञ पुरुष परमेश्वर की शरण पाकर अपने भाई बन्धुओ के बीच सुरक्षित रह कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

१—**तुभ्यम्** । त्वदर्थम् । त्वदाज्ञापालनाय । **एव** । अवश्यम् । **जरिमन्** । जरास्तुतिर्जरते स्तुतिकर्मण —निरु० १० । ८ । **जनिमृङ्भ्यामिमनिन्** (उ० ४ । १४६) इति जरतेः स्तुतिकर्मण कर्मणि इमनिन् । हे स्तुत्य ! स्तूयमान परमेश्वर ! **वर्धताम्** । वृद्धि समृद्धि प्राप्नोतु । **अयम्** । निर्दिष्ट शरीरस्थो जीव । **एनम्** । निर्दिष्ट जीवम् । **अन्ये** । स्तुत्यकर्मभ्यो भिन्ना । **मृत्यवः** । अ० १ । ३० । ३ । मरणानि । **मा हिंसिषुः** । मा बधिषु । मा हिंसन्तु । **शतम्** । असख्याता । **माता** । अ० १ । २ । १ । मान पूजायाम्—तृन् । माननीया जननी । **इव** । यथा । **पुत्रम्** । अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधक सुतम् । **प्रमनाः** । प्र+मन ज्ञाने—असुन् । प्रसन्नचित्ता । **उपस्थे** । उप+ष्ठा—क । भुजान्तरे । क्रोडे । **मित्रः** । अ० १ । ३ । २ । मित्र प्रमीतेस्त्रायते सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा—निरु० १० । २१ । मरणाद्रक्षक । सर्वप्रेरक. परमेश्वरः । **एनम्** । जीवम् । **मित्रियात्** । **समुद्राभ्राद् घः** (पा० ४ । ४ । ११८) इति बाहुलकात् मित्र—घ । मित्रसम्बन्धिन । **अहसः** । अ० २ । ४ । ३ । पापात् । दोषात् । दुःखात् ।

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ। तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः । एनम् । वरुणः । वा । रिशादाः । जराऽमृत्युम् [जराऽअमृत्युम्] । कृणुताम् । सम्ऽविदानौ । तत् । अग्निः । होता । वयुनानि । विद्वान् । विश्वा । देवानाम् । जनिम । विवक्ति ॥ २ ॥

भाषार्थः—(मित्र) सर्व प्रेरक काम मे लगाने वाला दिन का समय (वा) और (रिशादा) श्रम का भक्षण करने वाला (वरुण) रात्रि का समय (संविदानौ) दोनो मिले हुए (एनम्) इस पुरुष को (जरामृत्युम्=जरा–अमृत्यु जरा-मृत्यु वा) स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करे। (तत्) इस लिए (होता) महादानी और (वयुनानि) सब व्यवस्थाओ को (विद्वान्) जानने वाला (अग्नि) अग्नि [तेजस्वी परमेश्वर] (देवानाम्) दिव्य पदार्थो वा महात्माओ के (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा=०–मानि) जन्म विधानो को (विवक्ति) बतलावे ॥ २ ॥

२—**मित्रः** । म० १ । मध्यस्थानीदेवता -निरु० १० । २१ । अहरभिमानी देव --इति सायणः । दिनकाल । **वरुणः** । मध्यस्थानीदेवता--निरु० १० । ३ । द्युस्थानी देवता--निरु० १२ । २१ । रात्र्यभिमानी [देव] -इति सायण । रात्रि समय । **एनम्** । जीवम् । **वा** । चार्थे । **रिशादाः** । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३ । १ । १३५) इति रिश हिंसायाम्--क । अद भक्षणे--असुन् । रिशाना हिंसकाना श्रमाणाम् अत्ता नाशयिता । **जरामृत्युम्** । अ० २ । १३ । २ । जरया स्तुत्या अमृत्यु अमरण यस्य तम् । यद्वा । जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युर्मरण यस्य तम् । यशस्विनम् । **कृणुताम्** । उभौ कुरुताम् । **संविदानौ** । **समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः** (पा० १ । ३ । २९) इति सपूर्वाद् वेत्तेरकर्मकात्--आत्मनेपदम् । लट शानच् । सगच्छमानौ । ऐकमत्य प्राप्तौ । **तत्** । तेन कारणेन । **अग्निः** । अ० १ । ६ । २ । व्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर ।

१--'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इतना ही पाणिनीय सूत्र है। शेष अश सूत्र मे सम्मिश्रित वार्तिक है, जो कि काशिकादि ग्रन्थो मे पठित है। विस्तार के लिए इस सूत्र पर महाभाष्यादि देखें ।। सम्पा० ।।

भावार्थः—जो मनुष्य दिन और रात ईश्वर की आज्ञा पालन मे लगे रहते हैं, वे ही अन्त में यशस्वी होते है, और सर्वज्ञ सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर उनके हृदय मे सब उत्तम २ व्यवस्थाओं और नियमो को प्रकट करता जाता है ॥२॥

त्वमी॑शिषे पशू॒नां पार्थि॑वाना॒ं ये जा॒ता उ॒त वा॒ ये ज॒नित्राः॑ । मेमं प्रा॒णो हा॑सी॒न्मो अ॑पा॒नो मेमं मि॒त्रा व॑धिषु॒र्मो अ॒मित्राः॑ ॥ ३ ॥

त्वम् । ई॒शि॒षे । प॒शू॒नाम् । पार्थि॑वानाम् । ये । जा॒ताः । उ॒त । वा॒ । ये । ज॒नित्राः॑ । मा । इ॒मम् । प्रा॒णः । हा॒सी॒त् । मो इति॑ । अ॒पा॒नः । मा । इ॒मम् । मि॒त्राः । व॒धि॒षुः । मो इति॑ । अ॒मित्राः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी पर के (पशूनाम्) पशुओ [जीवो] का (ईशिषे) स्वामी है, (ये) जो (जाता) उत्पन्न हो चुके है (उत) और (वा) अथवा (ये) जो (जनित्रा) उत्पन्न होगे । (इमम्)

होता । अ० १ । ११ । १ । हु-तृन् । दाता । आदाता । **वयुनानि** । **अजियमिशीङ्भ्यश्च** (उ० ३ । ६१) इति अज गतिक्षेपणयो —उनन्, वीभाव । अथवा वी गतिकान्तिव्याप्त्यादिषु—उनन् । वयुन वेते कान्तिर्वा प्रज्ञा वा—निरु० ५।१४। ज्ञातव्यानि कर्माणि । **विश्वा** । विश्वानि । सर्वाणि । **जनिमा** । **जनिमृङ्भ्यामिमनिन्** (उ० ४ । १४६) इति जन जनी वा—इमनिन् । जनिमानि, जन्मानि । प्रादुर्भावस्थानानि । **विवक्ति** । वचे —लेटि शप श्लु । **बहुलं छन्दसि** (पा० ७ । ४ । ७८) इत्यभ्यासस्य इकार । ब्रवीतु, उपदिशतु ॥

३---**त्वम्** । हे अग्ने, परमेश्वर ! **ईशिषे** । ईश ऐश्वर्ये । **ईशः से** (पा० ७ । २ । ७७) इडागम । ईश्वरोऽधिपतिरसि । **पशूनाम्** । अ० २ । २६ । १ । द्विपाच्चतुष्पाद्रूपाणा प्राणिनाम् । **अधीगर्थदयेशां कर्मणि** (पा० २ । ३ । ५२)इति षष्ठी । **पार्थिवानाम्** । **दित्यदित्या०** (पा० ४ । १ । ८५) अत्र वार्त्तिकम् । **पृथिव्या ञाञौ** इति पृथिवी—अञ् । ञित्वाद् आद्युदात्त । पृथिव्या भवानाम् । **ये** । पशव । **जाताः** । उत्पन्ना । **उत** । अपि । **जनित्राः** । **अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ** (उ० ४ । १७३) इति जन जनी—इत्र । जनिष्यमाणा । उत्पत्स्य-

इस पुरुष को (प्राण॰) प्राण [बाहिर जाने वाला श्वास] (मा हासीत्) न त्यागे, (मो=मा+उ) और न (अपान) अपान [भीतर आने वाला प्रश्वास]। (इमम्) इस पुरुष को (मित्रा) मित्र (मा वधिषु.) न मारे, (मो=मा+उ) और न (अमित्रा) अमित्र [विरोधी अर्थात् बैरी लोग] ॥ ३ ॥

भावार्थः—परमेश्वर महा उपकार करके ससार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिये कि उसका स्वयम्, आतमा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढाते रहे ॥ ३ ॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने । यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

द्यौः । त्वा । पिता । पृथिवी । माता । जराऽमृत्युम् [जराऽ अमृत्युम्] । कृणुताम् । संविदाने इति समऽविदाने । यथा । जीवाः । अदितेः । उपऽस्थे । प्राणापानाभ्याम् । गुपितः । शतम् । हिमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(पिता) पिता [के समान रक्षक] (द्यौ) सूर्य लोक और (माता) माता [के समान प्रीति करने वाली] (पृथिवी) पृथिवी लोक, (स विदाने) दोनो मिले हुये, (त्वा) तुझको (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्यु जरा-मृत्युं वा) स्तुति के

माना । **इमम्** । प्राणिनम् । **प्राणः** । अ० २।१५।१। ऊर्ध्वकायस्थो वायु । **मा हासीत्** । ओहाक् त्यागे—लुङ् । **न माङ्योगे** (पा० ६।४।७४) इति अडभाव । मा त्याक्षीत् । **मो** । मा+उ । मैव । **अपानः** । अप + अन प्राणने-अच् । अपानिति अधो नि सरतीति । अधरकायस्थो वायु । **मित्राः** । स्नेहिनः । बान्धवा । **मा वधिषुः** । **लुङि च** (पा० २।४। ४३) इति हन्तेर्वधादेश । मा हिंसिषु । **अमित्राः** । **अमेर्द्विषति चित्** (उ० ४।१७४) इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । पीडका, शत्रव ॥

४—**द्यौः** । अ० २। १२।६। द्योतमान सूर्य । **त्वा** । त्वा प्राणिनम् । **पिता** । अ० १ । २।१। रक्षक । जनक॰ । तद्वदुपकारक । **पृथिवी** । अ०

साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करे। (यथा) जिससे (अदिते) अखण्ड परमेश्वर [अथवा अदीन प्रकृति, वा पृथिवी] की (उपस्थे) गोद से (प्राणापानाभ्याम्) प्राण और अपान से (गुपित) रक्षा किया हुआ तू (शतम्) सौ (हिमा) हेमन्त ऋतुओ तक (जीवा) जीता रहे ॥ ४ ॥

भावार्थः—पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रक्खे कि सूर्य का तेज और आकर्षण आदि सामर्थ्य और पृथिवी की अन्न आदि की उत्पादनादि शक्ति, और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहे, जैसे माता पिता सन्तानो पर प्रीति रखते है, जिससे वह पुरुष परमेश्वर के अनुग्रह से पृथिवी पर यशस्वी होकर पूर्ण आयु भोगे ॥ ४ ॥

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्। मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टि-र्यथासत् ॥ ५ ॥

---

१ । २ । १ । प्रख्याता भूमि । **माता** । अ० १ । २ । १ । मानकर्त्री, जननी। **जरामृत्युम्** । व्याख्यात म० २ । यशस्विनम् । **कृणुताम्** । कुरुताम् । **संविदाने** । म० २ । ऐकमत्य प्राप्ते । **यथा** । यस्मात् कारणात् । **जीवाः** । जीव प्राणधारणे—लेटि आडागम । त्व जीवेः । प्राणान् धरेः । **अदितेः** । **कृत्यल्युटो बहुलम्** (पा० ३ । ३ । ११३) इति दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने क्तिन् । **द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति** (पा० ७ । ४ । ४०) इति इत्वम् । दीङ् पक्षे ह्रस्वत्व, नञ्समास । अदिति पृथिवी—निघ० १ । १ । वाक्—निघ० १ । ११ । गौ—निघ० २ । ११ । अदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । मध्यस्थानदेवतासु प्रथमगामिनी— निरु० ११ । २२ । अक्षीणस्य अखण्डस्य वा परमेश्वरस्य, अथवा अदीनाया देवमातु, मनुष्यसूर्यादिदिव्यपदार्थाना जनन्या. प्रकृतेः पृथिव्या वा। **उपस्थे** । क्रोडे । उत्सङ्गे । **प्राणापानाभ्याम्** । म० ३ । श्वासनिःश्वासाभ्याम् । **गुपितः** । गुपू रक्षणे—क्त । रक्षित । **शतम्** । अपरिमिता. । **हिमाः** । **हन्तेर्हि च** (उ० १ । १४७) इति हन हिसागत्यो—मक् । । हिम तुषारोऽस्ति यस्याम् । हेमन्तान् सवत्सरान् । **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (पा० २ । ३ । ५) इति द्वितीया ।

इमम् । अग्ने । आयुषे । वर्चसे । नय । प्रियम् । रेतः । वरुण । मित्र । राजन् । माताऽइव । अस्मै । अदिते । शर्म । यच्छ । विश्वे । देवाः । जरत्ऽअष्टिः । यथा । असत् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि तत्त्व ! (वरुण) हे जल तत्त्व ! (राजन्) हे बडी शक्ति वाले (मित्र) चेष्टा कराने वाले प्राण वायु ! (इमम्) इस पुरुष को (आयुषे) आयु [बढाने] के लिये और (वर्चसे) तेज वा अन्न के लिये (प्रियम्) प्रसन्न करने वाला (रेत) वीर्य वा सामर्थ्य (नय) प्राप्त करा। (अदिते) हे अदीन वा अखण्ड प्रकृति वा भूमि ! (माता इव) माता के समान (अस्मै) इस जीव को (शर्म) आनन्द (यच्छ) दान कर। (विश्वे) हे सब (देवा) दिव्य पदार्थ वा महात्माओ ! (यथा) जिससे [यह पुरुष] (जरदष्टि) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य अग्नि, जल, वायु, और पृथिवी तत्त्वो को प्रयत्न पूर्वक उचित खान पान ब्रह्मचर्यादि के नियम पालन से अनुकूल रक्खे, जिससे

५—**इमम्** । प्राणिनम् । **अग्ने** । हे अग्नितत्त्व ! **आयुषे** । **एतेर्णिच्च** (उ० २ । ११८) इति इण् गतौ—उसि । जीवनवर्धनाय । **वर्चसे** । अ०२।१३।२। तेजसे । अन्नाय । **नय** । प्रापय । द्विकर्मकः । **प्रियम्** । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३।१।१३५) इति प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च, क । **अचिश्नुधातुभ्रुवां०** (पा० ६।४।७७) इयङादेश । हितकरम् । **रेतः** । **स्रुरीभ्यां तुट् च** (उ० ४ । २०२) इति रीङ् क्षरणे[1]-असुन्, तुट् च । शुक्रम् । वीर्यम् । प्रजननसामर्थ्यम् । **वरुण** । **कृवृदारिभ्य उनन्** (उ० ३ । ५०) इति वृञ् वरणे-उनन् । उत्तम जलमिति दयानन्द सरस्वती तद्वृत्तौ । अपानवायु —यथा । ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ—इति दयानन्दकृतयजुर्वेदभाष्ये, २ । ३ । तत्सबुद्धौ । **मित्र** । हे प्राणवायो यथा पूर्वोक्तम् । **राजन्** । **कनिन् युवृषितक्षिराजि०** (उ० १ । १५६) इति राजृ दीप्तौ,-कनिन् । राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । हे दीप्यमान, हे ऐश्वर्यवत् । **मातेव** । जननीव । **अस्मै** । प्राणिने ।

---

१ धातुपाठ में रीङ् श्रवणे सर्वत्र पठित है, क्षरणे नही। महर्षि ने उणादि की व्याख्या मे रेतस् का अर्थ 'रीयते स्रवति' ही किया है। वास्तव मे धातुओ के अर्थ के विषय में महाभाष्य का 'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' (म भा १।३।१, ३।१।१६) यह सिद्धात याद रखना चाहिये, अत धातु पठित अर्थो से अतिरिक्त अर्थों मे भी धातुओ का प्रयोग होता है। इस विषय मे काशिका ३।१।७६ भी देखें। सम्पा० ॥

शरीर की पुष्टि और आत्मा की उन्नति करके उत्साही और यशस्वी होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक की संहिता और पद पाठ मे 'मित्र-राजन्' एक पद है। परन्तु सायणभाष्य और अन्य दो पुस्तको मे 'मित्र राजन्' दो पद है वही हमने लिये हैं ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—७ ॥ बृहस्पतिरिन्द्रो वा देवता । १ अनुष्टुप्; ४ चतुर्थे चतुर्थो दैवी त्रिष्टुप्; अन्ये पादास्त्रिष्टुप् ॥

मनुष्य स्वोन्नतिं कुर्यादित्युपदिश्यते—मनुष्य अपनी उन्नति करता रहे, इसका उपदेश ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो ३ बले ।

आयुष्यमिस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥१॥

पार्थिवस्य । रसे । देवाः । भगस्य । तन्वः । बले । आयुष्यम् । अस्मै । अग्निः । सूर्यः । वर्चः । आ । धात् । बृहस्पतिः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(देवा) हे व्यवहार कुशल महात्माओ ! (अग्निः) सर्वव्यापक, (सूर्य) लोको मे चलने वाला, वा लोको का चलाने वाला, (बृहस्पतिः) बडे बडे [ब्रह्माण्डो] का रक्षक परमेश्वर ! (पार्थिवस्य) पृथिवी पर वर्त्तमान

अदिते । म० ४ । हे प्रकृते । भूमे । **शर्म** । अ० १ ।२०।३। शॄ हिंसायाम्-मनिन् । गृहम्-निघ० ३ । ४ । सुखम्—निघ० ३।६। **यच्छ** । देहि । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । दिव्या पदार्था पुरुषा वा । **जरदष्टिः** । जीर्यतेरतृन् (पा० ३ । २ । १०४) इति बाहुलकात् जरते· स्तुतिकर्मण —अतृन् । अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च, अश भोजने—क्तिन् । जरता स्तुत्या सह अष्टि कार्यव्याप्तिर्भोजन वा यस्य सः । **यथा** । प्रकारेण । **असत्** । अस्तेर्लेटि अडागम । भवेत् ।

१—पार्थिवस्य । अ० २ । २८ । ३ । भूमे सम्बन्धिन· । **रसे** । रस शब्दे आस्वादने च-अच् । सारे शरीरपुष्टौ । **देवाः** । हे व्यवहारकुशला विद्वासः । **भगस्य** । अ० १ । १४ । १ । भज सेवायाम्-घ· । ऐश्वर्यस्य । **तन्वः** । अ० १ ।

(भगस्य) ऐश्वर्य के (तन्व) विस्तार के (रसे) रस अर्थात् तत्त्व ज्ञान, और (बले) बल मे (अस्मै) इस [जीव] को (आयुष्यम्) आयु बढाने वाला (वर्च॰) तेज [शरीर कान्ति और ब्रह्मवर्चस्] (आ) सब ओर से (धात् = धत्तात्) देवे ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वानो के सत्सग से आध्यात्मिक पक्ष मे परमेश्वर के ज्ञान से, और आधिभौतिक पक्ष मे (अग्नि) जो बिजुली आदि रूप से सब शरीरो में बडा उपयोगी पदार्थ है, और (सूर्य) जो अनेक बडे बडे लोको को अपने आकर्षण आदि मे रखता है, इनके विज्ञान से, अपनी शरीर कान्ति और आत्मिक शक्ति बढावे, और पृथिवी आदि पदार्थो के सारतत्त्व से उपकार लेकर प्रतापी, यशस्वी, और चिरजीवी बने ॥ १ ॥

आयु॑रस्मै धेहि जातवेदः प्र॒जां त्व॑ष्टरधि॒नि॒धे॑ह्य॒स्मै ।
रा॒यस्पोषं॑ सवित॒रा सु॑वा॒स्मै श॒तं जी॑वाति श॒रद॒स्तवा॒यम् ॥२॥

आयु॑ः । अ॒स्मै । धे॒हि॒ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । प्र॒ऽजाम् । त्व॒ष्टः॒ । अ॒धि॒ऽनि॒धे॑हि । अ॒स्मै । रा॒यः । पोष॑म् । स॒वि॒त॒रिति॑ । आ । सु॒व॒ । अ॒स्मै । श॒तम् । जी॒वा॒ति॒ । श॒रद॑ः । तव॑ । अ॒यम् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(जातवेद) हे प्राणियो को जानने वा धन देने वाले परमेश्वर ! [वा अग्नि] (अस्मै) इस [जीव] को (आयु) आयु (धेहि) दे, (त्वष्ट)

---

१ । १ । विस्तारस्य । **बले** । आत्मशरीरसामर्थ्ये । **आयुष्यम्** । **तस्मै हितम्** (पा० ५ । १ । ५) आयुष्-यत् । जीवनवर्धकम् । **अस्मै** । निर्दिष्टप्राणिने । **अग्निः** । व्यापक । तेजोविशेष । **सूर्यः** । अ० १ । ३ । ५ । **राजसूयसूर्य०** (पा० ३ । १ । ११४) अत्र सिद्धान्तकौमुदीटीकाया भट्टोजिदीक्षित । "सरत्याकाशे ससूर्य । यद्वा सुवति कर्मणि लोक प्रेरयतीति" । परमेश्वर । सूर्यलोकः । **वर्चः** । तेज शरीरकान्तिर्ब्रह्म वर्चस च । **आ** । समन्तात् । यथाविधि । **धात्** । छान्दस रूपम् । धत्तात् । धेयात् । स्थापयतु । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । महता पृथिव्यादिलोकाना रक्षक प्रकाशवृष्टिदानेनाकर्षणेन च । परमात्मा । सूर्य ॥

२—**आयुः** । जीवनम् । **अस्मै** । समीपस्थाय प्राणिने । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु । देहि । प्रयच्छ । **जातवेदः** । अ० १ । ७ । २ । वेदो धनम् ।

हे सूक्ष्म रचना करने वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इसको (प्रजाम्) प्रजा जन (अधि-निधेहि) अधिक २ सग्रह कर । (सवित) हे परम ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इसको (राय) धन की (पोषम्) पुष्टता (आसुव) भेज दे, (तव) तेरा [सेवक] (अयम्) यह [जीव] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओ तक (जीवाति) जीता रहे ।। २ ।।

भावार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के गुणो को विचार कर मनुष्य को (जातवेदा) अपने लोगो का जानने वाला, (त्वष्टा) विश्वकमा, सब कामो मे कुशल और (सविता) महाप्रतापी होकर अपनी सामाजिक और आर्थिक शक्ति बढा कर और ससार मे कीर्ति फैला कर पूर्ण आयु भोगनी चाहिये ।। २ ।।

२– अग्नि के प्रभाव से शरीर मे चेष्टा होती है, और सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से बल होता है । जो मनुष्य योग्य प्रयोग से इनको अनुकूल रखता है वह प्रजावान्, धनवान् और आयुष्मान् होता है ।। २ ।।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ । जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

निघ० २ । १० । जातेभ्य प्राणिभ्यो धन ज्ञान वा यस्मात् स जातवेदा. । हे प्राणिभ्यो धनप्रद, सर्वज्ञ, परमेश्वर। **प्रजाम्** । सन्तानम् । पुत्रपौत्र-भृत्यादिकम् । **त्वष्टः** । अ० २ । ५ । ६ । त्वक्षू तनूकरणे–तृन् । हे तनू-कारक । विश्वकर्मन् । सूर्य । **अधिनिधेहि** । अधिक बाहुल्येन स्थापय । **रायस्पोषम्** । अ० १ । ९ । ४ । रायो धनस्य पोष वर्धनम् । **सवितः** । अ० १।१८।२। षु प्रसवैश्वर्ययो वा षू प्रेरणे–तृचि । **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा** (पा० ७ । २ । ४४) विकल्पाद् इडागम । परमेश्वर । वृष्टिदानादिना शरीरिणा जनयिता सूर्य । हे उत्पादक । ऐश्वर्यवन् । **आ** । अभिमुखम् । **सुव** । षू प्रेरणे । प्रेरय । प्रापय । **शतम्** । बह्वी । अपरिमिता । **जीवाति** । जीव प्राणधारणे–लेट् । आडागम । जीवतु । **शरदः** । अ० १ । १० । २ । शरदृतून् । सवत्सरान् । **तव** । तवानुगृहीत । **अयम्** । प्राणी ।।

आऽशीः । नः । ऊर्जम् । उत । सौप्रजाःऽत्वम् । दक्षम् । धत्तम् । द्रविणम् । सऽचेतसौ । जयम् । क्षेत्राणि । सहसा । अयम् । इन्द्र । कृण्वानः । अन्यान् । अधरान् । सऽपत्नान् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(नः) हमारे लिये (आशी) आशीर्वाद [हो] (सचेतसौ) हे समान चित्त वाले [माता पिता तुम दोनो] ! (ऊर्जम्) अन्न, (सौप्रजास्त्वम्-=०=जस्त्वम्) उत्तम प्रजाये, (दक्षम्) बल, (उत) और (द्रविणम्) धन (धत्तम्) दान करो ।

(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर (अयम्) यह [जीव] (सहसा) [आप के] बल से (जयम्) जय और (क्षेत्राणि) ऐश्वर्य के कारण खेतो को (कृण्वान) करता हुआ, और (अन्यान्) जीवित [वा भिन्न भिन्न] (सपत्नान्) विपक्षियो को (अधरान्) नीचे [करता हुआ] [जीवाति=जीता रहे–म०२से]।।३।।

भावार्थः—इस मन्त्र मे (जीवाति) जीता रहे, इस पद की अनुवृत्ति म० २ से है। माता पिता प्रयत्न करे कि उनके पुत्र पुत्री सब सन्तान बडे

३—**आशीः** । आङ शासु इच्छायाम्-क्विप्, उपधाया इत्वम् । आशीर्वाद । मङ्गलवचनम् । **नः** । अस्मभ्यम्+अस्तु । **ऊर्जम्** । ऊर्ज बलप्राणनयो —क्विप् । ऊर्गित्यन्ननामोर्जयतीति सत । पक्व सुप्रवृक्णमिति वा–निरु० ३ । ८ । ऊर्जयति प्रबलति बलवन्त प्राणवन्त वा करोतीति सा ऊर्क् । अन्नम् । **उत** । अपि च । **सौप्रजास्त्वम्** । **नित्यमसिच् प्रजामेधयोः** (पा० ५ । ४ । १२२) इति सु+प्रजा–असिच् । छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ । सुप्रजस्त्वम् । शोभनसन्तानत्वम् । **दक्षम्** । दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च—अच् । पुष्टिम् । दक्ष·=बलम्–निघ० २ । ६ । **धत्तम्** । युवा धारयतम् । स्थापयतम् । **द्रविणम्** । **द्रुदक्षिभ्यामिनन्** (उ० २ । ५०) इति द्रु गतौ–इनन् । धनम् । निघ० २ । १० । **सचेतसौ** । समानमनसौ । मातापितरौ । **क्षेत्राणि** । **दादिभ्यश्छन्दसि** (उ० ४ । १७०) इति क्षि क्षयगतिनिवासेषु–त्रन् । क्षेत्र क्षियतेर्निवासकर्मण -निरु० १० । १४ । ऐश्वर्याणि । भूमिप्रदेशान् । **सहसा** । बलेन (तव दत्तेन) । **अयम्** । निर्दिष्ट पुरुष **इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् । **कृण्वानः** । कुर्वाणः । उत्पादयन् ।

अन्नवान्, बलवान् और धनवान् होकर, उत्तम गृहस्थी बने और जितेन्द्रिय होकर अपने दोषो और शत्रुओ का नाश करे ॥ ३ ॥

इन्द्रेण दुत्तो वरुणेन शिष्टो मुरुद्भिरुग्रः प्रहितो नु आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥

इन्द्रेण । दुत्तः । वरुणेन । शिष्टः । मुरुत्ऽभिः । उग्रः । प्रऽहितः । नुः । आ । अगन् । एषः । वाम् । द्यावापृथिवी इति । उपऽस्थे । मा । क्षुधत् । मा । तृषत् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(एष) यह [जीव] (इन्द्रेण) बडे ऐश्वर्य वाले परमात्मा करके (दत्त.) दिया हुआ, (वरुणेन) श्रेष्ठ गुण वाले पिता करके (शिष्ट) शिक्षा किया हुआ, और (मरुद्भि) शूर बीर महात्माओ करके (प्रहित) भेजा हुआ, (उग्र) तेजस्वी होकर, (न) हम लोगो मे (आ अगन् = अगमत्) आया है । (द्यावापृथिवी = ०—द्यौ) हे सूर्य और भूमि ! (वाम्) तुम दोनो की (उपस्थे) गोद मे [यह जीव] (मा क्षुधत्) न भूखा रहे और (मा तृषत्) न पियासा मरे ॥ ४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने अपनी न्याय व्यवस्था से इस जीव को मनुष्य जन्म दिया है, माता पिता ने शिक्षा दी है, विद्वानो ने उत्तम विद्याओ का अभ्यास कराया है, इस प्रकार वह अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन करके ससार मे प्रवेश करे, और सूर्य पृथिवी आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

अन्यान् । **माछाशसिभ्यो यः** (उ० ४ । १०९) इति बाहुलकात् अन प्राणने–य । अनिति जीवयतीति अन्य । जीवितान् । भिन्नान् । **अधरान्** । न+धृङ-अच् । अधोगतान् । नीचान् । **सपत्नान्** । अ० १ । ९ । २ । सहपतनशीलान् । शत्रून् ॥

४—**इन्द्रेण** । परमैश्वर्यवता परमात्मना । **दत्तः** । **दो दद्घोः** (पा० ७ । ४ । ४६) इति डुदाञ् दाने-क्त , दद्भाव । लब्धजीवन । **वरुणेन** । वृञ्–उनन् । श्रेष्ठजनकेन । **शिष्टः** । शासु अनुशिष्टौ–क्त । **शास इदङ्हलोः** (पा० ६ । ४ । ३४) इत्युपधाया इकार । **शासिवसिघसीनां च** (पा० ८।३।६०)

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत
ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै ।
पयस्वती इति । धत्तम् । ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी
इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥५॥

भाषार्थः—(ऊर्जस्वती = ०—त्यौ) हे अन्न वाली [पिता और माता] दोनो ! (अस्मै) इस [जीव को] (ऊर्जम्) अन्न (धत्तम्) दान करो, (पयस्वती= ०—त्यौ) हे दूध वाली तुम दोनो ! (अस्मै) इस को (पयः) दूध वा जल (धत्तम्) दान करो । (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी ने (अस्मै)

इति सस्य ष । शासित । अनुज्ञात । **मरुद्भिः** । अ० १ । २० । १ । शत्रुमारण शीलै शूरै । **उग्रः** । तेजस्वी । **प्रहितः** । हि गतौ वृद्धौ च–क्त । प्रेषित प्रेरित । **नः** । अस्मान् । **आ + अगन्** । गमेर्लुङि । **मन्त्रे घस०** (पा० २ । ४ । ८०) इति च्लेर्लुक् । **मो नो धातोः** (पा० ८।२।६४) इति नत्वम् । आगमत् **एषः** । प्राणी । **वाम्** । युवयो । **द्यावापृथिवी** । हे द्यावापृथिव्यौ । तत्रस्था पदार्था —इत्यर्थ । **उपस्थे** । क्रोडे । **मा क्षुधत्** । क्षुत्पीडा मा प्राप्नोतु । **मा तृषत्** । तृषार्तो मा भवतु । क्षुध बुभुक्षायाम् । ञितृष पिपासायाम् । उभयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ ॥

५—ऊर्जम् । म० ३ । अन्नम् । **ऊर्जस्वती** । ऊर्ज बलप्राणनयो.— असुन् । ततो मतुप् । मस्य व. । **तसौ मत्वर्थे** (पा० १ । ४ । १९) इति भत्वाद् रुत्वाभाव । विभक्ते पूर्वसवर्णदीर्घ । हे अन्नवत्यौ । बलवत्यौ मातापितरौ । **धत्तम्** । दत्तम् । **पयः** । अ० १ । ४ । १ । दुग्धम् । जलम् । **अस्मै** । जीवाय । **पयस्वती** । पूर्ववत् सिद्धि । दुग्धवत्यौ । जलवत्यौ । **द्यावापृथिवी** । अ० २ ।१।४। प्रगृह्यत्वाद् अचि प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । **अधाताम्** । डुधाञ्-लुङ् । दत्तवत्यौ । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । दिव्यगुणयुक्ता.

इस [जीव] को (ऊर्जम्) अन्न (अधाताम्) दिया है, (विश्वे) सब (देवा) दिव्यगुण वाले (मरुत) दोषनाशक, प्राण अपानादि वायु और (आप) व्यापन शील जल ने (ऊर्जम्) अन्न [अधु] [दिया है] ॥ ५ ॥

भावार्थः—माता पिता सतानो को ऐसी शिक्षा देकर उद्यमी करे कि वे खान पान आदि प्राप्त करके सदा सुखी रहे । सूर्य भूमि वायु जलादि प्राकृतिक पदार्थ खान पानादि देकर बडा उपकार कर रहे है । उस से सबको लाभ उठाना चाहिये ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषीष्ठाः । सुऽवर्चाः । सऽवासिनौ । पिबताम् । मन्थम् । एतम् । अश्विनोः । रूपम् । परिऽधाय । मायाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—[हे जीव !] (शिवाभि) मङ्गल करने वाली [विद्याओ वा शक्तियो] से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (तर्पयामि) मै तृप्त करता हू, तू (अनमीव) नीरोग और (सुवर्चा) उत्तम कान्ति वाला होकर (मोदिषीष्ठा) हर्ष प्राप्त कर (सवासिनौ)मिलकर निवास करने वाले दोनो [स्त्री पुरुष](अश्विनो)माता

मरुतः । अ० १ । २० । १ । अथातो मध्यस्थाना देवगणास्तेषा मरुत प्रथमागामिनो भवन्ति । मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा-निरु० ११ । १३ । वायु । ऋत्विज । शूरा. पुरुषा । **आपः** । अ० १ । ४ । ३ । जलम् । आप्ता प्रजा –दयानन्दभाष्ये, य० ६ । २७ ॥

६—**शिवाभिः** । शिव-टाप् । अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलवतीभिर्विद्याभि शक्तिभिर्वा । (शिवाभिष्टे) **युष्मत्तत्तक्षुःष्वन्तः पादम्** (पा० ८ । ३ । १०३) इति षत्वम् । **ते** । तव । **हृदयम्** । **वृहोः षुग्दुकौ च** (उ० ४। १००) इति हृञ् हरणे-कयन्प्रत्यय दुक् च । हरति स्वीकरोति विषयानिति । मन । **तर्पयामि** । सुखयामि । **अनमीवः** । **इण्शीभ्यां वन्** (उ० १ । १५२) इति अम रोगे–वन्, ईडागम ।

पिता के (रूपम्) स्वभाव और (मायाम्) बुद्धि को (परिधाय) सर्वथा धारण करके (एतम्) इस (मन्थम्) रस का (पिबताम्) पान करे ।। ६ ।।

भावार्थः—परमेश्वर कहता है कि हे मनुष्य तेरे आनन्द के लिये मैने तुझे अनेक विद्याये और शक्तिया दी है तुम दोनो स्त्री पुरुषो ! माता पिता रूप से ससार का उपकार करके इस [मेरे दिये] आनन्द रस को भोगो ।।६।।

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे वि॒द्धो अग्र॑ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ एषा। तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सु॑स्रोद् भि॒षजं॑स्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑ । ए॒ताम् । स॒सृजे॒ । वि॒द्धः । अग्रे॑ । ऊ॒र्जाम् । स्व॒धाम् । अ॒जरा॑म् । सा । ते॒ । ए॒षा । तया॑ । त्वम् । जी॒व॒ । श॒रदः॑ । सु॒ऽवर्चाः॑ । मा । ते॒ । आ । सु॒स्रो॒त् । भि॒षजः॑ । ते॒ । अ॒क्र॒न् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(विद्ध) सेवा किये हुये (इन्द्र) परमेश्वर ने (एताम्) इस (अजराम्) अक्षय (ऊर्जाम्) अन्नयुक्त (स्वधाम्) अमृत को (अग्रे)

रोगरहित । **मोदिषीष्ठाः** । मुद हर्षे । आशिषि लिङ्ग । मोदस्व । हृष्टो भव । **सुवर्चाः** । सु+वर्च-असुन् । सुतेजस्क । **सवासिनौ** । **व्रते** (पा० ३ । २ । ८०) इति वस निवासे-णिनि । समानस्य सभाव । **पुमान् स्त्रिया** (पा० १ । २ । ६७) इत्येकशेष. । समानम् एकत्र निवसन्तौ स्त्रीपुरुषौ । **पिबताम्** । पीत कुरुताम् । **मन्थम्** । मन्थ विलोडने-घञ् । विलोडनम् । रसम् । **एतम्** । निर्दिष्टम् । वेदोक्तम् । **अश्विनोः** । **अशूप्रुषिलटि०** (उ० १ । १५१) अशूङ व्याप्तौ सङ्घाते च-कन् । अश्वो व्याप्ति —इनिप्रत्यय । एकशेष पूर्ववत् । अश्विनौ द्यावापृथिव्या-वित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिका — निरु० १२ । १ । कार्येषु व्याप्तिमतो , जननीजनकयो । **रूपम्** । स्वभावम् । **परिधाय** । धृत्वा । **मायाम्** । **माछाषसिभ्यो यः** (उ० ४ । १०९) माङ् माने य', टाप् बुद्धिम् । प्रज्ञाम्-निघ० ३ । ९ ।।

७—इन्द्रः । परमैश्वर्यवान् परमेश्वर । **एताम्** । सर्वत्र विद्यमानाम् । **ससृजे** । सृज्--लिट् । सृष्टवान् । उत्पादितवान् । **विद्धः** । विध विधाने—क्त —

पहिले से (ससृजे) उत्पन्न किया है। (सा एष·) सो यह (ते) तेरे लिये [है], (तया) उस [अमृत] से (त्वम्) तू (सुवर्चा) उत्तम कान्ति वाला होकर (शरद) बहुत शरद् ऋतुओ तक (जीव) जीता रह, (आ) और [सा स्वधा] [वह] (ते) तेरे लिये (मा सुस्रोत्) न घट जावे । (भिषज) वैद्यो ने (ते) तेरे लिए [उस अमृत को] (अक्रन्) बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थः—अनादि परमेश्वर ने सृष्टि के पहिले मनुष्य को अमृत रूप सार्वभौम ज्ञान दिया है उसकी कभी हानि नही होती, मनुष्य जितना जितना उसे काम मे लाता है उतना ही वह बढता जाता है और सुखदायक होता है । उसके उचित प्रयोग से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है। बुद्धिमानो ने बुद्धि को महौषधि बताया है ॥ ७ ॥

'ऊर्जाम्' पद के स्थान पर सायणभाष्य मे 'ऊर्जम्'[1] व्याख्यात है।

तुदादि , छन्दसि अनिट् । विधेम = परिचरेम—निघ० ३।५ वेधितः, परिचरित. । सेवितः । **अग्रे** । सर्वेभ्य पूर्वम् । **ऊर्जाम्** । म० ३ । ऊर्क् = अन्न बल वा। तत , अर्शआद्यच्, टाप् । अन्नवतीम् । बलवतीम् । **स्वधाम्** । **आःसमिण्-निकषिभ्याम्** (उ० ४ । १७५) इति ष्वद आस्वादने—आ , दस्य ध । स्वाद-यति रसान् उत्पादयतीति स्वधा । यद्वा । **आतोऽनुपसर्गे कः** (पा० ३ । २ । ३) इति स्व + डुधाञ् धारणपोषणदानेषु-क·, टाप् । अथवा क्विप् । स्वम् आत्मान भोक्तृशरीर दधाति पुष्णातीति वा स्वधा । यद्वा । स्व + धेट् पाने क , टाप् । उदकम् । निघ० १ । १२ । अन्नम्-निघ० २ । ७ । पितृणाम् अन्नम् । अमृतम् । शरीरपोषक पदार्थम् । **अजराम्** । **ऋच्छेररः** (उ० ३ । १३१) इति अज[2] गति-क्षेपणयो —अरप्रत्यय , टाप् । गतिशीलाम् । उत्साहवर्धयित्रीम् । यद्वा । जॄष् वयोहानौ अङ्, टाप् । अक्षीणाम् । **ते** । तुभ्यम् । **तया** । स्वधया । **जीव** । प्राणान् धारय । **शरदः** । अ० १ । १० । २ । शरदृतून् । वर्षाणि । **आ** । आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्, पलोप. समुच्चये । यथा । देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ । **मा सुस्रोत्** । स्रु गतौ—लङि, छन्दसि शप श्लु । नष्टो मा भूत् । **भिषजः** । अ० २ । ६ । ३ । चिकित्सका । **अक्रन्** । **मन्त्रे घस०** (पा० २ । ४ । ८०) इति करोते — च्लेर्लुक् । अकार्षु ॥

---

१. यह अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखानुसारी पाठ है ॥ सम्पा० ॥

२. यहाँ भी बाहुलक का आश्रयण करना चाहिये ॥ सम्पा० ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पङ्क्तिः, २—५ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशायोपदेश —गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के लिये उपदेश ॥

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति । एवा मंथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥

यथा । इदम् । भूम्याः । अधि । तृणम् । वातः । मथायति । एव । मथ्नामि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अपऽगाः । असः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार (वात) वायु (भूम्या) भूमि के (अधि) ऊपर (इदम्) इस (तृणम्) तृण को (मथायति) चलाता है। (एव) वैसे ही (ते) तेरे (मन) मन को (मथ्नामि) मै चलाता हू, (यथा) जिससे तू (माम् कामिनी) मेरी कामना वाली (अस) होवे, और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझ से (अपगा) वियोग करने वाली (न) न (अस) होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी अपने अनुरूप गुणवती कन्या को ढूंढे, और कन्या भी अपने सदृश वर ढूंढे। इस प्रकार विवाह होने से वियोग न होकर आपस मे प्रेम बढता और आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

१—**यथा** । येन प्रकारेण । **इदम्** । परिदृश्यमानम् । **भूम्याः** । अ० १ । ११ । २ । पृथिव्या । **अधि** । उपरि । **तृणम्** । **तृहेः क्नो हलोपश्च** (उ० ५ । ८) इति तृह हिसायाम्-क्त, हलोप । तृह्यते हन्यते भक्ष्यते, गवादिभि । गवादिभक्ष्यम् । **वातः** । अ० १ । ११ । ६ । वायु । **मथायति** । **छन्दसि शायजपि** (पा० ३ । १ । ८४) इति बाहुलकात् मथे विलोडने—शायच् विलोडयति । भ्रामयति । **एव** । एवम् । तथा । **मथ्नामि** । मन्थ विलोडने । विलोडयामि । **ते** । तव । **मनः** । मन--असुन । चित्तम् । **यथा** । यस्मात् कारणात् । **माम्** । कामयमान वरम् । **कामिनी** । कर्मणिजन्ताद् औणादिक इनिप्रत्ययः । ङीप् । **भविष्यति गम्यादयः** (पा० ३ । ३ । ३) इति भविष्यदर्थत्वम् । **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः** (पा० २ । ३ । ७०) इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधत्वात् (माम्) इति

'भूम्या ' पद के स्थान पर सायणभाष्य मे 'भूम्याम्' पद व्याख्यात है।

इस मन्त्र का अन्तिम भाग "यथा मन्नापगा अस" अ० १ । ३४ । ५, और ६ । ८ । १-३ मे भी है।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥

सम् । च । इत् । नयाथः । अश्विना । कामिना । सम् । च । वक्षथः । सम् । वाम् । भगासः । अग्मत । सम् । चित्तानि । सम् । ऊँ इति । व्रता ॥ २ ॥

भाषार्थः---(च) और (अश्विना = ०—नौ) हे कार्य मे व्याप्ति वाले माता और पिता, तुम दोनो, (इत्) ही (कामिना = ०—नौ) कामना वाले दोनो [वर कन्या] को (सम्) मिल कर (नयाथः) ले चलो, (च) और (सम्) मिल कर (वक्षथ) आगे बढाओ। (वाम्) तुम दोनो के (भगास =भगा) सब ऐश्वर्य (सम् अग्मत) [हम को] मिल गये है, (चित्तानि) [हमारे] चित्त (सम = सम्+अग्मत) मिल गये है, (उ) और भी (व्रता = व्रतानि) नियम और कर्म (सम्+अग्मत) मिल गये है ॥ २ ॥

द्वितीया। काङ्क्षिष्यन्ती । **असः** । भवे । **मत्** । मत्त सकाशात् । **न** । निषेधे । **अपगाः** । **जनसनखनक्रमगमो विट्** (पा० ३ । २ । ६७) इति गमेर्विट् । **विड्वनोरनुनासिकस्यात्** (पा० ६ । ४ । ४१) इति आत्त्वम् । अपसृत्य गन्त्री । वियोग प्राप्ता ॥

२—**सम्** । मिलित्वा । सगत्य । **च** । समुच्चये । **इत्** । अवश्यम् । **नयाथः** । नयतेर्लेटि आडागम । प्रापयतम् । **अश्विना** । अ० २ । २९ । ६ । कार्येषु व्यापनशीलौ मातापितरौ । **कामिना** । म० १ । कम--णिच्—इनि । कामयमानौ । कन्यावरौ । **वक्षथः** । वहेर्लेटि अडागम, सिप् च । युवा वहतम् । सयोजयतम् । **वाम्** । युवयो । **भगासः** । **आज्जसेरसुक्** (पा० ७ । १ । ५०)इति जसि असुक् । भगा । भजनीयानि, ऐश्वर्याणि । **सम्+अग्मत** । **समोगम्यृच्छि०** (पा० १ । ३ । २९) आत्मनेपदम् । लुङि च्लेर्लुक् ।

भावार्थः—वर और कन्या माता पिता आदि बडो की भी सम्मति प्राप्त करे। उनके अनुग्रह से दोनो ने विद्या धन सुवर्ण आदि धन, तथा परस्पर एक चित्त होने और नियम पालन की शक्ति को पाया है। यह मूल मन्त्र गृहस्थाश्रम मे आनन्द वर्धक है ॥ २ ॥

यत् सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥

यत् । सुऽपर्णाः । विवक्षवः । अनमीवाः । विवक्षवः । तत्र ।
मे । गच्छतात् । हवम् । शल्यःऽइव । कुल्मलम् । यथा ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(यत् = यत्र) जहा (सुपर्णा) बडी पूर्ति वाले [अथवा गरुड़ गिद्ध, मोर आदि के समान दूरदर्शी पुरुष] (विवक्षव) विविध प्रकार से राशि वा समूह करने वाले, और (अनमीवा) रोगरहित स्वस्थ पुरुष (विवक्षव) बोलने वाले हो, (तत्र) उस स्थान मे [वह वर वा कन्या] (मे) मेरी [वर व कन्या को] (हवम्) पुकार [विज्ञापन] को (गच्छतात्) पावे, (शल्य इव) जैसे बाण की कील (यथा) जिस प्रकार (कुल्मलम्) अपने दडे मे [पहुँचती है] ॥ ३ ॥

सम्यग् अगमन् । **चित्तानि** । चिती सज्ञाने—क्तः । मनासि । **व्रतानि** । **पृषिरञ्जिभ्यां कित्** (उ०३।१११) इति वृञ्धातो -अतच्प्रत्ययः कित्वाद् गुणाभावः **यणादेश** । व्रतमिति कर्म नाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सत । इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतोऽन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्-निरु० २ । १३ । कर्माणि । नियमान् ॥

३—यत् । यत्र स्थाने । **सुपर्णाः** । अ० १ । २४ । १ । सुपालना , सुपूरणा । सुपतनशीला गरुडादय पक्षिणो यथा । **विवक्षवः** । **भृमृशीङ्०** (उ० १ । ७) इति वि + वक्ष रोषे सघाते च—उ । विविध राशीकरणशीला ,विद्यासुवर्णादीनाम् । **अनमीवाः** । अ० २ । २६ । ६ । रोगरहिता । स्वस्था । **विवक्षवः** । ब्रुव सनि वच्यादेशे । **सनाशंसभिक्ष उः** (पा० ३ । २ । १६८) उप्रत्यय । वक्तुमिच्छवः । **तत्र** । तस्मिन् स्थाने । **मे** । मम । **गच्छतात्** । प्राप्नुयात् । वर कन्या वा । **हवम्** । अ० १ । १५ । २ । ह्वेञ्—अप् । आवाहनम् । विज्ञापनम् । **शल्यः** ।

भावार्थः—जहाँ विद्वान् पुरुषो मे रहकर वर ने, और विदुषी स्त्रियो मे रहकर कन्या ने विद्या और सुवर्णादि धन प्राप्त किये हो, और नीरोग रहने और धर्म उपदेश करने की शिक्षा पायी हो, वहाँ पर उन दोनो के विवाह की बात चीत पहुचे और ऐसी दृढ होजावे जैसे बाण की कील बाण की दडी मे पक्की जम जाती है ॥ ३ ॥

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अन्तरम् । तत् । बाह्यम् । यत् । बाह्यम् । तत् । अन्तरम् ।
कन्यानाम् । विश्वऽरूपाणाम् । मनः । गृभाय । ओषधे ॥ ४ ॥

भाषार्थः [हे वर !] (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव आदि] (अन्तरम्) भीतर [तेरे हृदय मे] है, (तत्) वह (बाह्यम्) बाहिर [कन्या को प्रकट] हो और (यत्) जो कुछ [प्रीतिभाव] (बाह्यम्) बाहिर [प्रकट किया जाय] (तत्) वह (अन्तरम्) भीतर [कन्या के हृदय मे स्थिर हो] (ओषधे) हे ताप नाशक [ओषधि रूप वर] (विश्वरूपाणाम्) सर्वसुन्दरी (कन्यानाम्) कन्याओ [कन्या] के (मन) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थः—वर हार्दिक प्रीति से कन्या के साथ व्यवहार करे, और पत्नी भी पति से हार्दिक प्रीति रक्खे। इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से गृह लक्ष्मी बढेगी और नित्य प्रति आनन्द रहेगा। (कन्यानाम्) बहुवचन एक के लिये आदरार्थ है, और मन्त्र मे जो वर को उपदेश है वही कन्या के लिये भी समझना चाहिये ॥ ४ ॥

सानसिवर्णसिपर्णसि शल्याः (उ० ४।१०७) इति शल गतौ–य । बाणाग्रभाग । शस्त्रविशेष । **कुल्मलम् । कुषेर्लश्च** (उ० ४ । १८८) इति कुष निष्कर्षे, दीप्तौ–क्मलन् । कुष्मलम् । षस्य ल । छेदनम् । बाणदण्डछिद्रम् ॥

४—यत् । किञ्चित्, प्रीतिभाव । शुभविचार । **अन्तरम्** । अन्त + रा–क । अन्त राति ददाति । मध्यम् । अन्तर्धानम् । आत्मीयम । **बाह्यम् । दित्यदित्यादित्य०** (पा० ४ । १ । ८५) अत्र वार्त्तिकम्, **बहिषष्टिलोपश्च** । इति बहिस्–यञ्, टिलोपश्च । बहिष्ठम् । प्रकटम । **कन्यानाम्** । **अघ्न्यादयश्च**

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

आ । इयम् । अगन् । पतिऽकामा । जनिऽकामः । अहम् । आ । अगमम् । अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् । सह । आ । अगमम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(इयम्) यह (पतिकामा) पति की कामना करती हुई कन्या (आ+अगन्=आगमत्) आयी है, और (जनिकाम) पत्नी की कामना वाला (अहम्) मै (आ+अगमम्) आया हूँ । (अहम्) मै (भगेन) ऐश्वर्य के (सह) साथ (आ+अगमम्) आया हूँ । (यथा) जैसे (कनिक्रदत्) हीसता हुआ (अश्व) घोडा ॥ ५ ॥

भावार्थः—जैसे बलवान् घोडा मार्ग गमन, अन्न, घास आदि भोजन के समय हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट करता है, इसी प्रकार विद्या समाप्ति पर पूर्ण विद्वान् और समर्थ कन्या और वर गृहाश्रम मे प्रवेश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

(उ० ४ । ११२) इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु–यक्, टाप् च[१] । आदरार्थ बहुवचनम् । दीप्यमानायाः । कमनीयायाः । कुमार्याः । **विश्वरूपाणाम्** । सर्वाङ्गसुन्दरीणाम् । **मनः** । चित्तम् । **गृभाय** । **छन्दसि शायजपि** (पा० ३ । १ । ८४) इति ग्रहेर्लोटि श्न शायजादेश । हस्य भ । गृहाण । **ओषधे** । अ० १ । २३ । १ । हे तापनाशक । ओषधिरूपवर ॥

५—**इयम्** । कमनीया कन्या । **आ+अगन्** । गमेर्लुङि तिपि च्लेलुकि **मो नो धातोः** (पा० ८ । २ । ६४) इति नत्वम् । आगमत् । **पतिकामा** । भर्त्तारमिच्छन्ती । **जनिकामः** । **जनिघसिभ्यामिण्** (उ० ४ । १३०) इति जन जनने वा जनी प्रादुर्भावे–इण् । **जनिवध्योश्च** (पा० ७ । ३ । ३५) इति वृद्धिनिषेध । जनयति वीरपुत्रान्, जायते सुखमनया सा जनिर्जाया । ता कामयमान । **अहम्** । वर । **आ+अगमम्** । आगतवानस्मि । **अश्वः** । अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्ग । **कनिक्रदत्** । **दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति०** (पा० ७।४।६५) इति क्रन्द आह्वाने यङि शत्रन्तो निपातित । भृश ह्लेषा कुर्वन् । **भगेन** । भजनीयेन पत्नीरूपैश्वर्येण । **सह** । सङ्गत ॥

---

१ तित्यशिक्य० (फिट्-७६) से 'कन्या' शब्द को स्वरित हुआ है ॥ सम्पा० ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्; ३, ५ त्रिष्टुप् ।

स्वल्पानपि दोषान्नाशयेत्—छोटे २ दोषो का भी नाश करे ॥

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत् क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी ।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न् दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । या । म॒ही । दृ॒षत् । क्रिमेः॑ । विश्व॑स्य । तर्ह॑णी ।
तया॑ । पि॒न॒ष्मि॒ । सम् । क्रिमी॑न् । दृ॒षदा॑ । खल्वा॑न्ऽइव ॥ १ ॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) बडे ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (या) जो (मही) विशाल [सर्वव्यापिनी विद्यारूप] (दृषत्) शिला (विश्वस्य) प्रत्येक (क्रिमे) क्रिमि [कीडे] की [तर्हणी] नाश करने वाली है, (तया) उससे (क्रिमीन्) सब क्रिमियो को (सम्) यथा नियम (पिनष्मि) पीस डालू, (इव) जैसे (दृषदा) शिला से (खल्वान्) चनो को [पीसते है] ॥ १ ॥

भावार्थः—परमेश्वर अपनी अटूट न्याय व्यवस्था से प्रत्येक दुराचारी को दड देता है, इस प्रकार मनुष्य अपने छोटे २ दोषो को नाश करे । क्योकि छोटे छोटो से ही बडे बडे दोष उत्पन्न होकर अन्त मे बडी हानि पहुँचाते है । जैसे कि शिर वा उदर मे छोटे २ कीडे उत्पन्न होकर बडी व्याकुलता और रोग के कारण होते है ॥ १ ॥

इस सूक्त मे क्रिमियो के उदाहरण से क्षुद्र दोषो के नाश का उपदेश है ॥

इस सूक्त और आगामी सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सूक्त २३ से कीजिये ॥

१—**इन्द्रस्य** । परमैश्वर्यवत परमात्मन । **मही** । मह पूजायाम्—अच् । **षिद्गौरादिभ्यश्च** (पा० ४। १। ४१) इति ङीष् । मह्यते मही । महती । विशाला । **दृषत्** । **दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च** (उ० १ । १३१) इति दॄ विदारणे—अदिप्रत्यये—धातो षुक् ह्रस्वश्च । दीर्यते यया । शिला । **क्रिमेः** । **क्रमितिमिशतिस्तम्भामत इच्च** (उ० ४ । १२२) इति क्रमु पादविक्षेपे—इन्, कित्, अत इत् क्रमे [१] । क्षुद्रजन्तोः कीटस्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **तर्हणी** । तृह हिसायाम्—करणे ल्युट् । ङीप् । हन्त्री । **पिनष्मि** । पिष्लृ सचूर्णने । सचूर्णयामि । **क्रिमीन्** । कीटान् । **दृषदा** । शिलया । **खल्वान्** । **सर्वनिघृष्व०** (उ० १ । १५३) इति खल सचये—वन् । चणकान्—इति सायण ।

१ भ्रमे सम्प्रसारणञ्च (उ० ४ । १२१) से सम्प्रसारण की अनुवृत्ति आकर यहाँ पक्ष मे क्रुमि रूप भी बनता है ॥ सम्पा० ॥

दृष्टम॒दृष्टम॑तृहमथो॑ कुरूरु॑मतृहम् । अ॒ल्गण्डू॒न्त्सर्वा॑न्छ॒लुना॑न् क्रिमी॑न् वच॑सा जम्भयामसि ॥ २ ॥

दृष्टम् । अ॒दृष्टम् । अ॒तृहम् । अथो॒ इति॑ । कु॒रूरु॑म् । अ॒तृहम् । अ॒ल्गण्डू॑न् । सर्वा॑न् । श॒लुना॑न् । क्रिमी॑न् । वच॑सा । ज॒म्भ॒या॒म॒सि ॥ २ ॥

भाषार्थः—(दृष्टम्) दीखते हुये और (अदृष्टम्) न दीखते हुये [क्रिमिगण] को (अतृहम्) मैने नष्ट कर दिया है (अथो) और भी (कुरूरुम्) भूमि पर रेंगने वाले, वा बुरे प्रकार से सताने वा भिनभिनाने वाले को (अतृहम्) मैने नष्ट कर दिया है। (सर्वान्) सब (अल्गण्डून्) उपधानो [तकियो] मे भरे हुये, (शलुनान्) बेग बेग चलने वाले (क्रिमीन्) कीडो को (वचसा) वचन से (जम्भयामसि = ०—म) हम मार डाले ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे मनुष्य बडे और छोटे क्षुद्र जन्तुओ को, जो अशुद्धि, मलिनता आदि से उत्पन्न होकर बडे २ रोगो के कारण होते है, मार डालते है, इसी प्रकार अपने छोटे २ दोषो का शीघ्र ही नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

(वचसा जम्भयामसि) वचन से हम मार डाले। इसका यह अभिप्राय है कि (१) वचन मात्र से अर्थात् शीघ्र ही, (२) औषधि शौच आदि

२—**दृष्टम्** । दृष्टिगोचरम् । स्थूलशरीरयुक्तम् । **अदृष्टम्** । अगोचरम् । सूक्ष्मकायम् । अस्माक शरीरान्त स्थित वा । **अतृहम्** । तृह हिसायाम्—छन्दसि लुडि च्लेरङ् । नाशितवानस्मि । **अथो** । अथ+उ । अपि च । **कुरूरुम्** । कु—रुरुम् । कु शब्दे, आर्त्तस्वरे—डु । कवन्ते शब्दयन्ति प्राणिनो यत्र सा कु पृथिवी । यद्वा कुवन्ते आर्त्तस्वर कुर्वन्ति यस्मात् कु पापम्, कुत्सा । **रुशातिभ्यां क्रुन्** (उ०४।१०३) इति रुङ् गतिरेषणयो यद्वा रु शब्दे-क्रुन् । छान्दसो दीर्घ । कौ भूमौ रवते गच्छतीति कुरूरु । यद्वा, कुत्सित रवते हिनस्ति, रौति ध्वनयतीति कुरूरु । भूमिगन्तारम् । कुहिसकम् । कुत्सितध्वनियुक्त कीटम् ।

के हित उपदेश से, ३—ओ३म् शब्द, गायत्री आदि मन्त्र के जप से, ४—रोचक कथा, लोरी वा गीत आदि के सुनाने से चित्त को शान्ति, और शान्ति से कुरोग और कुवासनाओं का नाश होता है ॥

टिप्पणी—'कुरूरुम्' के स्थान पर सायणभाष्य में 'कुरीरम्' और 'शलुनान्' के स्थान पर 'शलूगान्' व्याख्यात है ॥

अलगण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् । शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥

अलगण्डून् । हन्मि । महता । वधेन । दूनाः । अदूनाः । अरसाः । अभूवन् । शिष्टान् । अशिष्टान् । नि । तिरामि । वाचा । यथा । क्रिमीणाम् । नकिः । उत्ऽशिषातै ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अलगण्डून्) उपधानों [तकियों में] भरे हुये जन्तुओं को (महता) बड़ी (वधेन) चोट से (हन्मि) मैं मारता हूं । (दूना) तपे

अलगण्डून् । अल् गण्डून् । अल पर्याप्तौ–क्विप् । **भृमृशीङ्०**[1] (उ० १ । ७) इति गडि वदनैकदेशे–उ । शिरोभाग स्थास्यतेऽत्रेति गण्डु । उपधानम् । अलन्ति पर्याप्ता भवन्ति गण्डुषु, उपधानेषु ये तान् । **सर्वान्** । नि शेषान् । **शलुनान्** । **कृवृदारिभ्य उनन्** (उ० ३ । ५३) इति शल वेगे–उनन् । शीघ्रगतीन् । **क्रिमीन्** । म० १ । कीटान् । **वचसा** । वच परिभाषणे–असुन् । वचनेन । कथनेन । वचनमात्रेण, अतिशीघ्रम् । औषधिशौचादि–हितकथनेन–ओ३म्, गायत्र्यादिजपेन–रोचककथा–निद्रागीतादिवर्णनेन-इत्येवमर्था । **जम्भयामसि** । जभि नाशे, नाशने च । **रधिजभोरचि** (पा० ७ । १ । ६१) इति नुम् । जम्भयाम । नाशयाम ॥

३—**अलगण्डून्** । म० २ । उपधानेषु पूर्णान् । **हन्मि** । नष्टीकरोमि । **महता** । अ० १ । १० । ४ । प्रभूतेन । **वधेन** । **हनश्च वधः** (पा० ३ । ३ । ७६) इति हन–अप् वधादेश । हननसाधनेन । प्रहारेण । **दूनाः** । **ल्वादिभ्यः**

---

१ 'बाहुलकात् गण्डति स गण्डु वदनैकदेश' ऐसा उणादिव्याख्या में स्वामी जी ने लिखा है ॥ सम्पा० ॥

हुये और (अदूना) बिना तपे हुए [पक्के और कच्चे कीडे] (अरसा) नीरस [निर्बल] (अभूवन्) हो गये है । (शिष्टान्) बचे हुये (अशिष्टान्) दुष्टो को (वाचा) वचन से (नि) नीचे डाल कर (तिरामि) मार डालूँ, यथा) जिससे (क्रिमीणाम्) कीडो मे से (नकि) कोई भी न (उच्छिषातै) बचा रहे ।। ३ ।।

भावार्थः—मन्त्र १, और २ के समान ।। ३ ।।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अनुऽआन्त्र्यम् । शीर्षण्यम् । अथो इति । पार्ष्टेयम् । क्रिमीन् । अवस्कवम् । विऽअध्वरम् । क्रिमीन् । वचसा । जम्भयामसि ।। ४ ।।

भाषार्थः—(अन्वान्त्र्यम्) आतो मे के (शीर्षण्यम्) शिर पर वा शिर मे के (अथो = अथ-उ) और भी (पार्ष्टेयम्) पसलियो मे के (क्रिमीन्) इन सब कीडो को, (अवस्कवम्) नीचे २ रेगने वाले [जैसे दद्रु क्रिमि] और

(पा० ८ । २ । ४४) अत्र वार्त्तिकम् । **दुग्वोर्दीर्घश्च** इति दु गतौ—क्तस्य च न । अथवा दूङ्[1] परितापे क्त । **ओदितश्च** (पा० ८ । २ । ४५) तस्य न । खेदिता । परितप्ता । **अदूनाः** । अखेदिताः । अतप्ता । **अरसाः** । शुष्का । निर्बला । **शिष्टान्** । शिष असर्वोपयोगे—क्त । अवशिष्टान् । शेषान् । **अशिष्टान्** । शासु अनुशिष्टौ-क्त । **शास इदङ्हलोः** (पा० ६।४।३४) इति इकार । **शासिवसिघसीनाम् च** (पा० ८ । ३ । ६०) इति सस्य ष । शिष्टविरोधिन । दुष्टान् । **नि+तिरामि** । निपूर्वस्तिरतिर्हिंसने । निहन्मि । **वाचा** । वचसा म० २ । **क्रिमीणाम्** । कीटाना मध्ये । **नकिः** । न कश्चिदपि । **उच्छिषातै** । शिष्लृ विशेषणे लेटि आडागम । छन्दसि आत्मनेपदम् । टेरेत्वे कृते । **वैतोऽन्यत्र** (पा० ३ । ४ । ९६) इति ऐत्वम् । उच्छिष्यात् ।।

४—**अन्वान्त्र्यम्** । **अमिजगमिनमिहनिविश्यशां वृद्धिश्च** (उ० ४ । १६०) इति अम गतौ, यद्वा, अति बन्धने –ष्ट्रन् धातोर्वृद्धिश्च । अन्त्यते बध्यते देहोऽ—

---

१ स्वादय ओदिता (धा पा दिवा प्र ३१) इस धातु पाठ के वचन से षूङ् प्राणिप्रसवे से लेकर व्रीङ् वृणोत्यर्थे पर्यन्त धातुएं ओदित् मानी गई है, अत ओदितश्च से क्त के त को न हो गया ।। सम्पा० ।।

(व्यध्वरम्) छेद करने वाले वा पीडा देने वाले, वा यज्ञ के विरोधी (क्रिमीन्) इन सब कीडो को (वचसा) बात मात्र से (जम्भयामसि = ०-म) हम नाश करे ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र १ और २ के समान है ॥ ४ ॥

सायणभाष्य मे 'पार्ष्टेयम्' के स्थान पर 'पार्ष्णेयम् है ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व १_ न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिमयः । पर्वतेषु । वनेषु । ओषधीषु । पशुषु । अप्ऽसु । अन्तः । ये । अस्माकम् । तन्वम् । आऽविविशुः । सर्वम् । तत् । हन्मि । जनिम । क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(ये) जो (क्रिमय) कीडे (पर्वतेषु) पहाडो मे, (वनेषु)

नेनेति आन्त्र देहबन्धको नाडीभेद । **शरीरावयवाच्च** (पा० ४ । ३ । ५५) इति भवे यत् । अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवम् । **शीर्षण्यम्** । **शरीरावयवाच्च** (पा० ४ । ३ । ५५) इति शिरस्-यत् । **ये च तद्धिते** (पा० ६ । १ । ६१) इति शीर्षन् आदेश । शिरसि भवम् । **पार्ष्टेयम्** । **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (पा० ३ । ३ । १७४) इति पृषु सेचने-क्तिच् । इति पृष्टि -अ० २ । ७ । ५ । ततो ढञ् । **आयनेयीनीयियः०** (पा० ७। १। २) इति ढस्य एयादेश । पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम् । **अवस्कवम्** । अव + स्कुञ् आप्रवणे "कृदना"--पचाद्यच् । अवाग्गमनस्वभावम् । अन्तरन्त प्रविश्य वर्त्तमानम् । **व्यध्वरम्** । १---**उपसर्गादध्वनः** (पा० ५ । ४ । ८५) इति वि+अध्वन्—अच्प्रत्यय, प्रादिसमास । रो मत्वर्थीय । विरुद्धमार्गयुक्तम् । कुपथगामिनम् । २---**स्थेशभासपिसकसो वरच्** (पा० ३ । २ । १७५) इति व्यध ताडने—वरच् । **चितः** (पा० ६ । १ । १६३) इति चिति प्रत्यये अन्त उदात्त । व्याधम् । ताडकम् । पीडकम् । अथवा । २- ध्वरति =हन्ति-द्र० निघ० २ । १७ । **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (पा० ३ । ३ । ११८) इति घ । वि विरोधे+अध्वरा, अहिसा । अहिसाविरोधिनम् । हिंसावर्धकम् । शरीरमासभक्षकम् । अय शब्द सर्वत्रान्तोदात्त । अन्यद् व्याख्यातम्, म० २ ॥

५---**क्रिमयः** । म० १ । क्षुद्रजन्तव । **पर्वतेषु** । **भृमृदृशियजिपर्वि०**

वनो मे (ओपधीषु) अन्न आदि ओषधियो मे, (पशुषु) गौ आदि पशुओ मे और (अप्सु) जल के (अन्त) भीतर है। और (ये) जा (अस्माकम्) हमारे (तन्वम्) शरीर मे (आविविशु) प्रविष्ट हो गये हे (क्रिमीणाम्) क्रिमियो के (तत्) उस (सर्वम्)मब (जनिम) जन्म को (हन्मि) मै नाश करूँ ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यो को उचित है कि सब स्थानो, सब वस्तुओ और अपने शरीरो को शुद्ध रक्खे कि छोटे बडे कोई अन्य क्लेश न देवे, ऐसे ही सब पुरुष आत्म शुद्धि करके अपने भीतरी बाहिरी, छोटे बडे दोषो को मिटाकर आनन्द से रहे ॥ ५ ॥

सायणभाष्य मे (ये) के स्थान में [ते] और (तन्वम्) के स्थान मे [तन्व] है ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाक ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—६ ॥ आदित्यो देवता । १--गायत्री, २—६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रिमितुल्यान् दोषान् नाशयेत्, इत्युपदेश —कीडो के समान दोषो का नाश करे, इसका उपदेश ॥

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

(उ० ३ । ११०) इति पव पूरणे—अतच् । पवति पूरयति भूमिमिति । शैलेषु । **वनेषु । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** पा० ३ । ३ । ११८) इति वन सम्भक्तौ—घ । वन्यते सेव्यते वृक्षैः । बहुवृक्षयुक्तस्थानेषु । अरण्येषु । **ओषधीषु । पशुषु । अप्सु । अन्तः ।** व्याख्यातानि—अ० १ । ३० । ३ । **ओषधीषु ।** धान्यादिषु । **पशुषु ।** गवादिषु । सर्वजीवेषु । **अप्सु ।** जलेषु । **अन्तः ।** मध्ये । **तन्वम् ।** अ० १ । १ । १ । शरीरम् । **आ-विविशुः ।** विश प्रवेशने—लिट् । प्रविष्टा । **सर्वम् ।** प्रत्येकम् । **तत् ।** पूर्वोक्तम् । **हन्मि ।** नाशयामि । **जनिम ।** अ० १ । ८ । ४ । उत्पत्तिकारणम । **क्रिमीणाम् ।** कृमीणाम् । कीटानाम् ॥

उत्ऽयन् । आदित्यः । क्रिमीन् । हन्तु । निऽम्रोचन् । हन्तु । रश्मिऽभिः । ये । अन्तः । क्रिमयः । गवि ॥ १ ॥

भाषार्थः—(उद्यन्) उदय होता हुआ (आदित्य) प्रकाशमान सूर्य (क्रिमीन्) उन कीडो को (हन्तु) मारे और (निम्रोचन्) अस्त हुआ [भी सूर्य] (रश्मिभि) अपनी किरणो से (हन्तु) मारे, (ये) जो (क्रिमय) कीडे (गवि) पृथिवी के (अन्त) भीतर है ॥ १ ॥

भावार्थः—(१) प्रात काल ओर सायकाल मे सूर्य की कोमल किरणो और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के सेवन से शारीरिक रोग के कीडो का नाश होकर मन हृष्ट और शरीर पुष्ट होता है ॥ १ ॥

(२) उदय और अस्त होते हुये सूर्य के समान मनुष्य बालपन से बुढापे तक अपने दोषो का नाश करके सदा प्रसन्न रहे ॥

टिप्पणी—इस सूक्त और ३३वे सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सू० २३ से करे ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

१—**उद्यन्** । उत्+इण् गतौ—शतृ । उदय प्राप्नुवन् । **आदित्यः** । द्र० अ० १ । ९ । १ । आङ्+दीपी दीप्तौ—यकप्रत्ययान्तो निपातित । आदीप्यमान सूर्य । **क्रिमीन्** । अ० २ । ३१ । १ । क्षुद्रजन्तून् । **हन्तु** । नाशयतु । **निम्रोचन्** । नि+म्रुचु गतौ—शतृ । अस्त गच्छन् । **रश्मिभिः** । अश्नोतेरशच् (उ० ४ । ४६) इति अशूङ् व्याप्तौ—मिधातोरशादेशश्च । किरणै । **अन्तः** । मध्ये । **क्रिमयः** । क्रमणशीला क्षुद्रजन्तव । **गवि** । **गमेर्डोः** (उ० २ । ६७) इति गम्लृ गतौ-डो । गौरिति पृथिव्या नामधेय यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्या भूतानि गच्छन्ति, गातेर्वौकारो नामकरण –निरु० २ । ५ । पृथिवी इन्द्रियो वा ॥

विश्वऽरूपम् । चतुःऽअक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् । शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(विश्वरूपम्) नाना आकार वाले (चतुरक्षम्) [चार दिशाओ मे] नेत्र वाले, (सारङ्गम्) रीगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) सचयशील [वा श्वेत वर्ण] (क्रिमिम) कीडे को (शृणामि) मै मारता हूँ, (अस्य) इसकी (पृष्टी) पसलियो को (अपि) भी, और(यत्) जो (शिर) शिर है [उसको भी] (वृश्चामि) तोड डालता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थः—पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाना आकार और नाना वर्ण वाले मकडी मक्खी आदि क्षुद्र जन्तुओ को शुद्धि आदि द्वारा पृथक् रखने से शरीर स्वस्थ रहता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषो की निवृत्ति से आत्मिक शान्ति होती है ॥ २ ॥

टिप्पणी—'चतुरक्ष'=चार आख वाला ऐसा प्रयोग वेद मे अन्यत्र भी आया है, वहाँ भी चारो दिशाओ का ही ग्रहण है । देखिये—

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ॥ अ० ४।२०।७ ॥

तू (कश्यपस्य) सूर्य की और (चतुरक्ष्या) चार आख वाली (शुन्या) व्याप्ति वाली दिशा की (चक्षु) आख है । ऋ० १० । १४ । १०, ११ भी यहाँ देखिए ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् । अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

२—**विश्वरूपम्** । नानाकारम् । **चतुरक्षम्** । **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (पा० ५ । ४ । ११३) इति षच् । चतुर्नेत्रम् । चतुर्दिक्षु नेत्रयुक्तम् । **सारङ्गम्** । **सृवृञोर्वृद्धिश्च** (उ० १ । १२२) इति सृ गतौ—अङ्गच्, धातोर्वृद्धिश्च । शरणशीलम् । शबलवर्णम् । **अर्जुनम्** । **अर्जेर्णिलुक् च** (उ० ३ । ५८) इति अर्ज अर्जने—उनन् । सचयशीलम् । श्वेतवर्णम् । **शृणामि** । शॄ हिंसायाम् । हन्मि । **पृष्टीः** । अ० २।७।५। पार्श्वस्थीनि । **वृश्चामि** । छिनद्मि । **शिरः** । अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् ॥

अ॒त्रि॒ऽव॒त् । व॒ः । क्रि॒म॒यः॒ । ह॒न्मि॒ । क॒ण्व॒ऽव॒त् । ज॒म॒द॒ग्नि॒ऽव॒त् ।
अ॒गस्त्य॑स्य । ब्रह्म॑णा । सम् । पि॒न॒ष्मि॒ । अ॒हम् । क्रिमी॑न् ॥ ३ ॥

भाषार्थः (क्रिमय) हे कीडो ! (व) तुमको (अत्रिवत्) दोष भक्षक, वा गतिशील, मुनि के समान (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मै मारता हूँ। (अगस्त्यस्य) कुटिल गति पाप के छेदने मे समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीडो को (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओ के अनुकरण से वेद ज्ञान प्राप्त करके पाप का नाश करना चाहिये ॥ ३ ॥

मन्त्र ३-५ अथर्ववेद का० ५ सू० २३ मन्त्र १०—१२ मे भी है ॥

३—**अत्रिवत्** । **अदेस्त्रिनिश्च** (उ० ४ । ६८) इति अद भक्षणे अत सातत्यगमने वा-त्रिप् । अत्ति दोषान् भक्षयति, नाशयतीति अततीति वा अत्रि । मुनि । अथवा । रसान् अत्तीति सूर्य । तत्सदृश । **वः** । युष्मान् । **क्रिमयः** । हे क्षुद्रजन्तव । **हन्मि** । नाशयामि । **कण्ववत्** । अ० २ । २५ । ३ । **अशूप्रुषिलटिकणि०** (उ० १ । १५१) इति कण शब्दे, निमीलने—कन् । कणति उपदेशशब्द करोति कण्यते स्तूयते वा । निमीलयति परान् वा स्वतेजसा । मेधाविवत्-निघ० ३ । १५ । **जमदग्निवत्** । जमु अदने, दीप्तौ च—शतृ, +अग्नि—वतुप् । जमदग्नय प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा—निरु० ७ । २४ । जमन् हुतभक्षणशील, अथवा प्रज्वलितोऽग्निरिव तेजो येषा ते जमदग्नयः । तत्सदृश । **अगस्त्यस्य** । अग कुटिलाया गतौ—अच् । तत **वसेस्तिः** (उ० ४ । १८०) इति अग+असु क्षेपणे-भावे तिप्रत्यय । **तत्र साधुः** (पा० ४ । ४ । ९८) इति यत् । पृषोदरादित्वात् दीर्घाभाव । अगस्य कुटिलगते पापस्य असने उत्पाटने समर्थस्य परमेश्वरस्य । **ब्रह्मणा** । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । **सम्+पिनष्मि** । अ० २ । ३१ । १ । सचूर्णयामि । अन्यद् गतम् ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

हतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हतः ।
हतः । हतऽमाता । क्रिमिः । हतऽभ्राता । हतऽस्वसा ॥ ४ ॥

भाषार्थः– (एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीडो का (राजा) राजा हत) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपति) द्वार पाल (हत) नष्ट होवे । (हतमाता) जिसकी माता नष्ट हो चुकी है (हतभ्राता) जिमका भ्राता नष्ट हो चुका है और (हतस्वसा) जिसकी बहिन नष्ट हो चुकी है (क्रिमि) वह चढाई करने वाला कीडा (हत) मार डाला जावे ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्य अपने दोषो ओर उनके कारणो को उचित प्रकार से समझकर नष्ट करे, जैसे वैद्य दोषो के प्रधान और गौण कारणो को समझ कर रोग निवृत्ति करता है ॥ ४ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

४—**हतः** । नाशित । **राजा** । द्र० अ० १ । १० । १ । अधिपति । **उत** । अपि च । **एषाम्** । उपस्थितानाम् । **स्थपतिः** । ष्ठा–क । स्थ स्थानम् । **अमेरतिः** (उ०४।५९) इति बाहुलकात् पा रक्षणे–अति । अथवा, ण्यन्तात् स्थाधातो पुकि–अतिप्रत्यये ह्रस्व । स्थ स्थान पाति, अथवा पुरुषान् स्थापयतीति स्थपति कञ्चुकी, द्वारपाल । **हतमाता** । हता माता यस्य । **नद्यृतश्च** (पा० ५ । ४ । १५३) इति बहुव्रीहौ नित्य प्राप्तस्य कप **ऋतश्छन्दसि** (पा० ५ । ४ । १५८) इति प्रतिषेध । नष्टमातृक । **हतभ्राता** । पूर्ववत् कपः प्रतिषेध । नष्टभ्रातृक । **हतस्वसा** । पूर्ववत् सिद्धि । हतस्वसृक । नष्टभगिनीक । अन्यद् गतम् ॥

हुतासः । अस्य । वेशसः । हुतासः । परिऽवेशसः । अथो इति ।
ये । क्षुल्लकाःऽइव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हुताः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अस्य) इस [क्रिमि] के (वेशस) मुख्य सेवक (हतास = हता) नष्ट हो, और (परिवेशस) साथी भी (हतास) नष्ट हो, (अथो = अथ–उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लका इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से है (ते) वे (सर्वे) सब (क्रिमय) कीडे (हता) नष्ट हो ॥ ५ ॥

भावार्थः–मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओ का और उनकी सामग्री का सर्वनाश कर दे, जैसे रोग जनक जन्तुओ को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

प्र ते॑ शृणामि॒ शृङ्गे॒ याभ्यां॑ वितुदा॒यसि॑ ।
भि॒नद्मि॑ ते कु॒षुम्भं॒ यस्ते॑ विष॒धानः॑ ॥ ६ ॥

प्र । ते॒ । शृणा॒मि॒ । शृङ्गे॒ इति॑ । याभ्या॑म् । वि॒ऽतु॒दा॒यसि॑ ।
भि॒नद्मि॑ । ते॒ । कुषुम्भ॑म् । यः । ते॒ । वि॒ष॒ऽधानः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सीङ्गो को (प्र+शृणामि) मै तोडे डालता हूँ, (याभ्याम्) जिन दोनो से (वितुदायसि) तू सब ओर टक्कर मारता है। (ते) तेरे (कुषुम्भम्) जल पात्र को (भिनद्मि) तोडता हूँ (य) जो (ते) तेरे (विषधान) विष की थैली है ॥ ६ ॥

५—**हतासः** । असुक् आगम । हता । **वेशसः** । **मिथुनेऽसिः** (उ० ४ । २२३) इति बाहुलकाद् अमिथुनेऽपि। विश–असिप्रत्यय । प्रवेशका । मुख्यसेवका । **परिवेशसः** । परित स्थिता । अनुचरा । **अथो** । अपि च । **क्षुल्लकाः** । '[1]क्षुद्+लका । क्षुदिर सप्रेषणे–किर्+लक आस्वादने प्राप्तौ–अच्। **तोर्लि** (पा० ८ । ४ । ६०) इति परसवर्ण । क्षुद क्षुद्रत्व लाकयन्ति प्राप्नुवन्ति ते क्षुल्लका '। सूक्ष्माकारा क्षुद्रजन्तव । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

६—**ते** । तव । **शृणामि** । भिनद्मि । **शृगे** । **शृणातेर्ह्रस्वश्च** (उ० १ । १२६) इति शृ हिंसायाम्–गन् प्रत्यय , धातोर्ह्रस्वत्व कित्व नुट् चागम । शृङ्ग श्रय-

---

१ 'क्षुद लाति गृह्णातीति क्षुल्ल तत ह्रस्वार्थे कप्रत्यय ' यह व्युत्पत्ति लक धातु की कल्पना की अपेक्षा अधिक ठीक है। लक धातु काशकृत्स्न धातुपाठ मे ही केवल पठित है। द्र० क्षीर० की टिप्पणी पृ० २०६ ॥ सम्पा० ॥

भावार्थः---जैसे दुष्ट वृषभ अपने सींगो से अन्य जीवो को सताता है, इसी प्रकार जो क्षुद्र क्रिमियो के समान आत्मदोष दिन रात कष्ट देते है, उनको और उनके कारणो को खोजकर नष्ट करना चाहिये ॥ ६ ॥

'कुषुम्भम्' के स्थान पर सायण भाष्य मे 'षुकम्भम्' पद० है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-७ ॥ आत्मा देवता । १-६ अनुष्टुप् , ७ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षा—शारीरिक विषय मे शरीररक्षा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि । यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे प्राणी] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनो आखो से, (नासिकाभ्याम्) दोनो नथुनो से (कर्णाभ्याम्) दोनो कानो से, (छुबुकात् = चुबकात् अधि) ठोडी मे से, ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वाया)

तेर्वा श्रृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा—निरु० २ । ७ । द्वे विषाणे । **वि-तुदायसि** । तुद व्यथने—शस्य शायजादेश । विशेषेण तुदसि । व्यथयसे । **भिनद्मि** । भिदिर् विदारणे । विदारयामि । **कुषुम्भम्** । [1]**कुसेरुम्भोमेदेताः** (उ० ४ । १०६) इति कुष निष्कर्षे, कुस सश्लेषणे वा-उम्भप्रत्यय । सकारषकारयोरेकत्वम् । कुसुम्भ = कमण्डलु, जल पात्रम् । शरीरे जलनाडीविशेषम् । **विषधानः । करणाधिकरणयोश्च ।** (पा० ३ । ३ । ११७) इति विष + डुधाञ धारणपोषणयो —अधिकरणे ल्युट् । विष धीयतेऽत्र । विषस्थानम् ।

१—अक्षीभ्याम् । ई च द्विवचने (पा० ७ । १ । ७७) इति अक्षि शब्दस्य ईकारादेश । स चोदात्त । चक्षुर्भ्याम् । **ते** । तव । **नासिकाभ्याम् ।**

१ कु उपपद रहते षुम्भ धातु (द्र० मा० धा० पृ० १२५, गुप्तस्तु मूर्धन्यादित्वमाह) से अच् करके 'कुषुम्भ' शब्द बन जायेगा । रलयोरभेद, या सकारषकारयोरभेद आदि नवीन वैयाकरणो के सिद्धान्त अनार्ष है । द्र० म० भा० पृ० ७८ शश षष इति माभूत् ॥ सम्पा० ॥

जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर मे के (यक्ष्मम्) क्षयी [छयी] रोग को (वि वृहामि) मै उखाडे देता हू ॥ १ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र मे शिर के अवयवो का वर्णन है। जैसे सद्वैद्य उत्तम औषधो से रोगो की निवृत्ति करता है ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दोषो को विचार पूर्वक नाश करे ॥ १ ॥

(२) सायणभाष्य मे 'छुबुकात्' के स्थान मे 'चुबुकात्' है, और ऋग्वेद मे भी (छुबुकात्) पाठ है।

(३) इस सूक्त के ७ मन्त्रो के स्थान मे ऋग्वेद म० १० सू० १६३ मे ६ मन्त्र है। मन्त्र ३ का पहिला आधा 'हृदयात् ते परि ' और म० ४ का दूसरा आधा 'यक्ष्म कुक्षिभ्या ' ऋग्वेद मे नही है, शेष मन्त्र कुछ भेद से है। ऋग्वेद मे इस सूक्त के ऋषि विवृहा काश्यप है ॥

ग्रीवाभ्य॑स्त उ॒ष्णिहा॑भ्यः॒ कीक॑साभ्यो अनू॒क्या॒त् ।
यक्ष्मं॑ दोष॒ण्य१॒ंमंसा॑भ्यां बा॒हुभ्यां॒ वि वृ॑हामि ते ॥ २ ॥

ण्वुल्तृचौ (पा० ३ । १ । १३३) इति णस कौटिल्ये–ण्वुल् । टापि अत इत्वम् । घ्राणछिद्राभ्याम् । **कर्णाभ्याम्** । **कृवृजृसि०** (उ० ३ । १०) इति कॄ विक्षेपे =नन् । कीर्यते विक्षिप्यते शब्दो वायुना यत्र । श्रवणाभ्याम् । **छुबुकात्** । **वलेरूकः** (उ० ४ । ४०) इति छुप स्पर्शे–उक प्रत्ययो बाहुलकात् पस्य च ब । ओष्ठाधोभागात् । चिबुकात् । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुयायी । सर्वथा । **यक्ष्मम्** । अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयरोगम् । **शीर्षण्यम्** । **शरीरावयवाच्च** (पा० ४ । ३ । ५५) इति शिरस–यत् । **ये च तद्धिते** (पा० ६।१।६१) इति शिरस शीर्षन् आदेश । **ये चाभावकर्मणोः** (पा० ६ । ४ । १६८) इति प्रकृतिभाव । शिरसि भवम् । **मस्तिष्कात्** । [१]मस्त + इष गतौ–क , पृषोदरादित्वात् साधु । मस्त मस्तकम् इष्यति स्वाधारत्वेन प्राप्नोतीति । मस्तकस्थ घृताकारस्नेहम् । मस्तकस्नेहम् । **जिह्वायाः** । अ० १ । १० । ३ । रसनाया सकाशात् । **वि + वृहामि**–वृहू उद्यमने = उद्धरामि । पृथक्करोमि ॥

---

१ मसी क्त = मस्तम् = माथा ॥ सम्पा० ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् । यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहुऽभ्याम् । वि । वृहामि । ते ॥ २ ॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्य) गले की नाडियो से (उष्णिहाभ्य) गुद्दी की नाडियो से, (कीकसाभ्य) हँसली की हड्डियो से, (अनूक्यात्) रीढ से और (ते) तेरे (असाभ्याम्) दोनो कन्धो से और तेरे (बाहुभ्याम्) दोनो भुजाओ से (दोषण्यम्) मुड्ढे वा बक्खे के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मै उखाडे देता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे ग्रीवा के अवयवो का वर्णन है। भावार्थ म॰ १ के समान है ॥ २ ॥

२—**ग्रीवाभ्यः**। **शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः** (उ॰ १ । १५४) इति गॄ निगरणे—वन्, धातोर्ग्रीभाव टाप्। निगलन्ति यया। कन्धरावयवेभ्य । **उष्णिहाभ्यः**। **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** (पा॰ ३ । २ । ५९) इति उत्+ष्णिह प्रीतौ स्नेहने—क्विन्, नलोप षत्व च, टाप्। उष्णिगेव उष्णिहा। उष्णिगुत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मण । नि रु॰ ७।१२। ऊर्ध्व स्निग्धाभ्य, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्य । **कीकसाभ्यः**। **अत्यविचमि॰** (उ॰ ३ । ११७) इति ककि गतौ-असच्, धातो कीकादेश । यद्वा। की कुत्सितेन रक्तादिना देहाभ्यन्तरे कसति उत्पद्यते। की+कस गतौ-अच्, टाप्। जत्रुवक्षोगतास्थिभ्य । **अनूक्यात्**। **कृत्यल्युटो बहुलम्** (पा॰ ३ । ३ । ११३) इति अनु+उच समवाये अधिकरणे ण्यत्। **न्यङ्क्वादीनां च** (पा॰ ७।३।५३) इति कुत्वम्। **तित् स्वरितम्** (पा॰ ६।१।१८५) इति स्वरित । अनु- क्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि यत्र। पृष्ठास्थिसकाशात्। **यक्ष्मम्**। अ॰ २।१०।५। राजरोगम्। क्षयरोगम्। **दोषण्यम्**। **भवे छन्दसि** (पा॰ ४।४। ११०) इति दोस्—यत्। **पद्दन्नो॰** (पा॰ ६ । १ । ६३) इति दोषन् आदेश दोष्णो, भुजदण्डयोर्भवम्। **अंसाभ्याम्**। **अमेः सन्** (उ॰ ५ । २१) इति अम गतौ—सन्। स्कन्धाभ्याम्। **बाहुभ्याम्**। अ॰ २ । २७ । ३। भुजाभ्याम् **वि+वृहामि**। म॰ १। उन्मूलयामि ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि । वृहामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्न) फेफडे से, (हलीक्ष्णात्) पित्ते से, (पार्श्वाभ्याम् परि) दोनो काखो [कक्षाओ वा बगलो] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनो मतस्नो [गुर्दो] से, (प्लीह्न) प्लीहा, वा पिलई [तिल्ली] से, और (यक्न) यकृत् [काल खण्ड वा जिगर] से (यक्ष्मम्) क्षयी राग को (वि वृहामसि = ०—म) हम उखाडे देते है ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे कन्धो के नीचे के अवयवो का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

३—**हृदयात्** । अ० २ । २९ । ६ । वक्ष स्थमासपिण्डात् । हृदयलक्षण, यथा । शोणितकफप्रसादज हृदय तदाश्रया हि धमन्य प्राणवहा । तस्याधो-वामत प्लीहा फुस्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च । इति शब्दकल्पद्रुमे सुश्रुतात् । **क्लोम्नः** । क्लुङ् गतौ—मनिन् । फुप्फुसात् । बाह्वोर्द्वयोर्मध्ये वक्ष , तन्मध्ये हृदय तत्पार्श्वे क्लोम पिपासास्थानम् । इति श० क० द्रुमे । **हलीक्ष्णात्** । **अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः** (उ० ३ । १५८) इति हल विलेखने—ई । क्षणु तेजने—ड । हली विलेख क्ष्णौति तेजतीति । मासपिण्डविशेषात् पित्तात् । **पार्श्वाभ्याम्** । **स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च** (उ० ५ । २७) इति स्पृश-श्वण्, पृ आदेशश्च । कक्षयारधोभागाभ्याम् । **मतस्नाभ्याम्** । मत + ष्णिह स्नेहने ड । मत ज्ञान स्नेहयतीति मतस्नम् । उभयपार्श्वसबन्धाभ्या वृक्याभ्या तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्या वा—इति सायण । ग्रीवाधस्ताद् भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने ताभ्याम् इति महीधर, शुक्लयजु० २५ । ८ । **प्लीह्नः** । **श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्०** (उ० १ । १५९) इति प्लिह गतौ—कनिन् । कुक्षिवामपार्श्वस्थमासखण्डात् । **यक्नः** । **शकेर्ऋतिन्** (उ० ४ । ५८) इति बाहुलकात् यज देवपूजासङ्गति-करणदानेषु—ऋतिन् । जस्य क । यजति सगच्छते इति यकृत् । **पद्दन्नो०** (पा० ६ । १ । ६३) इति यकन् आदेश । कुक्षेर्दक्षिणभागस्थमासखण्डात् । कालखण्डात् । अन्यद् गतम् ॥

आ॒न्त्रेभ्य॑स्ते॒ गुदा॑भ्यो वनि॒ष्ठोरु॒दरा॒दधि॑ ।
यक्ष्मं॑ कु॒क्षिभ्यां॑ प्ला॒शेर्नाभ्या॒ वि वृ॑हामि ते ॥ ४ ॥

आ॒न्त्रेभ्य॑ः । ते॒ । गुदा॑भ्यः । व॒नि॒ष्ठोः । उ॒दरा॑त् । अधि॑ ।
यक्ष्म॑म् । कु॒क्षिऽभ्या॑म् । प्ला॒शेः । नाभ्याः॑ । वि । वृ॒हा॒मि॒ । ते॒ ॥४॥

भाषार्थः—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्य) आतो से, (गुदाभ्य) गुदा की नाडियो से, (वनिष्ठो) वनिष्ठु [भीतरी मलस्थान] से, (उदरात् अधि) उदर मे से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनो कोखो से, (प्लाशे) कोख मे की थैली से, और (नाभ्या) नाभि से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मै उखाडे देता हू ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे उदर के अवयवो का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

ऊ॒रुभ्यां॑ ते अष्ठी॒वद्भ्यां॒ पार्ष्णि॑भ्यां॒ प्रप॑दा॒भ्याम् ।
यक्ष्मं॑ भस॒द्यं॑१॒ श्रोणि॑भ्यां॒ भास॑दं॒ भंस॑सो॒ वि वृ॑हामि ते ॥५॥

४—**आन्त्रेभ्यः** । अ० १ । ३ । ६ । **अस्जिगमिनमि०** (उ० ४ । १६०) इति अति बन्धने–ष्ट्रन् । उदरनाडीविशेषेभ्य । पुरीतद्भ्य । **गुदाभ्यः** । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३ । १ । १३५) इति गुद क्रीडायाम्–क । टाप् । गोदते क्रीडति चलति अपानवायुर्यया । मलत्यागनाडीभ्य । **वनिष्ठोः** । वन सभक्तौ—औणादिक इष्ठुप्रत्यय । स्थूलान्त्रात् । **उदरात्** । **उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च** (उ० ५ । १९) इति उद्+दृ विदारणे–अच् । उपसर्गस्य दलोप । नाभिस्तनयोर्मध्यभागात् । जठरात् । **कुक्षिभ्याम्** । **प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः** (उ० ३ । १५५) इति कुष निष्कर्षे–क्सि । दक्षिणोत्तरोदरभागाभ्याम् । **प्लाशेः** । **वसिवपियजि०** (उ० ४।१२५) इति प्र+अशूङ् व्याप्तौ–इञ्, रस्य ल । बहुच्छिद्रात् मलपात्रात्–इति सायण [Mesentery-Griffith] । शिश्नात्, यथा महीधर –यजु० १९ । ८७ । कुक्षिस्थनाडीविशेषात् । **नाभ्याः** । अ० १ । १३ । ३ । उदरावर्तात् । नाभिमण्डलात् । अन्यद् गतम् ॥

ऊरुऽभ्याम् । ते । अ॒ष्ठीवत्ऽभ्याम् । पार्ष्णिऽभ्याम् । प्रऽपदाभ्याम् । यक्ष्मम् । भ॒सद्य॑म् । श्रोणिऽभ्याम् । भासदम् । भंससः । वि । वृ॒हा॒मि॒ । ते॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (ऊरुभ्याम्) दोनो जघाओ से, (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनो घुटनो से, (पार्ष्णिभ्याम्) दोनो एडियो से, (प्रपदाभ्याम्) दोनो पैरो के पजो से और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम्) दोनो कूल्हो से [वा नितम्बो से] और (भसस) गुह्य स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासदम्) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मै जड से उखाडता हू ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे कटि से नीचे के अवयवो का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

अ॒स्थिभ्य॑स्ते म॒ज्जभ्य॒: स्नाव॑भ्यो ध॒मनि॑भ्यः ।
यक्ष्मं॑ पा॒णिभ्या॑म॒ङ्गुलि॑भ्यो न॒खेभ्यो॒ वि वृ॑हामि ते ॥ ६ ॥

५—**ऊरुभ्याम्** । **ऊर्णोतेर्नुलोपश्च** (उ० १ । ३०) इति ऊर्णुञ् आच्छादने-कु, नुलोपश्च । जानूपरिभागाभ्याम् । जङ्घाभ्याम् । **अष्ठीवद्भ्याम्** । **आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्०** (पा० ८ । २ । १२) इति अस्थि-मतुप्, अष्ठीभावो निपात्यते । जानुभ्याम् । **पार्ष्णिभ्याम्** । **घृणिपृश्निपार्ष्णि०** (उ० ४ । ५२) इति पृषु सेचने—नि, निपातनात् साधु । पृष्यते भूम्यादिकमनेनेति । गुल्फस्याधोभागाभ्याम् । पादग्रन्थ्यधराभ्याम् । **प्रपदाभ्याम्** । प्रारब्ध प्रगत वा पदमिति प्रादिसमास । पादाग्रभागाभ्याम् । **भसद्यम्** । **शदभसोऽदिः** (उ० १ । १३०) इति भस भर्त्सनदीप्त्यो —अदि, यत् । भसत्=जघन योनिर्वा—श० क० द्रुमे । कटिप्रदेशे भवम् । **श्रोणिभ्याम्** । **वहिश्रिश्रुयु०** (उ० ४ । ५१) इति श्रु श्रवणे – नि । यद्वा, श्रोणृ सघाते—इन् । **कटिभ्याम्** । नितम्बाभ्याम् । **भासदम्** । भसद्—अण् । भसदि, योनौ भवम् । **भंससः** । भस भर्त्सनदीप्त्यो असुन् नुट् च । भासमानात् पायो, गुह्यस्थानात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अ॒स्थिऽभ्यः॑ । ते॒ । म॒ज्जऽभ्यः॑ । स्नाव॑ऽभ्यः । ध॒मनि॑ऽभ्यः । यक्ष्म॑म् । पा॒णिऽभ्या॑म् । अ॒ङ्गु॒लि॑ऽभ्यः । न॒खेभ्यः॑ । वि । वृ॒हा॒मि॒ । ते॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (अस्थिभ्य) हड्डियो से (मज्जभ्य.) मज्जा धातु [अस्थि के भीतर के रस] से (स्नावभ्य) पुठ्ठो से और (धमनिभ्य) नाडियो से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनो हाथो से. (अङ्गुलिभ्य) अगुलियो से, और (नखेभ्य) नखो से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मै जड से उखाडता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओ, नाडिओ और हाथ आदि बाहिरी अगो को यथायोग्य आहार, विहार से पुष्ट और स्वस्थ रक्खे, जिससे आत्मिक शक्ति सदा बढती रहे ॥ ६ ॥

अङ्गे॑अङ्गे॒ लोम्नि॑लोम्नि॒ यस्ते॒ पर्व॑णिपर्वणि । यक्ष्मं॒ त्वच॒स्यं॑ ते व॒यं क॒श्यप॑स्य वीब॒र्हेण॒ विष्व॑ञ्चं॒ वि वृ॑हामसि ॥७॥

६—**अस्थिभ्यः** । अ० १ । २३ । ४ । असु क्षेपणे—क्थिन् । शरीरस्थधातुविशेषेभ्य । **मज्जभ्यः** । अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहेभ्य । **स्नावभ्यः** । **स्नामदिपद्यर्त्ति०** (उ० ४ । ११३) इति ष्णा शौचे—वनिप् । वायुवाहिनाभ्य नाडीभ्य । सूक्ष्मशिराभ्य । **धमनिभ्यः** । **अर्त्तिसृधृधम्यम्य०** (उ०२।१०२) इति धम प्रापणे सौत्रो धातु अनि । धमति गतिकर्मा निघ०२।१४। यद्वा ध्मा शब्दाग्निसयोगयो –अनि । धमति गमयति रसादिकमिति धमनि । स्थूलनाडीभ्य । **पाणिभ्याम्** । **अशिपणाय्योरुडायलुकौ च** (उ० ४ । १३३) इति पण व्यवहारे—इण्प्रत्यय आयलुक्[1] च । हस्ताभ्याम् । **अङ्गुलिभ्यः** । अङ्ग लक्षणे—उलिच्[2] । अङ्गुलय कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाग्रसारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्यु —निरु० ३ । ८। हस्तपदप्रसिद्धावयवेभ्य । **नखेभ्यः** । **नहेर्ह्लोपश्च** (उ० ५ । २३) इति णह बन्धने—ख , हस्य लोप । नह्यति रुधिरादिकम् । अङ्गुलीकण्टकेभ्य । अन्यद् गतम् ॥

[1] गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय (पा० ३ । १ । २८) सूत्र से पण धातु से आय प्रत्यय करके 'पणाय' नया धातु (पा० ३ । १ । ३२) बना है, उसी आय का यहाँ लुक् किया है ॥ सम्पा० ॥

[2]. ऋतन्यञ्जि० (उ० ४ । २) सम्पा० ॥

अङ्गेऽअङ्गे । लोम्निऽलोम्नि । यः । ते । पर्वणिऽपर्वणि । यक्ष्मम् । त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । विऽबर्हेण । विष्वञ्चम् । वि । वृहामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अग अग मे, (लोम्नि-लोम्नि) रोम रोम मे (पर्वणि—पर्वणि) गाठ गाठ मे है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवो मे व्यापक (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञान दृष्टि वाले विद्वान् के (विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड से उखाडते है ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे उपसहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवो का वर्णन करके अन्य सब अवयवो का कथन है। जिस प्रकार सद्वैद्य निदान पूर्वक रोगी के जोड जोड मे से रोग का नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषो को मिटा कर प्रसन्नचित होता हे ॥ ७ ॥

७—**अङ्गे अङ्गे** । अ० १ । १२ । २ । **नित्यवीप्सयोः** (पा० ८ । १ । ४) इति सर्वत्र द्विर्वचनम् । सर्वावयवेषु । **लोम्नि-लोम्नि** । **नामन्सीमन्व्योमन्-रोमन्लोमन्**० (उ० ४ । १५१) इति लूञ् छेदने—मनिन्प्रत्ययान्त साधु । लूयते छिद्यते शरीर येन । सर्वेषु रोमकूपेषु । **पर्वणि-पर्वणि** । अ० २ । ६ । १ । सर्वेषु शरीरसन्धिषु । **त्वचस्यम्** । त्वच सवरणे—असुन्, यत् । **यचि भम्** । (पा १।४।१८) इति रुत्वाभाव । त्वचि भवम् । **कश्यपस्य** । द्र० अ० १ । १४। ४। सोमरसपानशीलस्य । यद्वा । **कृआदिभ्यः संज्ञायां वुन्** (उ० ५ । ३५) इति दृशिर् प्रेक्षणे-वुन। **पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्ति**० (पा० ७ । ३ । ७८) इति छन्दसि अशिति प्रत्ययेऽपि, दृशे पश्य इत्यादेश , आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययेण सिद्धि । कश्यपस्य अर्थात् पश्यकस्य द्रष्टुर्ज्ञानिन पुरुषस्य । यथा "कश्यप कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्य , सर्वज्ञतया सकल जगद्विजानाति स पश्य पश्य एव निर्भ्रमतयातिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थ जानात्येवात पश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययाद्धिस सिह कृतेस्तर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति हयवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पद सिध्यति"—इति श्रीदयानन्दकृताया ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् पृष्ठे २६१ तमे । **विबर्हेण** । बृहि वृद्धौ, शब्दे च, वृहू उद्यमने—ल्युट्, उपसर्गस्य दीर्घ । विविधोद्यमेन । **विष्वञ्चम्** । विष्लृ व्याप्तौ—कु +अञ्चु गतिपूजनयो —क्विन् । नानाङ्गव्यापकम् । अन्यद गतम् ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ पशुपतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

बन्धात् मोक्षायोपदेश —बन्ध से मुक्ति के लिये उपदेश ।

य ईशे॑ पशु॒पतिः॑ पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् ।
निष्क्री॑तः स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम् ॥१॥

यः । ईशे॑ । प॒शु॒ऽपतिः॑ । प॒शू॒नाम् । चतुः॑ऽपदाम् । उ॒त । यः । द्वि॒ऽपदा॑म् । निः॒ऽक्रीतः । सः । य॒ज्ञिय॑म् । भा॒गम् । ए॒तु॒ । रा॒यः । पोषाः॑ । यज॑मानम् । स॒च॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(य) जो (पशुपति) पशुओ [जीवो] का स्वामी परमेश्वर (चतुष्पदाम्) चौपाये, (उत) और (य) जो (द्विपदाम्) दोपाये (पशूनाम्) जीवो का (ईशे = ईष्टे) राजा है (स) वह परमेश्वर (निष्क्रीत.) अनुकूल हो-

---

१—**ईशे** । ईश ऐश्वर्ये । **लोपस्त आत्मनेपदेषु** (पा० ७ । १ । ४१) इति तलोप । **अधीगर्थदयेशां कर्मणि** (पा० २ । ३ । ५२) इति कर्मणि षष्ठी । ईष्टे। ईश्वर स्वामी वर्तते । **पशुपतिः** । **अर्जिदृशिकम्यमि०** (उ० १ । २७) इति दृशिर् प्रेक्षणे–कु । **पातेर्डतिः** (उ० ४।५७) इति पा रक्षणे डति । पशूना दृष्टिवता दृष्टाना वा स्थावरजङ्गमाना जीवाना पाता रक्षिता परमेश्वर । **पशूनाम्** । अ० १ । २५ । २ । जीवानाम् । **चतुष्पदाम्** । **संख्यासुपूर्वस्य** (पा० ५ । ४ । १४) इति बहुव्रीहे पादशब्दान्तस्य लोप । **पादः पत्** (पा० ६ । ४ । १३०) इति पाद इत्यस्य पदादेशो भसञ्ज्ञायाम् । गवादीनाम् । **उत** । अपि च । **द्विपदाम्** । पूर्ववत् सिद्धि । मनुष्यादीनाम् । **निष्क्रीतः** । नि नितराम् + डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये–क्त । प्रार्थनादिना अनुकूलीकृत. । **यज्ञियम्** । **यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ** (पा० ५ । १ । ७१) पूजाकर्मार्हम् । **भागम्** । भज सेवायाम्–घञ् । अशम् । भजनम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **रायः** । **रातेर्डैः** (उ० २।६६)

कर (यज्ञियम्) हमारे पूजा योग्य (भागम्) भजन वा अश को (एतु) प्राप्त करे। (राय) धन की (पोषा) वृद्धियां (यजमानम्) पूजनीय कर्म करने वाले को (सचन्ताम्) सीचती रहे ॥ १ ॥

भावार्थः—परमेश्वर सब मनुष्यादि दोपाये, और गौ आदि चौपाये तथा सब ससार का स्वामी है, वह मनुष्यो के धर्मानुकूल चलने से उनका (निष्क्रीत) मोल लिया हुआ अर्थात् उन का इच्छावर्ती होकर उन को सब प्रकार का आनन्द देता है ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः। उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

प्रऽमुञ्चन्तः। भुवनस्य। रेतः। गातुम्। धत्त। यजमानाय। देवाः। उपऽआकृतम्। शशमानम्। यत्। अस्थात्। प्रियम्। देवानाम्। अपि। एतु। पाथः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(देवा) हे विद्वान् महात्माओ! (भुवनस्य) ससार के (रेत) बीज [वृद्धि सामर्थ्य] का (प्रमुञ्चन्त) दान करते हुए तुम, (यजमानाय) पूजनीय कर्म करने वाले पुरुष को (गातुम्) मार्ग (धत्त) दान करो, (यत्) जो (शशमानम्) उछल कर प्राप्त होता हुआ (उपाकृतम्) समीप

इति रा दाने ग्रहणे च–डै । धनस्य। स्वर्णस्य। **पोषाः** । पुष पुष्टौ धारणे च–घञ्। समृद्धय । **षष्ठ्याः पतिपुत्र०** (पा० ८ । ३ । ५३) इति 'रायस्पोषा' इत्यत्र सत्वम्। **यजमानम्** । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु–शानच्। यष्टारम्। याज्ञिककर्म। **सचन्ताम्** । षिच क्षरणे-लोट्। सिञ्चन्तु ॥

२—**प्रमुञ्चन्तः**। प्रपूर्वात् मुच्लृ मोचने—शतृ। विसृजन्तः। प्रयच्छन्त । **भुवनस्य** । अ० २।१।३। ससारस्य। **रेतः** । अ० २। २८।५। बीजम्। वृद्धिसामर्थ्यम् । **गातुम्** । **कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च** (उ० १। ७३) इति गाङ् गतौ–तु । गाते गच्छति येन। मार्गम्। **धत्त** । यूय दत्त । **यजमा-**

लाया गया (पाथ) रक्षा साधन अन्नादि (देवानाम्) विद्वानो का (प्रियम्) प्रिय [हितकारक] (अस्थात्) स्थित हुआ है [वह हमे] (अपि) अवश्य (एतु) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थः—विद्वान् महात्मा लोग वेद द्वारा ससार की वृद्धि और स्थिति का कारण विचार कर सबको सत्य मार्ग का उपदेश करे जिस से मनुष्य ईश्वरकृत रक्षा साधन, ज्ञान, खान पान आदि पदार्थो का [जो सब को सब जगह सुलभ है] यथावत् प्राप्त कर दु.खो से मुक्त होकर आनन्द भोगे ॥ २ ॥

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥३॥

ये । बध्यमानम् । अनु । दीध्यानाः । अनुऽऐक्षन्त । मनसा । चक्षुषा । च । अग्निः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । विश्वऽकर्मा । प्रऽजया । सम्ऽरराणः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(ये) जो [महाविद्वान्] (बध्यमानम् अनु) बन्धन मे पडते हुए [जीव] पर (दीध्याना +सन्त) प्रकाश करते हुये, (मनसा) मन से (च) और (चक्षुषा) नेत्र मे (अन्वैक्षन्त) दया से देख चुके है, (तान्) उन (अग्रे=अग्रे वर्त्तमानान्) अग्रगामियो को (अग्नि) सर्वव्यापक, (देव) प्रकाश–

नाय । म० १ । उपकर्त्रे । **देवाः** । हे विद्वास । **उपाकृतम्** । उप+आङ्+कृ–क्त । समीपे आनीतम् । **शशमानम्** । शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलम् । **यत्** । पाथ । **अस्थात्** । तिष्ठति स्म । **प्रियम्** । अ० २ । २८ । ५ । हितकरम् । **देवानाम्** । विदुषाम् । **एतु** । अस्मान् प्राप्नोतु । **पाथः** । **अन्ने च** (उ० ४ । २०५) इति पा रक्षणे—असुन्, थुट् च । रक्षामाधनम् । अन्नम् ॥

३—**ये** । विद्वास । **बध्यमानम्** । **सार्वधातुके यक्** (पा० ३ । १ । ६७) इति बन्ध बन्धने–कर्मणि यक्, तत शानच् । बन्धने गच्छन्तम् । **अनु** । अनुलक्ष्य । **दीध्यानाः** । दीधीङ दीप्तिदेवनयो —शानच् । दीप्यमाना । **अन्वैक्षन्त** । ईक्ष दर्शने–छान्दसो लड । अनुकूलम् अनुक्रमेण वा दृष्टवन्त. ।

स्वरूप, (विश्वकर्मा) सब का रचने वाला परमेश्वर, (प्रजया) प्रजा [सृष्टि] के साथ (सरराण =सरममाण) आनन्द करता हुआ (प्र) भली प्रकार (मुमोक्तु) [विघ्न से] मुक्त करे ।। ३ ।।

भावार्थः—जो महात्मा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति से अज्ञान के कारण से दु ख मे डूबे हुओ के उद्धार मे समर्थ होते है, वह सर्वशक्तिमान् सर्वकर्त्ता परमेश्वर उन परोपकारी जनो का सदा सहायक और आनन्ददायक होता है ।। ३ ।।

'बध्यमानम्' के स्थान पर वध्यमानम् और 'अनु दीध्याना ' दो पद के स्थान पर 'अनुदीध्याना ' एक पद सायण भाष्य मे है ।।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः । वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्वऽरूपाः । विऽरूपाः । सन्तः । बहुऽधा । एकऽरूपाः । वायुः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । प्रजाऽपतिः । प्रऽजया । सम्ऽरराणः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(ये) जो (ग्राम्या) ग्राम मे बसने वाले, (विश्वरूपा) सब वर्ण वाले (पशवः) जीव (बहुधा) प्राय (विरूपा) पृथक् २ रूप वाले

मनसा । चित्तेन । **चक्षुषा ।** अ० १ । ३३ । ४ । दर्शनेन्द्रियेण । नेत्रेण । **अग्निः ।** सर्वत्रगति । परमेश्वर । **तान् ।** विदुष पुरुषान् । **युष्मत्तत्ततक्षुः--ष्वन्तः पादम्** (पा० ८ । ३ । १०३) इति 'अग्निष्टान्' इत्यत्र षत्वम् । **अग्रे ।** अग्रे वर्त्तमानान् । **प्र ।** प्रकर्षेण । **मुमोक्तु ।** छन्दसि शप श्लु । मोचयतु विघ्नात् । **देवः ।** दीप्यमान । **विश्वकर्मा । सर्वधातुभ्यो मनिन्** (उ० ४ । १४५) इति विश्व + कृञ् - मनिन् । विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता [मध्य-स्थानः]–निरु० ०।२५ । विश्वेषु कर्म यस्य । सर्वकर्त्ता । परमात्मा । **प्रजया ।** स्वसृष्ट्या । **संरराणः ।** सरममाण । सह रममाण । सम्यग्रममाण । यद्वा रा दाने, ग्रहणे, रै शब्दे–लिट कानच् । सम्यग्दाता ग्रहीता शब्दायमानो वा ।।

४—**ये ।** पशव । **ग्राम्याः । ग्रसेरा च** (उ० १ । १४३) इति ग्रसु

(सन्त) होकर (एकरूपा) एकस्वभाव वाले है, (तान्) उन (अग्रे = अग्रे वर्त्तमानान् पशून्) अग्र वर्त्ती जीवो को (वायुः) सर्वव्यापी वा बलदायक (देव) प्रकाश स्वरूप, (प्रजापति) प्रजाओ का रक्षक परमेश्वर (प्रजया) प्रजा [अपने जनो से (सरराण = सरममाण) आनन्द करता हुआ (प्र) भली प्रकार (मुमोक्तु) मुक्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो (ग्राम्या) मिलकर भोजन करने वाले मनुष्य भिन्न देश, भिन्न अन्न जल वायु होने से भिन्न वर्ण होकर भी एक ईश्वर की आज्ञा पालन मे (एकरूप) तत्पर रहते है, परमेश्वर प्रसन्न होकर उन पुरुषार्थी महात्माओ को दुःख से छुडा कर सदा आनन्द देता है ॥

२—शुद्ध वायु सब प्राणियो को शारीरिक और आत्मिक सुख देता है ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

प्रऽजानन्तः । प्रति । गृह्णन्तु । पूर्वे । प्राणम् । अङ्गेभ्यः । परि । आऽचरन्तम् । दिवम् । गच्छ । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः । स्वःऽगम् । याहि । पथिऽभिः । देवऽयानैः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(प्रजानन्त) बडे ज्ञान वाले (पूर्वे = पूर्वे वर्त्तमाना + भवन्त)

अदने—मन्, धातोराकारान्तादेशश्च । ग्रसन्ति यत्र मिलित्वा । **ग्रामाद् यखञौ** (पा० ४ । २ । ९४) ग्रामे शालासमुदाये भवा उत्पन्ना । ग्रामीणा । **पशवः** । प्राणिन । **विश्वरूपाः** । **खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः** (उ० ३ । २८) इति रु शब्दे—प , दीर्घश्च । रूयते कीर्त्त्यते तद् रूपम् । शुक्लादिवर्णम् । आकृति । स्वभाव । सौन्दर्यम् । नानावर्णा । **विरूपाः** । विरुद्धाकारा । **सन्तः** । वर्त्तमाना अपि । **बहुधा** । **विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले** (पा० ५ । ४ । २०) इति बहु + धा । बहुप्रकारम् । प्रायेण । **एकरूपाः** । परमेश्वराज्ञापालन-एकस्वभावा । **वायुः** । अ० २ । २० । १ । सर्वव्यापी । परमेश्वर पवन । **प्रजापतिः** । यज्ञः—निघ० ३ । १७ । प्रजाना पाता वा पालयिता वा [मध्यस्थानी देव] निरु० १० । ४२ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—प्रजानन्तः । प्र + ज्ञा—शतृ । प्रकर्षेण जानन्त. । महाविद्वास ।

प्रथम स्थान मे वर्त्तमान महात्मा पुरुष आप (अङ्गेभ्य) सब के अङ्गो के हित के लिए (परि) सब ओर (आचरन्तम्) चलने वाले (प्राणम्) अपने प्राण [बल] को (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णन्तु) ग्रहण करे ।

[हे मनुष्य !] (दिवम्) ज्ञान प्रकाश वा व्यवहार को (गच्छ) प्राप्त कर, (शरीरै) सब अङ्गो के साथ (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठित रह (देवयानै) देवताओ के चलने योग्य (पथिभि) मार्गों से (स्वर्गम्) स्वर्ग [महा आनन्द] मे (याहि) तू पहुँच ॥ ५ ॥

भावार्थः—ज्ञानी महात्मा पुरुष जो श्वास ले वह ससार के उपकार के लिये ही ले, अर्थात् प्रतिक्षण परोपकार मे लगकर अपना सामर्थ्य और जीवन बढावे । और प्रत्येक मनुष्य को योग्य है कि अपने आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश करके सब व्यवहारो मे चतुर हो, और आख कान, हाथ, पग आदि अङ्गो से शुभ कर्म करके प्रतिष्ठा बढावे, और जिन वेद मार्गो पर देवता चलकर स्वर्ग भोगते है उन्ही वेदरूपी राजपथो पर चल कर जीवन्मुक्त होकर आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—स्वर्ग का लक्षण टिप्पणी, अ० १ । ३० । २ मे अथर्व० का० ६ । सू० १२० म० ३ के प्रमाण से दिया है, वहा देख लीजिये ॥

प्रति । प्रत्यक्षम् । **गृह्णन्तु** । स्वीकुर्वन्तु । **पूर्वे** । प्रतिष्ठास्थाने वर्त्तमाना । प्रधाना । **प्राणम्** । अ० २ । १५ । १ । जीवनसाधन प्राणापानरूप बलम् । **अङ्गेभ्यः** । अ० १ । १२ । ४ । अङ्गाना हिताय । **परि** । सर्वत । **आचरन्तम्** । चर-शतृ । आगच्छन्तम् । **दिवम्** । अ० १ । ३० । ३ । प्रकाशम् । **शरीरैः** । अ० २ । १२ । ८ । शरीराङ्गै सह । **स्वर्गम्** । स्व -इति व्याख्यातम् अ० २ । ५ । २ । स्व सुख गीयते यत्र स्व +गै-क. । यद्वा, सुष्ठु अर्ज्यते सु+ अर्ज अर्जने-घञ् । शकन्ध्वादित्वात् कुत्वम् । देवताना विदुषा निवासस्थानम् । स्वर्लक्षण द्रष्टव्यम्-टिप्पण्याम् । अ० १ । ३० । २ । **पथिभिः** । **पतःस्थ च** (उ० ४ । १२) इति पतॢ गतौ-इनि , थश्चान्तादेश । मार्गै । **देवयानैः** । देव+या गतौ-ल्युट् । देवाना यान गमन यै. । देवगमनयोग्यै. ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१–५ ॥ विश्वकर्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापत्यागात् सुखलाभ इत्युपदिश्यते–पाप के त्याग से सुखलाभ है, इस का उपदेश ॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥१॥

ये । भक्षयन्तः । न । वसूनि । आनृधुः । यान् । अग्नयः । अनुऽअतप्यन्त । धिष्ण्याः । या । तेषाम् । अवऽयाः । दुःऽइष्टिः । सुऽइष्टिम् । नः । ताम् । कृणवत् । विश्वऽकर्मा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(ये) जिन मनुष्यो ने (भक्षयन्त) पेट भरते हुए (वसूनि) धनो को (न) नही (आनृधु) बढाया, और (यान्) जिन पर (धिष्ण्या) बोलने, काम वा बुद्धि मे चतुर (अग्नय) गतिशील ज्ञानी [वा अग्नि समान तेजस्वी] पुरुषो ने (अन्वतप्यन्त) अनुताप किया है। [शोक माना है], (तेषाम्) उन [कजूसो] की (या) जो (अवया) विनाश हेतु (दुरिष्टि) खोटी सङ्गति है

१—**भक्षयन्तः** । भक्ष–शतृ । भक्षका । उदरपोषका । **न** । निषेधे । **वसूनि** । धनानि । **आनृधुः** । ऋधु वृद्धौ–लिट् । **अत आदेः** (पा० ७।४।७०) इत्यभ्यासदीर्घत्वे । **तस्मान्नुड् द्विहलः** (पा० ७ । ४ । ७१) इति नुडागम । वर्धितवन्त । **यान्** । स्वार्थिन पुरुषान् । **अग्नयः** । अगि गतौ–नि । गतिशीला । ज्ञानिनः । अग्निवत्तेजस्विन पुरुषा । **अन्वतप्यन्त** । अनुताप पश्चात्ताप कृतवन्त । **धिष्ण्याः** । **सानसिवर्णसिपर्णसि०** (उ० ४ । १०७) इति धिष शब्दे–ण्यप्रत्यय । शब्दकुशला । विद्वास । यद्वा । धीङ् आधारे, ध्यै चिन्तायाम्–क्विप् । धी, कर्मनाम–निघ० २।१। प्रज्ञा नाम–निघ० ३।६। इषु इच्छायाम्–ण्यप्रत्यय पूर्ववत्, निपातनाद् रूपसिद्धि । धिय कर्माणि प्रज्ञा वा इच्छन्ति ते धिष्ण्या । कर्मकुशला । धीरा । **अवयाः** । **अवे यजः** (पा० ३ । २ । ७२) अव + यज–ण्विन् । **अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च** (पा० ८।२।६७) इति निपातित ।

(विश्वकर्मा) सब कर्मों मे चतुर [वा ससार का रचने वाला] परमेश्वर (ताम्) उस [कुसगति] को (न) हमारे लिए (स्विष्टिम्) उत्तम फलदायक (कृणवत्) करे ॥ १ ॥

भावार्थः—जो स्वार्थी मनुष्य केवल अपना पेट भरना जानते है और जो धन एकत्र करके उपकार नही करते, उन की दशा उदारशील महात्माओ को शोचनीय होती है सब कर्मकुशल मनुष्यो को [परमेश्वर] सुमति दे कि उनका मन स्वार्थपन छोड कर जगत् की भलाई मे लगे। सब मनुष्य (विश्वकर्मा) विहित कर्मो मे कुशल होकर, और कुसगति का दुष्ट फल देखकर दुष्कर्मों से बचे और सदा आनन्द से रहे ॥ १ ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।

मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥

यज्ञऽपतिम् । ऋषयः । एनसा । आहुः । निःऽभक्तम् । प्रऽजाः । अनुऽतप्यमानम् । मथव्यान् । स्तोकान् । अप । यान् । रराध । सम् । नः । तेभिः । सृजतु । विश्वऽकर्मा ॥ २ ॥

भाषार्थः—(ऋषय) सूक्ष्मदर्शी ऋषि (प्रजा) मनुष्यादि प्रजाओ पर (अनुतप्यमानम्) अनुताप [अनुकम्पा] करने वाले (यज्ञपतिम्) उत्तम कर्मो के रक्षक पुरुष को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) पृथक् किया हुआ (आहु) बताते हैं।

अवयजामहे = विनाशयाम —इति महीधर , यजु० ३।४५ विनाशहेतु । **दुरिष्टिः** । दुर् + इषु इच्छायाम्, यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु वा—क्तिन्। दुष्टक्रिया। कुसगति । **स्विष्टिम्** । सु + इष्टिम् । शोभनाम् इष्टसाधिकाम् । **नः** । अस्मदर्थम् । **कृणवत्** । अ० २ । ६ । ५ । करोतु । **विश्वकर्मा** । अ० २ । ३४ । ३ । सर्वकर्ता परमेश्वर ॥

२—**यज्ञपतिम्** । शुभकर्मरक्षकम् । **ऋषयः** । अ० २।६।१ । मन्त्रार्थद्रष्टार । सूक्ष्मदर्शिन । **एनसा** । अ० २ । १० । ८ । पापेन । अपराधेन । **आहुः** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् ब्रुवन्ति । **निर्भक्तम्** । भज सेवायाम्, विभागे—क्त ।

उसने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयो को (अप) आनन्द से (रराध) सिद्ध किया है (विश्वकर्मा) ससार का रचने वाला परमेश्वर (तेभि =तै) उन [सूक्ष्म विषयो] के साथ (न) हमे (स सृजतु) सयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थः—ऋषि लोग उस पुरुषार्थी पुरुष को निष्पाप और पुण्यात्मा मानते हैं जो सब जीवो पर दया और उपकार करता है वही धर्मात्मा आप्तपुरुष, सत्य सिद्धान्तो को साक्षात् करके आनन्द से ससार मे प्रकाशित करता है। (विश्वकर्मा) परमेश्वर उन अटल वैदिक धर्मो को हम सब के हृदय मे स्थापित करे, जिससे हम पुरुषार्थ पूर्वक सदा आनन्द भोगे ॥ २ ॥

टिप्पणी— 'अनुतप्यमानम् के स्थान पर 'अनु तप्यमानम्' दो पद और 'मथव्यान्' के स्थान पर [मधव्यान्] पद सायणभाष्य मे है ॥

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः। यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

अदान्यान्। सोमऽपान्। मन्यमानः। यज्ञस्य। विद्वान्। समऽअये। न। धीरः। यत्। एनः। चकृऽवान्। बद्धः। एषः। तम्। विश्वऽकर्मन्। प्र। मुञ्च। स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अदान्यान्) दान के अयोग्य पुरुषो को (सोमपान्) अमृत पान

पृथक् कृतम्। वियुक्तम्। **प्रजाः**। ईश्वरसृष्टी। **अनुतप्यमानम्**। अनुताप पश्चात्ताप कुर्वन्तम्। **मथव्यान्**। मथे विलोडने-तव्यत्, छान्दस रूपम्। मथितव्यान्। अन्वेषणीयान्। **स्तोकान्**। ष्टुच प्रसादे दीप्तौ-घञ्। प्रसन्नकरान्, दीप्यमानान् सूक्ष्मविषयान्। बिन्दून्। **अप**। आनन्दे-यथा। अपचिति =पूजा, अपदानम् =प्रशस्यकर्म। **रराध**। राध ससिद्धौ—लिट्। साधितवान्, पूरितवान्। **नः**। अस्मान्। **तैः**। स्तोकै। **संसृजतु**। सयोजयतु। **विश्वकर्मा**। सर्वरचयिता। अन्यद् गतम् ॥

३—अदान्यान्। छन्दसि च (पा० ५। १। ६७) इति अदान—यप्रत्यय,।

करने वाले (मन्यमान) मानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य) शुभ कर्म का (विद्वान्) जानने वाला और (समये) समय पर (धीर) धीर (न) नही होता। (एष) इस पुरुष ने (बद्ध) [अज्ञान मे] बन्ध होकर (यत्) जो (एन) पाप (चकृवान्) किया है, (विश्वकर्मन) हे ससार के रचने वाले परमेश्वर ! (तम्) उस पुरुष को (स्वस्तये) आनन्द भोगने के लिए (प्र मुञ्च) मुक्त कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य अविवेक के कारण मूढ होकर अपनी और ससार की हानि कर डालता है। वह पुरुष अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप कर और पाप कर्म छोड़कर ईश्वर आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् । बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥

दानानर्हान्। **सोमपान्** । **गापोष्टक्** (पा० ३ । २ । ८) सोम+पा पाने-टक् । अमृतपानशीलान् पण्डितान् । **मन्यमानः** । मन ज्ञाने दिवादि— शानच् । जानन् सन् । **यज्ञस्य** । अ० १ । ९ । ४ । प्रशस्यकर्मण । **विद्वान्** । **विदेः शतुर्वसुः** (पा० ७ । १ । ३६) इति विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेश । प्राज्ञ । पण्डित । **समये** । सम्+इण् गतौ-पचाद्यच् । उचितकाले, अवसरे । **न** । निषेधे । **धीरः** । **सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्** (उ० २ । २४) इति डुधाञ् धारण-पोषणयो —क्रन् । **घुमास्थागापा०** (पा० ६ । ४ । ६६) इति ईत्वम् । यद्वा । धी प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीय । यद्वा । **कर्मण्यण्** (पा० ३ । २ । १) इति धी+ ईर गतौ कम्पने च-अण् । धियम् ईरयतीति । यद्वा । धी+रा-क । धिय राति ददाति गृह्णातीति वा । मेधावी-निघ० ३ । १५ । धैर्यवान् । पण्डित । **एनः** । म० २ । अपराधम् । **चकृवान्** । कृञ्-लिटः क्वसु । कृतवान् । **बद्धः** । बध्यते स्म । बन्ध-क्त । बन्धनयुक्त । **विश्वकर्मन्** । हे सर्वकृत् । **प्र+मुञ्च** । प्रमोचय । **स्वस्तये** । अ० १ । ३० । २ । क्षेमाय । कुशलाय ॥

घोराः । ऋषयः । नमः । अस्तु । एभ्यः । चक्षुः । यत् । एषाम् । मनसः । च । सत्यम् । बृहस्पतये । महिष । द्युऽमत् । नमः । विश्वऽकर्मन् । नमः । ते । पाहि । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(ऋषय) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (घोरा) [पाप कर्मों पर] क्रूर होते है, (एभ्य) उन [ऋषियो] को (नम) अन्न वा नमस्कार (अस्तु) होवे, (यत्) क्योकि (एषाम्) उन [ऋषियो] के (मनस) मन की (चक्षु) आँख (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ [देखने वाली] है। (महिष) हे पूजनीय परमेश्वर ! (बृहस्पतये) सब बडे बडे ब्रह्माण्डो के स्वामी [आप] को (द्युमत्) स्पष्ट (नम) नमस्कार है, (विश्वकर्मन्) हे ससार के रचने वाले ! (नमस्ते) तेरे लिये नमस्कार है, (अस्मान्) हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थः—जिन महात्मा आप्त ऋषियो के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म, ससार को दु ख से मुक्त करने के लिये होते है, उनके उपदेशो को सब मनुष्य प्रीति पूर्वक ग्रहण करे, और जो परमेश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता है,

---

४—**घोराः** । अ० १ । १८ । ३ हन—अच्, घुरादेश. । यद्वा । घुर भीमार्थशब्दयो -अच् । भयानका । भीमा । **ऋषयः** । म० २ । मुनय आप्तपुरुषा । **नमः** । अ० १ । १० । २ । णम प्रह्वत्वे शब्दे च, असुन् अन्नम्—निघ० ३ । ७ । सत्कार । **अस्तु** । भवतु । **एभ्यः** । ऋषिभ्य । **चक्षुः** । अ० १ । ३३ । ४ । दृष्टि । नेत्रम् । **एषाम्** । ऋषीणाम् । **मनसः** । अ० १ । १ । २ । अन्त करणस्य । **सत्यम्** । अ० २ । १४ । ४ । तथ्यम् । यथार्थम् । **बृहस्पतये** । अ० १ । ८ । २ । बृहता महता लोकाना पत्ये स्वामिने । **महिष** । **अविमह्योष्टिषच्** (उ० १ । ४५) इति मह पूजायाम्–टिषच् । महिषा=महान्त –निरु० ७ । २६ । मह्यते पूज्यते सर्वै , यद्वा, महति पूजयति शुभगुणानिति । हे महन्–निघ० ३।३। पूजनीय । **द्युमत्** । **सम्पदादित्वात् क्विप्** (पा० वा० ३ । ३ । ९४) इति द्यु अभिगमने, यद्वा, द्युत दीप्तौ-क्विप् । मतुपि तलोप । **पृषोदरादित्वात्**, (पा० ६ । ३ । १०९) यद्वा, दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु–विच् ।

उस के उपकारो को हृदय में धारण करके उसकी उपासना करे और सदा पुरुषार्थ करके श्रेष्ठो की रक्षा करते रहे ॥ ४ ॥

'महिष' के स्थान पर सायण भाष्य मे 'महि सत्' दो पद है ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

यज्ञस्य । चक्षुः । प्रऽभृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि । इमम् । यज्ञम् । विऽततम् । विश्वऽकर्मणा । आ । देवाः । यन्तु । सुऽमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

भाषार्थः---[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षु) नेत्र [नेत्र समान प्रदर्शक], (प्रभृति) पुष्टि (च) और (मुखम्) मुख [समान मुख्य] है, [उस को] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा) मन से (जुहोमि) मै स्वीकार करता हूँ। (सुमनस्यमाना) शुभ चिन्तको के जैसे आचरण वाले (देवाः) व्यवहारकुशल महात्मा (विश्वकर्मणा) ससार के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुये (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करे ॥ ५ ॥

द्योतन दिव्। **दिव उत्** (पा० ६ । १ । १-१) इति मतुपि उत्वम् । दीप्तिमत् । कान्तियुक्तम् । स्पष्टम् । **नमः** । सत्कार । **विश्वकर्मन्** । म० १ । हे सर्वजनक परमात्मन् । **पाहि** । त्व रक्ष । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—**यज्ञस्य** । म० ३ । पूजनीयकर्मण । **चक्षुः** । म० ४ । नेत्रवत् प्रदर्शको यः पुरुषोऽस्ति । **प्रभृतिः** । डुभृञ् धारणपोषणयो -क्तिन् । धारणम् । पोषणम् । **मुखम्** । **डित् खनेर्मुट् चोदात्तः** (उ० ५ । २०) इति खनु अवदारणे–अलच् । स च डित्, धातोर्मुडागमश्च । तस्योदात्तत्वम् । खनति अन्नादिकमनेनेति । आस्यम् । मुखमिव मुख्यम् । **वाचा** । अ० १ । १ । १ । वाण्या । पठनपाठन-कर्मणा । **श्रोत्रेण** । अ० २ । १७ । ५ । श्रुत्या । कर्णेन । श्रवणश्रावणकर्मणा ।

भावार्थः—मनुष्यो को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओ के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यामन अर्थात् बारम्बार विचार, करके ग्रहण करे। और सब अनुग्रहशील महात्मा परमेश्वर के दिये हुए विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहे ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—८ अग्निर्देवता। १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २, ५, ६, ७ अनुष्टुप्, ८ गायत्री ॥

विवाहसस्कारोपदेश —विवाह सस्कार का उपदेश ॥

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन। जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभग-मस्त्वस्यै ॥ १ ॥

आ। नः। अग्ने। सुऽमतिम्। सम्ऽभलः। गमेत्। इमाम्। कुमारीम्। सह। नः। भगेन। जुष्टा। वरेषु। समनेषु। वल्गुः। ओषम्। पत्या। सौभगम्। अस्तु। अस्य ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी राजन् (सम्भल) यथाविधि सम्भाषण वा निरूपण करने वाला वर (इमाम्) इस (सुमतिम्) सुन्दर बुद्धि वाली (कुमारीम्) कुमारी को (न) हमारे लिये (भगेन सह+वर्त्तमान

मनसा। मननेन। अन्त करणेन। निदिध्यासनेन। **जुहोमि**। अ० १। १५। १। आददे। स्वीकरोमि तम्। **विततम्**। तनु विस्तारे-क्त। विस्तृतम्। **विश्वकर्मणा**। परमात्मना। **देवाः**। व्यवहारकुशला। महात्मान। **यन्तु**। प्राप्नुवन्तु। **सुमनस्यमानाः**। अ० १। ३५। १। शोभन ध्यायन्त। शुभचिन्तका ॥

१—**नः**। अस्मान्। **अग्ने**। हे अग्निवत्तेजस्विन राजन्। **सुमतिम्**। सु+मन ज्ञाने-क्तिन्। शोभनबुद्धियुक्ताम्। **सम्भलः**। सम्+भल परि-

सन्) ऐश्वर्य के साथ वर्त्तमान होकर (न) हमसे (आ = आगत्य) आकर (गमेत्) ले जावे। [इयम् कुमारी] [यह कन्या] (वरेषु) वर पक्ष वालों में (जुष्टा) प्रिय और (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर है। (अस्यै) इस [कन्या] के लिये (ओषम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम्) सुहागपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—यहां (अग्नि) शब्द राजा के लिये है। माता पिता आदि राजव्यवस्था के अनुसार योग्य आयु में गुणवती कन्या का विवाह गुणवान् वर से करें। जिस से वह कन्या पतिकुल में सब को प्रसन्न रक्खे और आप आनन्द से रहे। इसी आशय का राजप्रकरण में मनु महाराज ने अ० ७। १५२ में वर्णन किया है—'कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।" "कन्याओं के नियम पूर्वक दान [विवाह] का और कुमारों की रक्षा का [राजा चिन्तन करे]" ॥१॥

'ओषम्' के स्थान पर सायण भाष्य में 'ऊषम्' है ॥

भाषणहिंसादानेषु निरूपणे च-पचाद्यच्। सम्यग् भलते परिभाषते निरूपयति वा स सम्भलः। यथाविधि परिभाषकः यथाशास्त्रं निरूपकः। **आ+गमेत्**। द्विकर्मकः। आगत्य गमयेत्, नयेत्। **इमाम्**। प्रसिद्धाम्। गुणवतीम्। **कुमारीम्**। कुमार क्रीडायाम्-अच्। **वयसि प्रथमे** (पा० ४। १। २०) इति ङीप्। कन्याम्। **सह**। सहितः। **नः**। अस्मदर्थम्। **भगेन**। भजनीयेन गुणेन ऐश्वर्येण। **जुष्टा**। प्रीता, सेविता। **वरेषु**। वृञ् वरणे-अप्। यद्वा वर ईप्सायाम्-घञ्। श्रेष्ठेषु वरयितृषु, वरपक्षीयेषु। **समनेषु**। सम्+अन प्राणने-घञ्। यद्वा। सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे-अच्। सम्यग् अनिति आनीयते वा। समानं तुल्यं साधु वा। समानस्य सभावः। मन ज्ञाने-पचाद्यच्। साधुमननयुक्तेषु। **वल्गुः**। [१]**बलेर्गुक् च** (उ० १। १९) इति बल प्राणने-उप्रत्ययः, गुक् आगमः। रुचिरा। मनोहरा। **ओषम्**। उष दाहे, बधे-घञ्। क्षिप्रम्। निघ० २। १५। **पत्या**। स्वामिना सह। **सौभगम्**। सुभग-अण्। सुभगत्वम्। **अस्यै**। कुमार्यै। अन्यद् गतम् ॥

---

१ 'वलेर्गुक् च' ऐसा दन्त्योष्ठ्यादि पाठ उज्ज्वलदत्त ने उणादि में माना है। द्र० क्षीर० पृ० ७५ टि० २ ॥ सम्पा० ॥

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥ २ ॥

सोमऽजुष्टम् । ब्रह्मऽजुष्टम् । अर्यम्णा । सम्ऽभृतम् । भगम् ।
धातुः । देवस्य । सत्येन । कृणोमि । पतिऽवेदनम् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(धातु) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्य नियम से (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषो के प्रिय (ब्रह्मजुष्टम्) ब्रह्म ज्ञानी पुरुषो से सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठो के मान करने वाले राजा से (सभृतम्) पुष्ट किये हुए (भगम्) सेवनीय वा ऐश्वर्ययुक्त (पतिवेदनम्) पत्नी [वा पति] की प्राप्ति [विवाह] (कृणोमि) मै करता [वा करती] हूँ ॥ २ ॥

भावार्थः—यह गृहस्थाश्रम ईश्वरकृत नियम है। इसकी रक्षा के लिये सब बडे बडे महात्मा प्रयत्न करते और राजा नियम बनाते है। उस के निर्वाह के लिये माता पिता आदि वर और कन्या को यथावत् उपदेश करे और उनका विवाह करे ॥ २ ॥

२—**सोमजुष्टम्** । **अर्त्तिस्तुसुहु०** (उ० १।१४०) इति षु प्रसवैश्वर्ययो –मन् । जुषी प्रीतिसेवनयो –क्त । ऐश्वयवद्भि प्रीतम् । **ब्रह्मजुष्टम्** । **बृहेर्नोऽच्च** (उ० ४ । १४६) इति बृह वृद्धौ–मनिन्, नस्य अकार । ब्रह्मभि अधीतवेदै-र्ब्राह्मणैर्ब्रह्मज्ञानिभि सेवितम् । **अर्यम्णा** । अ० १ । ११ । १ । अर्यमादित्यो-ऽरीन् नियच्छति–निरु० ११।२३ । श्रेष्ठाणा मानकर्त्रा, न्यायकारिणा राज्ञा । **सम्भृतम्** । सम्यक् पोषित वर्धितम् । **भगम्** । **पुसि सज्ञायाम् घः प्रायेण** (पा० ३ । ३ । ११८) इति भज सेवायाम्–घ । **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (पा० ७। ३।५२) इति जस्य ग । भजनीयम् । सेवनीयम् । ऐश्वर्ययुक्तम् । **धातुः** । सर्वस्य धा-रकस्य पोषकस्य । **देवस्य** । प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य । **सत्येन** । सते हितम्, सत्–यत् । यथार्थधर्मेण । **कृणोमि** । करोमि । **पतिवेदनम्** । विद्लृ लाभे, विद ज्ञाने–ल्युट् । वेदनम् = विवाहः । ज्ञानम् । **पुमान् स्त्रिया** (पा० १।२।६७)इति पत्नी च पतिश्च पती एकशेष तयोर्वेदन लाभ ज्ञान विवाहोवा ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु॥३॥

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्ट । सोमः । हि । राजा । सुऽभगाम् । कृणोति । सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा । पतिम् । सुऽभगा । वि । राजतु ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (इयम्) यह (नारी) नर [अपने पति] का हित करने वाली कन्या (पतिम्) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे, (हि) क्योंकि (सोम) ऐश्वर्यवान् वा चन्द्र समान आनन्द प्रद (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान् वर] [इस को] (सुभगाम्) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है । [यह कन्या] (पुत्रान्) कुलशोधक वा बहुरक्षक वीर पुत्रो को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी) पूजनीय महारानी (भवाति) होवे, और (पतिम्) पति को (गत्वा) पाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि) अनेक प्रकार से (राजतु) राज्य करे ॥ ३ ॥

भावार्थः—परमेश्वर के अनुग्रह से यह दोनो पति और पत्नी, बडे ऐश्वर्य वा ठाट वाले राजा और रानी के समान गृह कार्यों को चलावे और वीर पुत्र पौत्र आदिको को उत्तम शिक्षा देते हुऐ सदा आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

३—**इयम्** । निर्दिष्टा गुणवती । **अग्ने** । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । **नारी** । अ० १ ।११।१ । नरस्य हिता । कन्या । वधू । **पतिम्** । अ० १।१।१। रक्षकम् । ऐश्वर्यवन्तम् । **विदेष्ट** । विद्लृ लाभे—आशीर्लिङि छान्दस रूपम् । वेदिषीष्ट । विन्दताम् । लभताम् । **सोमः** । अ० १ । ६ । २ । ऐश्वर्यवान् । चन्द्रवदानन्दप्रद । **हि** । यस्मात् । **राजा** । अ० १ । १० । १ । ऐश्वर्यवान् । प्रतापी । **सुभगाम्** । सुष्ठु भगं यस्या । शोभनैश्वर्यवतीम् । पतिप्रियाम् । **कृणोति** । करोति । **सुवाना** । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—शानच् । जनयन्ती । **पुत्रान्** । अ० १ ।

मनु महाराज ने कहा है—

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥मनु० ३।६०॥

भार्या से भर्त्ता और भर्त्ता से भार्या जिस कुल मे सतुष्ट हो, वहाँ पर अवश्य ही नित्य कल्याण रहता है ॥

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव। एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥ ४ ॥

यथा । आऽखरः । मघऽवन् । चारुः । एषः । प्रियः । मृगाणाम् । सुऽसदाः । बभूव । एव । भगस्य । जुष्टा । इयम् । अस्तु । नारी । समऽप्रिया । पत्या । अविऽराधयन्ती ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे पूजनीय वा महाधनी परमेश्वर, (यथा) जैसे (एष) यह (चारु सुन्दर (आखर) खोह वा माद (मृगाणाम्) जगली पशुओ का (प्रिय) प्रिय और (सुषदा) रमणीक घर (बभूव)हुआ है [होता है], (एव =एवम्) ऐसे ही (इयम) यह (नारी) नारी (भगस्य) ऐश्वर्यवान् [पति] की (जुष्टा) दुलारी और (सप्रिया) प्रियतमा होकर (पत्या) पति से (अविराधयन्ती) वियोग न करती हुई (अस्तु) रहे ॥ ४ ॥

---

११ । ५ । कुलशोधकान बहुरक्षकान् वा वीरान् । **महिषी** । अ० २ । ३५ । ४ । मह पूजायाम्—टिषच् । टित्वान् ङीप् । पूजनीया । कृताभिषेका राजपत्नी । **भवाति** । भू—लेट् । भूयात् । **गत्वा** । प्राप्य । लब्ध्वा । **सुभगा** । सौभाग्यवती । **वि** । विशेषेण । **राजतु** । ईश्वरी तेजस्विनी भवतु ॥

४—यथा । येन प्रकारेण । **आखरः** । आङ् पूर्वात् खनु अवदारणे डर प्रत्यय । डित्वात् टिलोप । आखन्यते, आखर । गर्त्त । बिलम् । **मघवन्** । अ० २ । ५ । ७ । हे पूजनीय । हे धनवन् परमेश्वर । **चारुः** । अ० २ । ५ । १ । शोभन । मनोज्ञ । **प्रियः** । प्री—क । हृद्य । सुखकर । **मृगाणाम्** । मृग

भावार्थः—जिस प्रकार आरण्यक नर नारी पशु आनन्द पूर्वक अपने बिलो मे विश्राम करते है, इसी प्रकार मनुष्यजातीय पति पत्नी परस्पर मिल-जुल कर उपकार करते हुये सदा सुख से रहे ॥ ४ ॥

मनु भगवान् ने कहा है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥मनु० ५ । १४८॥

स्त्री बालकपन मे पिता के, युवावस्था मे पति के, और पति के मरने पर पुत्रो के वश मे रहे, स्त्री स्वतन्त्रता का उपभोग न करे ॥

सायणभाष्य मे 'मघवन्' के स्थान मे 'मघवान्' और 'अविराधयन्ती' के स्थान मे 'अभिरा धयन्ती=अभि वर्धयन्ती, समृद्धा भवन्ती' है ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

भगस्य । नावम् । आ । रोह । पूर्णाम् । अनुपऽदस्वतीम् ।
तया । उपऽप्रतारय । यः । वरः । प्रतिऽकाम्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे कन्या !] (भगस्य) ऐश्वर्य की (पूर्णाम्) भरी भरायी और (अनुपदस्वतीम्) अटूट (नावम्) नाव पर (आ रोह) चढ । और (तया) उस [नाव] से [अपने वर को] (उप-प्रतारय) आदर पूर्वक पार

अन्वेषणे-इगुपधत्वात् क । पशूनाम् । **सुषदाः** । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-असुन् । सुखेन स्थातु योग्य । सुखस्थान । **एव** । एवम् । तथा । **भगस्य** । ऐश्वर्यवत पत्यु । **जुष्टा** । प्रीता । **अस्तु** । भवतु । **सम्प्रिया** । सम्प्रियमाणा । **पत्या** । भर्त्रा । **अविराधयन्ती** । अ+विपूर्वात् राध ससिद्धौ-शतृ, ङीप् । वियोगम् अकुर्वाणा । अन्यत् गतम् ॥

५—**भगस्य** । भजनीयस्य । ऐश्वर्यस्य । **नावम्** । **ग्लानुदिभ्यां डौः** (उ० २ । ६४) इति णुद प्रेरणे-डौ । नुद्यते जले सा नौ । समुद्रादिसन्तरणार्थयान-विशेषम् । पोतम् । समुद्रयानम् । गृहस्थाश्रमरूपम् । **आरोह** । अधितिष्ठा आरूढा भव । **पूर्णाम्** । पॄ पूरणे-क्त तस्य न । पूरिताम् । कृतपूरणाम् ।

लगा, (य) जो (वर) वर (प्रति-काम्य) प्रतिज्ञा करके चाहने [प्रीति करने] योग्य है ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे गृहपत्नी की भारी उत्तरदातृता [जिम्मेदारी] का वर्णन है। जैसे नाविक खान पान आदि आवश्यक सामग्री से लदी लदायी और बडी दृढ नौका से जल यात्रियो को समुद्र से पार लगाता है, वैसे ही गृहपत्नी अपने घर को धन धान्य आदि ऐश्वर्य से भर पूर और दृढ रक्खे और पति को नियम बाधकर पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर गृहस्थाश्रम से पार लगावे ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

आ । क्रन्दय । धनऽपते । वरम् । आऽमनसम् । कृणु ।

सर्वम् । प्रऽदक्षिणम् । कृणु । यः । वरः । प्रतिऽकाम्यः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(धनपते) हे धनो की रक्षा करने वाली [कन्या !] (वरम्) वर को (आ) आदर पूर्वक (क्रन्दय) बुला, और (आमनसम्) अपने मन के अनुकूल (कृणु) कर। [उस वर को](सर्वम्) सर्वथा (प्रदक्षिणम्) अपनी दाहिनी ओर (कृणु) कर, (य) जो (वर) वर (प्रतिकाम्य) नियम कर के चाहने योग्य है । ६ ॥

अनुपदस्वतीम् । अनु+उप+दसु उपक्षये-क्विप् । मतुप्, मस्य व । अखण्डिताम् । अक्षीणाम् । **तया** । नावा । **उपप्रतारय**। उप पूजया शक्त्या वा पारय । **यः** । पूर्वोक्त । **वरः** । **ऋदोरप्** (पा० ३ । ३ । ५७) इति वृञ् वरणे-अप् । वरणीय । श्रेष्ठ पति । जामाता । **प्रतिकाम्यः** । कमु कान्तौ-णिच्, कर्मणि यत् प्रति निश्चयेन प्रतिज्ञया कमनीय कामनायोग्य ॥

६—**आ क्रन्दय** । क्रदि आह्वाने । आदरेण आह्वय । **धनपते** । हे धनरक्षिके पत्नि । **वरम्** । वरणीय पतिम् । **आमनसम्** । मन ज्ञाने-असुन् । अभिमुखमनस्कम् । अनुकूलचित्तम् । **कृणु** । कुरु । **सर्वम्** । सर्वथा । **प्रदक्षिणम्** । **द्रुदक्षिभ्यामिनन्** (उ० २ । ५०) इति दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे-इनन् । प्रगता दक्षिणा प्रतिष्ठा यस्य तम् । प्रतिष्ठायुक्तम् । प्रवृद्धम् । समर्थम् । प्रतिष्ठापूर्वक स्वदक्षिणहस्तस्थितम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

भाषार्थः—पत्नी धनो की रक्षा करती है, वह पति को आदर पूर्वक बुलावे और उस की प्रसन्नता मे अपनी प्रसन्नता जाने, और सदा उसे अपनी दाहिनी ओर रक्खे, अर्थात् जैसे दाहिना हाथ बाये हाथ की अपेक्षा अधिक सहायक होता है, इसी प्रकार पत्नी अपने पति को सब से अधिक अपना हितकारी जानकर सदा प्रीति से सत्कार मान करती रहे। इसी विधि से पति भी पत्नी को अपना हितकारी जाने और उस के साथ प्रीति और प्रतिष्ठा के साथ बर्ताव रक्खे ।। ६ ।।

टिप्पणी—(१) विवाह सस्कार मे वर का आसन वधू के दाहिने हाथ को किया जाता है ।।

(२) मन्त्र ५ और ६ का आशय मनु महाराज इस प्रकार कहते है—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।। मनु० ५ । १५० ।।

स्त्री घर के कामो मे प्रसन्नचित्त और चतुर होवे, घर की सामग्री, बासन, वस्त्र आदि को सभाल कर रक्खे, और व्यय करने मे हाथ सकुचित रक्खे ।।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

इदम् । हिरण्यम् । गुल्गुलु । अयम् । औक्षः । अथो इति । भगः । एते । पतिऽभ्यः । त्वाम् । अदुः । प्रतिऽकामाय । वेत्तवे ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण और (गुल्गुलु) गुल्गुले [गुड का पका भोजन] (अथो) और (अयम्) यह (औक्ष) महात्माओ के योग्य [वा ऋषभ

७—**इदम्** । वराय दातव्यम् । **हिरण्यम्** । अ० १ । ९ । २ । हृञ् हरणे, यद्वा, हर्य गतिकान्त्यो —कन्यन्, हिरादेशश्च । हिरण्य कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमण भवतीति वा हृदयरमण भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मण —निरु० २ । १० । सुवर्णम् । **गुल्गुलु** । **क्वादिभ्यः कित्** (उ० १ । ११५) इति गुङ

औषध सम्बन्धी] (भग) ऐश्वर्य है [और हे कन्या !] (एते) इन कन्या के पक्ष वालों ने (पतिभ्य) पति पक्ष वालों के हितार्थ (त्वाम्) तुझे (प्रतिकामाय) प्रतिज्ञा पूर्वक कामना योग्य [पति] के लिये (वेत्तवे) लाभ पहुंचाने को (अदुः) दिया है ॥ ७ ॥

भावार्थः—कन्या के माता पिता आदि कन्या और वर को विवाह के उपरान्त दाय अर्थात् यौतुक [दैजा, जहेज] मे सुन्दर अलकार, वस्त्र भोजन पदार्थ वाहन, गौ, धन आदि देवे और कन्या को पति सेवा की यथायोग्य शिक्षा करे जिस से पति पत्नी मिलकर सदा आनन्द भोगे ॥ ७ ॥

'गुल्गुलु' पद के स्थान पर सायणभाष्य मे 'गुग्गुलु' पद है ॥

आ ते॑ नयतु सवि॒ता न॑यतु॒ पति॒र्यः प्र॑तिका॒म्य॑ः ।
त्वम॑स्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते॒ । न॒य॒तु॒ । स॒वि॒ता । न॒य॒तु॒ । पतिः॑ । यः ।
प्र॒ति॒ऽका॒म्य॑ः । त्वम् । अ॒स्यै॒ । धे॒हि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थः—[हे कन्ये] (सविता) सर्व प्रेरक, सर्व जनक परमेश्वर (ते) तेरे लिये [उस पति को] (आ नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे, और (नयतु)

अव्यक्तशब्दे—डप्रत्यय, इति गुड । अकारलोप[1] । यद्वा गुड वेष्टने, रक्षायाम्—क्विप् । डलयोरैक्याड् डस्य लत्वम् । ततो गुड—कु । गुड एव गुलः । गुडेन इक्षुपाकेन गुडित वेष्टित रक्षित वा गुल्गुलु भोज्यम् । 'गुलगुला''—इति भाषा । **अथो** । अपि च । **औक्षः** । **श्वनुक्षन्पूषन्०** (उ० १ । १५९) इति उक्ष सेचने—कनिन् । यद्वा उक्ष—क । उक्षा, महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उक्षण उक्षते-र्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेनेति वा-निरु० १२ । ९ । उक्षा ऋषभौषधि -श० क० द्रु० । तत अण्प्रत्यय । महता योग्य । ऋषभौषधिसबन्धी । प्रलेपनद्रव्यम्—इति सायण । **भगः** । भज-घञ् सेवनीयम् । ऐश्वर्यम् । **एते** । कन्यापक्षीया । **पतिभ्यः** । वरपक्षीयेभ्य । तेषा हिताय । **त्वाम्** । कन्याम् । **अदुः** । दाञो लुङ् । दत्तवन्त । **प्रतिकामाय** । प्रतिज्ञापूर्वक कामनायोग्याय वराय । **वेत्तवे** । **तुमर्थे सेसेनसे०** (पा० ३ । ४ । ९) इति विद्लृ लाभे-तवेप्रत्यय । वेत्तुम् । लब्धुम् ॥

८—**आ** । समन्तात् । अनुकूलम् । **ते** । तुभ्यम् । **नयतु** । णीञ् प्रापणे । प्रेरयतु । नयन करोतु । **सविता** । अ० १ । १८ । २ । सर्वप्रेरक । सर्वोत्पादक

१ यहाँ बाहुलक से 'डकार' की इत् सज्ञा नहीं होती ॥ सम्पा० ॥

नायक बनावे, (य पति) जो पति (प्रतिकाम्य) प्रतिज्ञा पूर्वक चाहने योग्य है। (ओषधे) हे ताप नाशक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस [कन्या] के लिये [उस पति को] (धेहि) पुष्ट रख ॥ ८ ॥

भावार्थः—यह आशीर्वाद का मन्त्र है। पति और पत्नी उस सर्वनियन्ता परमेश्वर का सदा ध्यान करते हुये परस्पर हार्दिक प्रीति रखकर वेदोक्त मर्यादा पर चले, जिससे वे दोनो प्रधान पुरुष और प्रधान स्त्री होकर ससार मे कीर्त्तिमान् होवे, और अन्न आदि औषधि के समान सुखदायक होकर सदा हृष्ट पुष्ट बने रहे ॥ ८ ॥

यजुर्वेद का वचन है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ॥ यजु० ४० । २ ॥

मनुष्य (इह) यहाँ (कर्माणि) वेदोक्त कर्मो को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समा) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति द्वितीय काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्री **सयाजीरावगायकवाडा-**
धिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित**क्षेमकरणदासत्रिवेदिना** कृते
अथर्ववेदभाष्ये द्वितीय काण्ड समाप्तम् ।
इद काण्ड प्रयागनगरे वैशाखमासे अक्षयायाम् [शुक्लतृतीयायाम्] १९७० तमे
विक्रमीये सवत्सरे
सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—भाद्रकृष्ण जन्माष्टमी सवत् १९७० ता० २५ अगस्त १९१३ ॥

परमेश्वर । **पतिः** । म० ३ । ऐश्वर्यवान् । भर्त्ता । **प्रतिकाम्यः** । म० ५ । प्रतिज्ञया कमनीय । **अस्यै** । वधूहितार्थम् । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणयो —लोट् । धारय । पोषय । वर्धय । **ओषधे** । अ० १ । २३ । १ । हे तापभक्षक परमेश्वर ॥



॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

तृतीय काण्डम्

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—६ ॥ १ अग्निः, २ मरुतः, ३—६ इन्द्रश्च देवताः । १, २, ४ त्रिष्टुप्; ३, ६ अनुष्टुप्; ५ स्वराड् गायत्री ॥

युद्धविद्योपदेश—युद्ध विद्या का उपदेश ॥

अ॒ग्निर्नः॒ शत्रू॒न् प्रत्ये॑तु वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम् ।
स सेनां॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणवज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । न॒ः । शत्रू॑न् । प्रति॑ । ए॒तु॒ । वि॒द्वान् । प्र॒ति॒ऽदह॑न् । अ॒भिऽश॑स्तिम् । अरा॑तिम् । सः । सेना॑म् । मो॒ह॒य॒तु॒ । परे॑षाम् । निःऽह॑स्तान् । च॒ । कृ॒ण॒व॒त् । जा॒तऽवे॑दाः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अग्नि) अग्नि [के समान तेजस्वी] (विद्वान्) विद्वान् राजा (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रति-

---

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—अग्निः । अ० १ । ६ । २ । अङ्गति गच्छति जानाति व्याप्नोतीति वा । विद्वान् । अग्निवत्तेजस्वी । अग्निशब्दो

दहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ, (न) हमारे (शत्रून्) शत्रुओं पर (प्रति, एतु) चढ़ाई करे। (स) वह (जातवेदा) प्रजाओं का जानने वाला वा बहुत धनवाला राजा (परेषाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे, (च) और [उन बैरियों को] (निर्हस्तान्) निहत्था (कृणवत्) कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रजा में अपकीर्ति और अशान्ति फैलावें विद्वान् अर्थात् नीतिनिपुण राजा ऐसे दुष्टों और उनके साथियों को यथावत् दण्ड देवे, जिससे वे लोग निर्बल होकर उपद्रव न मचा सकें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सूक्त २ मन्त्र १ में है।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् । अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

यूयम् । **उग्राः** । **मरुतः** । **ईदृशे** । **स्थ** । **अभि** । **प्र** । **इत** । **मृणत** । **सहध्वम्** । **अमीमृणन्** । **वसवः** । **नाथिताः** । **इमे** ।

भगवता यास्केन बहुधा व्याख्यात –निरु० ७ । १४ । **नः** । अस्माकम् । **शत्रून्** । अ० २ । ५ । ३ । शातयितॄन् । द्वेष्यान् । **प्रत्येतु** । प्रतिमुख गच्छतु । **विद्वान्** । अ० २।१।२ । विद ज्ञाने–शत तस्य च वसुरादेश । जयोपाय जानन् । **प्रतिदहन्** । प्रातिकूल्येन भस्मीकुर्वन् । **अभिशस्तिम्** । शसु हिसायाम्-क्तिन् । मिथ्यापवादम् । **अरातिम्** । शत्रुताम् । **सः** । राजा । **सेनाम्** । **कृवृजसिद्रु०** (उ० । ३ । १०) इति षिञ् बन्धने–न । सेना सेश्वरा समानगतिर्वा निरु० २ । ११ । सिनोति बध्नाति व्यूह युद्धार्थम् । सैन्यम् । **मोहयतु** । व्याकुला करोतु । **परेषाम्** । शत्रूणाम् । **निर्हस्तान्** । हस्तव्यापारशून्यान् । आयुधग्रहणासमर्थान् । **कृणवत्** । कृवि हिसाकरणयो –**लिङर्थेलेट्** (पा० ३।४।७) अडागमः । कुर्यात् । **जातवेदाः** । अ० १ । ७ । २ । जातप्रज्ञान । जातधन ॥

अग्निः । हि । एषाम् । दूतः । प्रतिऽएतु । विद्वान् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(मरुत) हे शत्रुघातक शूरो ! (यूयम्) तुम (ईदृशे) ऐसे [कर्म, सग्राम] मे (उग्रा·) तीव्रस्वभाव (स्थ) हो । (अभि, प्र, इत) आगे बढो, (मृणत) मारो, और (सहध्वम्) जीत लो। (इमे) इन (नाथिता) प्रार्थना किये हुये (वसव) श्रेष्ठ पुरुषो [मरुत गणो] ने [दुष्टो को] (अमीमृणन्) मरवा डाला है । (एषाम) इन शत्रुओ का (दूत) दाहकारी (अग्नि) अग्नि [समान] (विद्वान्) राजा (हि) अवश्य करके (प्रत्येतु) चढाई करे ।। २ ।।

भावार्थः—जो शूरवीर सग्राम विजयी हो, और जो बैरियो के नाश करने मे सहायक रहे हो, उन वीरो को अग्रगामी करे और उनका उत्साह बढाते रहे, और राजा विजयी सेनापतियो की पुष्टि करता हुआ शत्रुओ पर चढाई करे ।। २ ।।

टिप्पणी— 'मरुत' देवताओ के लिये अ० १ । २० । १ देखिये ।।

अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रतिं ॥ ३ ॥

२— **उग्राः** । उत्कटा । **मरुतः** । अ० १।२०।१। मारयन्ति शत्रून् दोषान् वा । शत्रुनाशकाः शूरा । **ईदृशे** । इदम् + दृशिर् प्रेक्षणे—कञ् । एतत्सदृशे कर्मणि सग्रामलक्षणे । **स्थ** । भवथ । **अभि** । आभिमुख्येन । **प्रेत** । इण् गतौ । प्रकर्षेण गच्छत । **मृणत** । मृण हिसायाम् । मारयत । **सहध्वम्** । अभिभवत । **अमीमृणन्** । मृणतेर्णिजन्ताच्छान्दसे लुङि चङि । **उऋत्, नित्यं छन्दसि** (पा०७।४।७,८) इति ऋदादेश । नाशितवन्त । **वसवः** । अ० । ६ । १ । प्रशस्ता देवा । **नाथिताः** । नाथृ याञ्च्योपतापैश्वर्याशीष्षु—क्त । प्रार्थिता सन्त । **इमे** । प्रशसिता । **अग्निः** । ज्ञानवान् तेजस्वी वा राजा । **हि** । अवश्यम् । **एषाम्** । उपस्थितानां शत्रूणाम् । **दूतः** । अ० १ । ७ । ६ । टुदु उपतापे-क्त, दीर्घश्च । दुनोत्युपतापयतीति । सतापक । **प्रत्येतु** । प्रतिगच्छतु । **विद्वान्** । नीतिकुशल ।।

१ सायणाचार्य ने 'ताम्' पद मानकर यहाँ अर्थ किया है । सम्पा० ।।

अमित्रऽसेनाम् । मघऽवन् । अस्मान् । शत्रुऽयतीम् । अभि । युवम् । तान् । इन्द्र । वृत्रऽहन् । अग्निः । च । दहतम् । प्रति ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे धनवान्, (वृत्रहन्) अन्धकार वा शत्रुओ के नाश करने वाले, (इन्द्र) सूर्य [समान तेजस्वी] (च) और (अग्नि) हे अग्नि [समान शत्रुदाहक] ! (युवम्) तुम दोनो (अस्मान्) हम पर (शत्रूयतीम्) शत्रओ के समान आचरण करती हुई (अमित्रसेनाम्) बैरियो की सेना को (अभि=अभिभूय) हराकर (तान्) चोरो वा म्लेच्छो को (प्रति, दहतम्) जला डालो ॥ ३ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करके और अग्नि अशुद्धादि दुर्गुणो को जलाकर हटाते और अनेक प्रकार से उपयोगी होते है, ऐसे ही धनी और प्रतापी राजा कुमार्गियो को मिटाकर उपकारी होवे ॥ ३ ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् । जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥

प्रऽसूतः । इन्द्र । प्रऽवता । हरिऽभ्याम् । प्र । ते । वज्रः । प्रऽमृणन् । एतु । शत्रून् । जहि । प्रतीचः । अनूचः । पराचः ।

३—**अमित्रसेनाम्** । अमित्रशब्दो व्याख्यात —अ० २ । २८ । ३ । अम रोगे-इत्रच् । पीडकसेनाम् । **मघवन्** । हे धनवन् । **अस्मान्** । प्रजागणान् । **शत्रूयतीम्** । **उपमानादाचारे** (पा०३।१।१०) इति शत्रु—क्यच् । **अकृत्सार्वधातुकयो०** (पा० ७।४।२५) इति दीर्घ । तदन्तात् शतरि । **उगितश्च** (पा० ४।१।६) इति ङीप् **शतुरनुमो०** (पा० ६ । १ । १७३) इति ङीप् उदात्तत्वम् । शत्रूनिव आचरन्तीम् । **अभि** । अभिभूय । **युवम्** । युवाम् । **तान्** । तर्द हिंसायाम्-ड । तर्दति हिनस्तीति त [1] । चौरान् । म्लेच्छान् । **इन्द्र** । सूर्यवत्प्रतापिन् । **वृत्रहन्** । अ० १।२१।१ । हे अन्धकारनाशक । शत्रुघातक । **अग्निः** । हे अग्निवद् दाहक । **च** । समुच्चये । **दहतम्** । भस्मीकुरुतम् । **प्रति** । प्रातिकूल्येन ॥

१ तर्द धातु से 'डप्रत्यय करके' 'त' बनाना क्लिष्ट कल्पना है । वस्तुत' त्यजितनि० (उ० १ । १३२) से अदि प्रत्यय करके तत् बनाकर द्वितीया मे 'तान्=उन बैरियो की सेना को' ऐसा अर्थ करने मे कोई विप्रतिपत्ति नही है ॥ सम्पा० ॥

विष्वंक् । सत्यम् । कृणुहि । चित्तम् । एषाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! (प्रवता) उत्तम गति वा मार्ग से (हरिभ्याम्) स्वीकरण और प्रापण [ग्रहण और दान] के साथ (ते) तेरा (प्रसूत) चलाया हुआ (वज्र) वज्र अर्थात् दण्ड (शत्रून्) शत्रुओ को (प्रमृणन्) पीडा देता हुआ (प्र, एतु) आगे चले। (प्रतीच) सन्मुख आते हुए, (अनूच) पीछे से आते हुये और (पराच) तिरस्कार करके चलते हुये [शत्रुओ] को (जहि) नाश करदे, और (एषाम्) इन [शत्रुओ] के (चित्तम्) चित्त को (विष्वक्) सब प्रकार (सत्यम्) सत्पुरुषो का हितकारी (कृणु) बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थः—नीतिज्ञ राजा प्रजा और शत्रुओ से कर लेकर उन के हित कार्य मे लगावे, जिससे सब बाहिरी और भीतरी शत्रु लोग नष्ट होकर दबे रहे और श्रेष्ठो का पालन किया करे ॥ ४ ॥

४—**प्रसूतः** । षू प्रेरणे—क्त । प्रेरित । प्रवर्त्तित । **इन्द्र** । हे प्रतापिन् राजन् । **प्रवता** । **उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे** (पा० ५ । १ । ११८) इति उपसर्गात् साधने धात्वर्थे वर्त्तमानात् स्वार्थे वति प्रत्यय । प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा—निरु० १० । २० । प्रकृष्टगत्या मार्गेण, प्रावनेन वा । **हरिभ्याम्** । **हृपिषिरुहि०** (उ० ४ । ११९) इति हृञ् हरणे—इन् । हरण स्वीकार प्रापण स्तेय नाशन च । हरि स्वीकारो ग्रहण, प्रापण, दान च ताभ्या ग्रहणदानाभ्याम् । **ते** । तव । **वज्रः** । दण्डरूप । **प्रमृणन्** । प्रकर्षेण हिसन् । **प्र, एतु** । प्रगच्छतु । **शत्रून्** । अरातीन् । **जहि** । हन हिसागत्यो । विनाशय । **प्रतीचः** । **ऋत्विग्दधृक्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति प्रति+अञ्चतेः क्विन् । **अनिदिताम्०** (पा० ६ । ४ । २४) इति नलोप । शसि । **अचः** (पा० ६ । ४ । १३८) इत्यलोपे । **चौ** (पा० ६ । ३ । १३८) इति दीर्घ । प्रतिमुखमागच्छत शत्रून् । **अनूचः** । अनु+अञ्चु गतिपूजनयो —क्विन् । पूर्ववत् सिद्धि । अनु पश्चाद् आगच्छत । **पराचः** । परा+अञ्चु–क्विन् । पूर्ववत् सिद्धि । परा तिरस्कृत्य पराङ्मुख वा गच्छतः । **विष्वक्** । विषु+अञ्चु—क्विन् । सर्वत । **सत्यम्** । सद्भ्यो हितम् । **कृणुहि** । **उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्** (वा० पा० ६ । ४ । १०६) इति हेरलुक् । कृणु, कुरु । **चित्तम्** । अन्त करणम् । **एषाम्** । शत्रूणाम् ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥

इन्द्र । सेनाम् । मोहय । अमित्राणाम् । अग्नेः । वातस्य । ध्राज्या । तान् । विषूचः । वि । नाशय ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बडे ऐश्वर्य वाले राजन् (अमित्राणाम्) शत्रुओ की (सेनाम्) सेना को (मोहय) व्याकुल कर दे । (अग्ने) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (विषूच) सब ओर फिरने वाले (तान् चोरो को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजा अपनी सेना के बल से शत्रु सेना को जीते और जैसे दावानल वन को भस्म करता और प्रचड वायु वृक्षादि को गिरा देता है, वैसे ही विघ्नकारी वैरियो को मिटाता रहे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । २ । ३ । मे आया है ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

इन्द्रः । सेनाम् । मोहयतु । मरुतः । घ्नन्तु । ओजसा । चक्षूंषि । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । एतु । पराऽजिता ॥ ६ ॥

५—**इन्द्र** । हे परमैश्वर्य राजन् । **सेनाम्** । चमूम् । पृतनाम् । **मोहय** । मूढा कुरु । **अमित्राणाम्** । म० ३ । पीडकाना शत्रूणाम् । **अग्नेः** । पावकस्य । **वातस्य** । पवनस्य । **ध्राज्या** । वसिवपियजि० (उ० ४ । १२५) इति ध्रज गतौ–इञ् । वेगगत्या । **तान्** । म० ३ । चौरान् । **विषूचः** । विषु+अञ्चु–क्विन् । जसि (प्रतीच) इति शब्दवत् सिद्धि –म० ४ । सर्वतः प्राप्तान् । **वि,नाशय** । विध्वसय ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) प्रतापी सूर्य (सेनाम्) [शत्रु] सेना को (मोहयतु) व्याकुल करदे। (मरुत) दोष नाशक पवन के झोके (ओजसा) बल से (घ्नन्तु) नाश करदे। (अग्नि) अग्नि (चक्षूंषि) नेत्रो को (आ, दत्ताम्) निकाल लेवे। [जिससे] (पराजिता) हारी हुई सेना (पुन) पीछे (एतु) चली जावे ॥ ६ ॥

भावार्थः—युद्धकुशल सेनापति राजा अपनी सेना का व्यूह ऐसा करे जिससे उसकी सेना सूर्य, वायु और अग्नि वा बिजुली और जल के प्रयोग वाले अस्त्र, शस्त्र, विमान, रथ, नौकादि के बल से शत्रु सेना को नेत्रादि से अग भग करके सर्वदा हराकर भगा दे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—६ ॥ १—२ अग्निः, ३--४ इन्द्रः, ५ अप्वा। ६ मरुतो देवताः। १, ५, ६ त्रिष्टुप्, २ —४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्यमुपदिश्यते। सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अग्निर्नो॑ दू॒तः प्र॒त्येतु॑ वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।
स चि॒त्तानि॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणव॒ज्जा॒तवे॑दाः ॥१॥

अ॒ग्निः। न॒ः। दू॒तः। प्र॒ति॒ऽए॒तु॑। वि॒द्वान्। प्र॒ति॒ऽदह॑न्। अ॒भिऽश॑स्तिम्। अरा॑तिम्। सः। चि॒त्तानि॑। मो॒ह॒य॒तु॒। परे॑षाम्। निः॒ऽह॑स्तान्। च॒। कृ॒ण॒व॒त्। जा॒त॒ऽवे॑दाः ॥ १ ॥

६—**इन्द्रः**। प्रतापी सूर्य। **मरुतः**। दोषनाशका वायुवेगा। **घ्नन्तु**। हन लोट्। नाशयन्तु। **ओजसा**। शस्त्रास्त्रादीना बलेन। **चक्षूंषि**। अक्षीणि। नेत्राणि। **अग्निः**। अग्निप्रयोग। **आ, दत्ताम्**। अपहरतु। **पुनः**। पश्चात्। निवर्त्य। **एतु**। गच्छतु। **पराजिता**। पराभूता सती। अन्यत् सुगम व्याख्यात च ॥

भाषार्थः—(अग्नि) अग्नि [के समान तेजस्वी] (दूत) अग्रगामी वा तापकारी (विद्वान्) विद्वान् राजा (न) हमारे लिये (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रतिदहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ (प्रत्येतु) चढाई करे। (स) वह (जातवेदा) प्रजाओ का जानने वाला [सेनापति] (परेषाम्) शत्रुओ के (चित्तानि) चित्तो को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे (च) और [उनको] (निर्हस्तान्) निहत्था (कृणवत्) कर डाले ॥१॥

भावार्थः—राजा सेनादि से ऐसा प्रबन्ध रक्खे कि प्रजा गण आपस मे मिथ्या कलङ्क न लगावे और न वैर करे और दुराचारियो को दड देता रहे कि वे शक्तिहीन होकर सदा दबे रहे, जिससे श्रेष्ठो को सुख मिले और राज्य बढता रहे ॥ १ ॥

यह मन्त्र इसी काण्ड के सूक्त १ मन्त्र १ मे कुछ भेद से है ॥

अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

अयम् । अग्निः । अमूमुहत् । यानि । चित्तानि । वः । हृदि ।
वि । वः । धमतु । ओकसः । प्र । वः । धमतु । सर्वतः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अयम्) इस (अग्नि) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] ने (चित्तानि) उन ज्ञानो को (अमूमुहत्) उलट पलट कर दिया है (यानि) जो (व) तुम्हारे (हृदि) हृदय मे [थे]। वह (व) तुमको (ओकस.) घर से (वि, धमतु) निकाल देवे, वह (व) तुमको (सर्वत) सब स्थान से (प्र, धमतु बाहिर कर देवे ॥ २ ॥

१—**दूतः** । अ० १ । ७ । ६ । दु गतौ-यद्वा, टुदु उपतापे—क्त । अग्रेसर । उपतापक । **चित्तानि** । अन्त करणानि । अन्यद् व्याख्यातम् सू० १ म० १ ॥

२—**अयम्** । समीपवर्ती । प्रसिद्ध । **अग्निः** । ज्ञानवान् । अग्निवत्तेजस्वी । **अमूमुहत्** । मुहेर्ण्यन्ताद् लुङि चङि रूपम् । व्याकुली कृतवान् । **चित्तानि** । ज्ञानानि । **वः** । युष्माकम् । **हृदि** । हृञ् हरणे-क्विप्, तुक्, तस्य द । हृदये ।

भावार्थः—जिस सेनापति राजा ने दुष्टो को वश मे करके रक्खा था, वह राजा विरोधियो को प्रतिज्ञा भंग करने पर देश निकाला आदि दण्ड देवे ॥ २ ॥

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥

इन्द्र । चित्तानि । मोहयन् । अर्वाङ् । आऽकूत्या । चर ।
अग्नेः । वातस्य । ध्राज्या । तान् । विषुचः । वि । नाशय ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! [शत्रुओ के] (चित्तानि) चित्त को (मोहयन्) व्याकुल करता हुआ (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (आकूत्या) उत्तम सकल्प से (चर) आ । (अग्ने) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (तान्) उन (विषूच) विरुद्ध गति वालो को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥ ३ ॥

भावार्थः—जैसे अग्नि और वायु मिलकर प्रचड हो जाते है, इसी प्रकार राजा प्रचण्ड होकर दुष्टो को दड देवे और सत्कर्मी पुरुषो का शिष्टाचार करे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । १ । ५ । मे आ चुका है ॥

वि । विशेषेण । **वः** । युष्मान् । **धमतु** । धमति, गतिकर्मा–निघ० २ । १४ । बधकर्मा—निघ० २ । १ । सौत्रो धातु । अन्तर्भावितण्यर्थ । धमयतु । गमयतु । नि सारयतु । **ओकसः** । उच समवाये–असुन्, गुण , न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । गृहात् । **सर्वतः** । सर्वप्रकारेण । अन्यत् सुगमम् ॥

३—**इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् राजन् । **चित्तानि** । मनासि । **मोहयन्** । व्याकुलीकुर्वन् । **अर्वाङ्** । अवरे काले देशे वा अञ्चति । अवर+अञ्चु—क्विन् अर्वादेशः । अस्मदभिमुख । **आकूत्या** । आङ्+कूङ् शब्दे–क्तिन् । सकल्पेन । अन्यद् व्याख्यात सू० १ म० ५ ॥

व्या॒कूतय॑ ए॒षामि॒ताथो॑ चि॒त्तानि॑ मुह्यत ।
अथो॒ यद॒द्यैषां॑ हृ॒दि तदे॑षां॒ परि॒ निर्ज॑हि ॥ ४ ॥

वि । आ॒ऽकू॒त॒यः॒ । ए॒षाम् । इ॒त । अथो॒ इति॑ । चि॒त्तानि॑ । मु॒ह्य॒त । अथो॒ इति॑ । यत् । अ॒द्य । ए॒षाम् । हृ॒दि । तत् । ए॒षाम् । परि॑ । निः । ज॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थः—हे (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (आकूतय) विचारो ! (वि) उलट पलट होकर (इत) चले जाओ, (अथो) और हे (चित्तानि) इनके चित्तो ! (मुह्यत) व्याकुल हो जाओ ।

(अथो) और [हे राजन्] (यत्) जो कुछ [मनोरथ] (अद्य) अब (एषाम्) इनके (हृदि) हृदय मे है, (एषाम्) इनके (तत्) उस [मनोरथ] को (परि) सर्वथा (निर्जहि) नाश कर दे ।४ ॥

भावार्थः—नीतिकुशल राजा दुराचारियो मे परस्पर मतभेद करादे और उनका मनोरथ सिद्ध न होने दे ॥ ४ ॥

अ॒मीषां॑ चि॒त्तानि॑ प्रति॒मो॒हय॑न्ती गृ॒हा॒णाङ्गा॑न्यप्वे॒ परे॑हि ।
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॑र्ग्रा॒ह्या॒मि॒त्रांस्तम॑सा विध्य॒ शत्रू॑न् ॥ ५ ॥

अ॒मीषा॑म् । चि॒त्तानि॑ । प्र॒ति॒ऽमो॒हय॑न्ती । गृ॒हा॒ण । अङ्गा॑नि । अ॒प्वे॒ । परा॑ । इ॒हि॒ । अ॒भि । प्र । इ॒हि॒ । निः । द॒ह॒ । हृ॒त्ऽसु ।

४—**आकूतयः** । म० ३ । हे सङ्कल्पा । मनोरथा । **एषाम्** । शत्रूणाम् । **वि, इत** । विरोधेन गच्छत । **अथो** । अपि च । **चित्तानि** । मनासि । **मुह्यत** । व्याकुलानि भवत । **यत्** । प्रयोजनम् । **अद्य** । इदानीम् । **हृदि** । मनसि । **तत्** । प्रयोजनम् । **परि** । परित । सर्वत । **निः** । नितराम् । **जहि** । नाशय ॥

शोकैः। ग्राह्या। अमित्रान्। तमसा। विध्य। शत्रून् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अप्वे) हे शत्रुओ को मार डालने वा हटा देने वाली सेना (अमीषाम्) उन [शत्रुओ] के (चित्तानि) चित्तो, और (अङ्गानि) शरीर के अवयवो और सेना विभागो को (प्रतिमोहयन्ती) व्याकुल करती हुई (गृहाण) पकड ले, और (परा, इहि) पराक्रम से चल। (अभि) चारो ओर से (प्र, इहि) धावा कर (हृत्सु) उनके हृदयो मे (शोकैः) शोको से (निर्दह) जलन करदे और (ग्राह्या) ग्रहण शक्ति [बन्धनादि] से और (तमसा) अन्धकार से (अमित्रान्) पीडा देने वाले (शत्रून्) शत्रुओ को (विध्य) छेद डाल ॥ ५ ॥

भावार्थः—सेनापति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि उसकी उत्साहित सेना धावा करके अश्ववार अश्ववारो को, रथी रथियो को, पदाति पदातियो को व्याकुल करदे, अर्थात् आग्नेय अस्त्रो से धूआ धडक, और वारुणेय अस्त्रो से बन्धन मे करके जीत ले ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋग्वेद १० । १०३ । १२ । यजुर्वेद १७ । ४४ । सामवेद उ० ९ । ३ । ५ तथा निरुक्त ९ । ३३ मे इस प्रकार समान पाठ है ॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

(अप्वे) हे शत्रुओ को मार डालने वा हटा देने वाली सेना ! (अमीषाम्) उनके (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) व्याकुल करती हुई (अङ्गानि) अङ्गो को (गृहाण) पकड ले और (परा, इहि) पराक्रम से चल। (अभि)

५—**अमीषाम्** । अदस्-इत्यस्य रूपम् । परिदृश्यमानाना शत्रूणाम् । **चित्तानि** । मनासि । **प्रतिमोहयन्ती** । मुह वैचित्ये-हेतौ शतृ । सर्वथा व्याकुलीकुर्वती । **गृहाण** । वशीकुरु । **अङ्गानि** । शरीरावयवान् । सेना-विभागान् । **अप्वे** । **अन्येष्वपि दृश्यते** (पा॰ ३ । २ । १०१) इति अपपूर्वात् वा

चारो ओर से (प्र, इहि) आगे बढ (हृत्सु) उनके हृदयो मे (शोकैः) शोको से (निर्दह) जलन कर दे। (अन्धेन) गाढे [दृष्टि रोकने वाले] (तमसा) अन्धकार से (अमित्रा) पीडा देने वाले लोग (सचन्ताम्) सयुक्त हो जावे ।।

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना । तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

असौ । या । सेना । मरुतः । परेषाम् । अस्मान् । आऽएति । अभि । ओजसा । स्पर्धमाना । ताम् । विध्यत । तमसा । अपऽव्रतेन । यथा । एषाम् । अन्यः । अन्यम् । न । जानात् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(मरुत) हे शूर पुरुषो ! (परेषाम्) बैरियो की (असौ) वह (या) जो (सेना) सेना (अस्मान्) हम पर (अभि) चारो ओर से (ओजसा) बल के साथ (स्पर्धमाना) ललकारती हुई (आ-एति) चढी

गतिहिंसनयो , अथवा, वेञ् तन्तुसन्ताने, अन्तर्भावितण्यर्थात् उप्रत्यय । अथवा **शेवायह्वाजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः** (उ० १ । १५४) इति आप्लृ व्याप्तौ वन् । टाप् । छान्दस रूपम् । अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते । व्याधिर्वा भय वा । निरु० ६ । १२ । अपवाति हिनस्ति, यद्वा, अपवयति अपगमयति वा आप्नोति शत्रून् सा अप्वा तत्सबुद्धौ । **परा** । पराक्रमेण । **इहि** । गच्छ । **अभि** । अभित , सर्वत । **प्र** । प्रकर्षेण । **निः** । नितराम् । **दह** । दहन कुरु । **हृत्सु** । हृदयेषु । **शोकैः** । शुच शोके—घञ् । खेदै । **ग्राह्या** । अ० २ । ६ । १ । ग्रह आदाने इञ् । ग्रहण-शक्त्या । बन्धनादिना । **अमित्रान्** । अ० १ । १६ । २ । पीडकान् । **तमसा** । अन्धकारेण । आग्नेयास्त्रोत्थितेन धूमेनेत्यर्थ । **विध्य** । व्यध ताडने, छेदने । ताडय । छिन्धि । **शत्रून्** । अ० २ । ५ । ३ शातयितॄन् । हिंसकान् ।।

६—असौ । परिदृश्यमाना । **या सेना** । सू० १ म० १ । सैन्यम् । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । हे शत्रुमारणशीलाः । शूरा । **आ-एति** ।

आती है। (ताम्) उसको (अपव्रतेन) क्रियाहीन कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से (विध्यत) छेद डालो, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमे से (अन्यः) कोई (अन्यम्) किसी को (न) न (जानात्) जाने ॥ ६ ॥

भावार्थः—सेनापति अपनी पलटनो को घातस्थानो मे इस प्रकार खडा करे कि आती हुयी शत्रुसेना को रोक कर सब नष्ट करदेवे ॥ ६ ॥

(मरुत) शब्द के लिये अ० १ । २० । १ । देखो ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद मे इस प्रकार है—

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ऽओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी ऽअन्योऽअन्यन्न जानन् ॥ यजु० १७। ४७ ॥

(मरुत) हे शूरो ! (परेषाम्) बैरियो की (असौ या सेना) वह जो सेना (न) हमको (अभि) चारो ओर से (ओजसा स्पर्धमाना) बल के साथ ललकारती हुयी (आ, एति) चली आती है। (ताम्) उसको (अपव्रतेन तमसा) क्रियाहीन कर देने वाले अन्धकार से (गूहत) ढक दो, (यथा) जिससे (अमी) वे लोग (अन्यः, अन्यम्) एक दूसरे को (न जानन्) न जाने ॥

आगच्छति । **अभि** । सर्वत । **ओजसा** । बलेन । **स्पर्धमाना** । स्पर्ध संघर्षे—लट शानच् । संघर्ष युद्धोद्यम कुर्वाणा । **ताम्** । सेनाम् । **विध्यत** । ताडयत । छिन्त । **तमसा** । अन्धकारेण । **अपव्रतेन** । व्रत कर्म—निघ०२ । १ । अपगतकर्मणा । सर्वव्यापारविघातकेन । **यथा** । येन प्रकारेण । **एषाम्** । उपस्थिताना शत्रूणाम् । **अन्यः** । कश्चित् । **अन्यम्** । कमपि । **न** । निषेधे । **जानात्** । ज्ञा अवबोधने-लेट् । **इतश्च लोपः परस्मैपदेषु** (पा० ३ । ४ । ९७) इति इकारलोप । जानीयात् ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१-६ ॥ इन्द्रो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५, ६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजाप्रजाधर्मोपदेश राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची । युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥

अचिक्रदत् । स्वऽपाः [सुऽअपाः] । इह । भुवत् । अग्ने । वि । अचस्व । रोदसी इति । उरूची इति । युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः । विश्वऽवेदसः । आ । अमुम् । नय । नमसा । रातऽहव्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अचिक्रदत्) उस (परमेश्वर) ने पुकार कर कहा है, "(इह) यहा पर (स्वपा) अपने जनो का पालने वाला, अथवा, उत्तम कर्मो वाला प्राणी (भुवत्) होवे ।"

(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वि राजन् !] (उरूची) बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले (रोदसी) सूर्य और पृथ्वी मे (वि) विविध प्रकार से (अचस्व) गति कर । (विश्ववेदसः) सब प्रकार के ज्ञान या ध्यान वाले (मरुतः) शूर और विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझसे (युञ्जन्तु) मिले । [हे राजन्] (रातहव्यम्) भेट वा भक्ति का दान करने वाले (अमुम्) उस [प्रजा गण] को (नमसा) अन्न वा सत्कार के साथ (आ, नय) अपने समीप ला ॥ १ ॥

१—**अचिक्रदत्** । क्रदि आह्वाने रोदने च-ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्, नुमभाव । आहूतवान्, शब्दमकरोत् । **स्वपाः** । स्व+पा रक्षणे-विच् । अथवा । **आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट्, च वा** (उ० ४ । २०८) इति सु+आप्लृ व्याप्तौ असुन् । स्वकीयप्रजापालकः । शोभनकर्मा । **इह** । अत्र । अस्मिन् जन्मनि लोके वा । **भुवत्** । भू—लेट् । भवेत् । **वि** । विविधम् । **अचस्व** । अचु गतौ ।

भावार्थः—परमेश्वर ने यजुर्वेद मे भी कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ॥ यजु० ४० । २ ॥

मनुष्य (इह) यहाँ पर (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मो को करता हुआ ही (शत समा) सौ वर्षो तक (जिजीविषेत्) जीना चाहे ॥

इस प्रकार राजा परमेश्वर की आज्ञा पालन और स्वप्रजापालन मे कुशल होकर सूर्य विद्या और पृथिवी आदि विद्या मे निपुण बन कर विज्ञानी होवे, शूरवीर विद्वान् लोग उससे मिले और राजा उन भक्त प्रजागणो का सत्कार करे ॥ १ ॥

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् । यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

दूरे । चित् । सन्तम् । अरुषासः । इन्द्रम् । आ । च्यावयन्तु ।

गच्छ । प्राप्नुहि । **रोदसी** । अ० १ । ३२ । ३ । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४ । १८९) इति रुधिर् आवरणे-असुन् । गौरादित्वात् ङीष् । धकारस्य दकार । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्ण । आभ्या हि रुद्धानि सर्वभूतानि । रोदस्यौ । द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० । भूमिस्वर्गौ । **उरूची** । उरु बहुनाम-निघ० ३ । १ । **ऋत्विग्दधृक्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति उरु+अञ्चु गतिपूजनयो —क्विन् अन्लोपो दीर्घश्च । **अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्** (वा० पा० ४।१।६) इति ङीप् । ङीप उदात्तत्वम् । पूर्ववत् पूर्वसवर्ण । उरवो बहव पदार्था अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्या ते उरूच्यौ । बहुपदार्थप्रापिके । **युञ्जन्तु** । प्राप्नुवन्तु । **त्वा** । त्वाम् । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । शूरा । विद्वास । **विश्ववेदसः** । विश्व+विद ज्ञाने, वा विद्लृ लाभे-असुन् । सर्वविषयज्ञातार । सर्वधनयुक्ता । **अमुम्** । परिदृश्यमान प्रजागणम् । **आ, नय** । समीपे प्रापय । **नमसा** । अन्नेन—निघ० २ । ७ । सत्कारेण । **रातहव्यम्** । हु दानादानप्रीणनेषु—यत् । हूयते हव्यम् । रात्त दत्त हव्य देवान्नं देवपूजन येन तम् ॥

सुख्याय॑ । विप्र॑म् । यत् । गा॒यत्री॑म् । बृ॒ह॒तीम् । अ॒र्कम् । अ॒स्मै॑ । सौत्रा॒म॒ण्या । दधृ॑षन्त । दे॒वाः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अरुषास =०-षा) गति शील [उद्यमी] पुरुष (दूरे) दुर्गम वा दूर देश मे (चित्) भी (सन्तम्) विद्यमान (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) बडे प्रतापी राजा को (सख्याय) अपना सखा बनाने के लिये (आ, च्यावयन्तु) ले आवे । (यत्) क्योकि (देवा) व्यवहार कुशल महात्माओ ने (गायत्रीम्) गान क्रिया, (बृहतीम्) स्तुति क्रिया और (अर्कम्) अन्न वा सत्कार क्रिया को (अस्मै) इस [इन्द्र] के लिये (सौत्रामण्या) सुत्रामा [उत्तम रक्षक] के योग्य भक्ति के साथ (दधृषन्त) एकत्र किया है ॥ २ ॥

भावार्थः—उद्योगी प्रजागण प्रजापालक नीतिकुशल राजा को दूर देश से भी अपनी सहायता के लिये बुलावे, और अनेक प्रकार मे उसका उत्साह और अपना आनन्द बढाने के लिये उसका योग्य अभिनन्दन करे, और गायत्री, बृहती आदि छन्दो से भी उसका यश गावे ॥ २ ॥

२—**दूरे** । **दुरीणो लोपश्च** (उ० २ । २०) इति दुर्+इण गतौ—रक्, इणो लोपो दीर्घश्च । दु खेनेयते प्राप्यते । दुर्गमे विप्रकृष्टे वा स्थाने । **चित्** । अपि । **सन्तम्** । अस-शतृ । विद्यमानम् । **अरुषासः** । **ऋहनिभ्यामूषन्** (उ० ४ । ७३) ऊषन्नेव उषन् । इति ऋ गतिप्रापणयो —उषन् । जसि असुक् । अरुषः = अश्व –निघ० १। १४। अरुष आरोचनात्–निरु० १२ । ७ । गतिशीला । ज्ञानिन । उद्योगिन पुरुषा । **इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्त सम्राजम् । **आ, च्यावयन्तु** । च्यु हसने, सहने वेदे च गतौ । आगमयन्तु । **सख्याय** । **सख्युर्यः** (पा० ५ । १ । १२६) इति सखि–य । सखिकर्मणे । साहाय्याचरणाय । **विप्रम्** । **ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र०** (उ० । २ । २८) इति डुवप बीजसन्ताने–रन् इत्व गुणाभावश्च निपात्येते । वपति धर्ममिति । यद्वा । **आतोऽनुपसर्गे कः** (पा० ३। २। ३) इति वि+प्रा पूरणे—क । विशेषेण पूरयति सद्विषयानिति विप्र । विप्राणा व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्—निरु० १४ । १३ । मेधाविनम्–निघ० ३ । १५ । **यत्** । यस्मात् कारणात् । **गायत्रीम्** । **आतोऽनुपसर्गे कः** (पा० ३ । २ । ३) इति गायत्+त्रैङ् पालने—क । ततो ङीष् । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मण –निरु० ७ । १२ । गानक्रियाम् स्तुतिम् । **बृहतीम्** । **वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृ-**

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः। इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

अत्ऽभ्यः। त्वा। राजा। वरुणः। ह्वयतु। सोमः। त्वा। ह्वयतु। पर्वतेभ्यः। इन्द्रः। त्वा। ह्वयतु। विट्ऽभ्यः। आभ्यः। श्येनः। भूत्वा। विशः। आ। पत। इमाः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे राजराजेश्वर !] (वरुण) अति श्रेष्ठ (राजा) शासन कर्ता पुरुष (त्वा) तुझको (अद्भ्य) प्राणो के लिये (ह्वयतु) बुलावे, (सोम) औषधो का रस निकालने वाला [वैद्यराज] (त्वा) तुझको (पर्वतेभ्य) [शरीर की] पुष्टियो के लिये (ह्वयतु) बुलावे। (इन्द्र) बडा प्रतापी सेनापति

वच्च (उ० २। ८४) इति वृह वृद्धौ—अति, गौरादित्वात् ङीष्। बृहती परिबर्हणात्—निरु० ७। १२। वृद्धिम्। कीर्त्तिम्। **अर्कम्। कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः** (उ० ३। ४०) इति अर्च पूजायाम्—क। यद्वा। अर्क स्तवने - अच्। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नभवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति सवृत्त कटुकिम्ना—निरु० ५। ४। सत्कारम्। अन्नम्। **अस्मै**। इन्द्राय। **सौत्रामण्या। सर्वधातुभ्यो मनिन्** (उ० ४। १४५) इति सु+त्रैङ पालने-मनिन्। **साऽस्य देवता** (पा० ४। २। २४) इति सुत्रामन् अण्। बाहुलकात् न टिलोप, स्त्रिया ङीप्। महारक्षकयोग्या भक्ति पूजा वा। **दधृषन्त**। धृष सहतौ। सगृहीतवन्त। अधारयन्। **देवाः**। व्यवहारकुशला। विद्वास ॥

३—**अद्भ्यः। आप्नोतेर्ह्रस्वश्च** उ० २। ५८) इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्। आप =अन्तरिक्षम्—निघ० १। ३। उदकानि—निघ० १। १२। भूस्थानदेवता, आप आप्नोते -निरु० ९। २६। प्राणा जलानि वा-यजु० ४। ७। आप्ता प्रजा.—य० वे० ६। २७, दयानन्दभाष्ये। प्राणेभ्य। प्रजाभ्य। **त्वा**। सम्राजम्। **राजा**। अ० १। १०। १। राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च—कनिन्। ऐश्वर्यवान्।

वा निधिपति(त्वा) तुझको (आभ्य विड्भ्य) इन प्रजाओ के लिये (ह्वयतु) बुलावे [हे महाराजाधिराज !] (श्येन) शीघ्र गति वाला [वा बाज पक्षी के समान शीघ्रगति वाला] (भूत्वा) होकर (इमा) इन (विश) प्रजाओ मे (आ, पत) उडकर आ ॥ ३ ॥

भावार्थः—राजा वरुण, सोम, इन्द्रादि पदवी वाले बडे २ अधिकारी अपने अधिकार की उन्नति के लिये राजाज्ञा का पालन करे और प्रधान राजा अपनी प्रजा के हित का उद्योग सदा करता रहे ॥ ३ ॥

श्येनो ह॒व्यं न॑यत्वा पर॑स्माद॒न्यक्षे॒त्रे अप॑रुद्धं चर॑न्तम् । अ॒श्विना॒ पन्थां॑ कृणुतां सु॒गं त॑ इ॒मं स॑जाता अभि॒संवि॑शध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः । ह॒व्यम् । न॒य॒तु॒ । आ । पर॑स्मात् । अ॒न्य॒ऽक्षे॒त्रे । अप॑ऽरुद्धम् । चर॑न्तम् । अ॒श्विना॑ । पन्था॑म् । कृ॒ण॒ताम् ।

वरुणः । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे–उनन् । वरणीय पुरुष । दुष्टनिवारक । **ह्वयतु** । आकारयतु । **सोमः** । अ० १ । ६ । २ । षुञ् अभिषवे-मन् । सुनोति य । ओषधिरसाना नि सारक । वैद्यराज । **पर्वतेभ्यः** । **भृमृदृशियजिपर्वि०** । (उ० ३ । ११) इति पर्व पूरणे–अतच । पूर्त्तिभ्य । पुष्टिभ्य । **इन्द्रः** । ऐश्वर्यवान् । सेनापति । निधिपति । **विड्भ्यः** । अ० १ । २१ । १ । विश प्रवेशने—क्विप् । विश , मनुष्या —निघ० २ । ३ । प्रजा । **आभ्यः** । परिदृश्यमानाभ्य । **श्येनः** । **श्यास्त्याहृञ्विभ्य इनच्** (उ० २ । ४६) इति श्यैङ् गतौ – इनच् । श्येनास·=अश्वा —निघ० १ । १४ । श्येन शसनीय गच्छति—निरु० ४ । २४ । श्येन आदित्य आत्मा च भवति श्यायतेर्गतिकर्मण —निरु० १४।१३ । शीघ्रगति । श्येनपक्षिवच्छीघ्रगामी । **भूत्वा** । **विशः** । प्रजा । **आ पत** । शीघ्रमागच्छ **इमाः** । उपस्थिता ॥

सुऽगम् । ते । इमम् । सऽजाताः । अभिऽसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः---(श्येन) शीघ्रगति वाले आप (अन्यक्षेत्रे) परदेश मे (अपरुद्धम्) रोक दिये गये (चरन्तम्) उत्तम आचरण करते हुये (हव्यम्) बुलाने योग्य पुरुष को (परस्मात) दूर देश से (आ नयतु) समीप लावे। (अश्विना = ० – नौ) सूर्य और चन्द्रमा (ते) तेरे (पन्थाम् = पन्थानम्) मार्ग को (सुगम) सुगम (कृणुताम्) करे। (सजाता) हे सजातीय लोगो ! (इमम्) इस [वीर पुरुष] से (अभि-स-विशध्वम्) चारो ओर से मिलो ॥ ४ ॥

भावार्थः—यदि कोई सत्पुरुष प्रजागण परदेश मे रोक दिया गया हो, राजा उसे प्रयत्न पूर्वक बुला लेवे। और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से प्रजा पालन करे जिससे सब प्रजागण उससे मिले रहे ॥ ४ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

ह्वयन्तु । त्वा । प्रतिऽजनाः । प्रति । मित्राः । अवृषत ।

४----**श्येनः** । म० ३ । शीघ्रगति पुरुष । **हव्यम्** । ह्वेञ्–यत् । आह्वातव्यम् । **नयतु** । प्रापयतु । **आ** । समीपे । **परस्मात्** । दूरदेशात् । **अन्यक्षेत्रे** । परभूमौ । **अपरुद्धम्** । निरुद्धम् । **चरन्तम्** । चर गतौ, भक्षणे, आचारे च—शतृ । शुभाचारवन्तम् । **अश्विना** । अ० २ । २९ । ६ । सूर्याचन्द्रमसौ—निरु० १२ । १ । **पन्थाम्** । छान्दसो नलोप । पन्थानम् । **कृणुताम्** । कुरुताम् । **सुगम्** । **सुदुरोरधिकरणे** (वा० पा० ३ । २ । ४८) इति सु+गम्लृ—ड । सुखेन गन्तव्यम् । **ते** । तव । **इमम्** । प्रशसित राजानम् । **सजाताः** । हे समानजन्माना । सजातीया बान्धव । **अभिसंविशध्वम्** । विशेश्छन्दस्यात्मनेपदम् । अभित सगच्छध्वम् ॥

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । विशि । क्षेमम् । अदीधरन् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(प्रतिजना) प्रतिकूल जन (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु) बुलावे। (मित्रा) स्नेही पुरुषो ने (प्रति) प्रत्यक्ष (अवृषत) सेवा की है। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [के समान गुणवाले] (ते) उन (विश्वे देवा) सब तेजस्वी पुरुषो ने (विशि) प्रजा मे (क्षेमम्) कुशल (अदीधरन्) स्थापित की है ॥५॥

भावार्थः—जिस राजा को प्रजा गण चुनते है, बैरी लोग उस राजा के आधीन रहते है। और विद्वान् शूर वीर पुरुष प्रजा मे उन्नति करते है ॥ ५ ॥

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

यः । ते । हवम् । विऽवदत् । सऽजातः । यः । च । निष्ट्यः । अपाञ्चम् ।
इन्द्र । तम् । कृत्वा । अथ । इमम् । इह । अव । गमय ॥६॥

भाषार्थः—(अथ) और (इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! (यः) जो

५—**ह्वयन्तु**। आह्वयन्तु। **त्वा**। त्वा धर्मात्मानम्। **प्रतिजनाः**। प्रतिकूलजना। शत्रव। **प्रति**। प्रत्यक्षम्। **मित्राः**। अ० १। ३। २। स्नेहिन। **अवृषत**। वृङ सभक्तौ—छान्दसे लुङि रूपम्। सेवितवन्त। **इन्द्राग्नी**। वायुपावकौ। तद्वद्गुणवन्त पुरुषा। **विश्वे**। सर्वे। **देवाः**। तेजस्विनो व्यवहारिणो वा जना। **ते**। उदात्तोऽयशब्द। प्रसिद्धा। **विशि**। प्रजायाम्। **क्षेमम्**। **अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षु०** (उ० १। १४०) इति क्षि क्षयैश्वर्ययो —मन्। क्षयति दु ख नाशयतीति, ऐश्वर्यवान् भवतीति वानेन। कुशलम्। ऐश्वर्यम्। **अदीधरन्**। धृञ् धारणे—ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् धृतवन्तः ॥

६—**यः**। य पुरुष। **ते**। तव। **हवम्**। ह्वेञ् आह्वाने—अप्। आवाहनम्।

(सजात) सजातीय, (च) और (य·) जो (निष्टच·) विजातीय पुरुष (ते) तेरे (हवम्) विज्ञापन मे (विवदत्) विवाद करे, (तम्) उसको (अपाञ्चम्) बहिष्कृत [देश बाहिर] (कृत्वा) करके (इमम्) इस [विज्ञापन] को (इह) यहा पर (अव, गमय) जता दे ॥ ६ ॥

भावार्थः—राजा अपने और पराये का विचार छोड पक्षपात रहित होकर शान्तिनाशक विवादी पुरुष को देश बाहिर कर दे, और यह विज्ञापन राज्य भर मे प्रसिद्ध कर दे जिससे फिर कोई धर्म विरुद्ध चेष्टा न करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१----७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राज्याभिषेकोत्सव —राज तिलक का उत्सव ।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज । सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्योऽ भवेह ॥ १ ॥

आ । त्वा । गन् । राष्ट्रम् । सह । वर्चसा । उत् । इहि ।
प्राङ् । विशाम् । पतिः । एकऽराट् । त्वम् । वि । राज ।

विज्ञापनम् । **विवदत्** । वि पूर्वाद् वदेर्लेटि अडागम । विरुद्ध वदेत् । विवादयेत् । **सजातः** । समानजातीय । बान्धव । **निष्टचः** । **अव्ययात् त्यप्** (पा० ४। २। १०४) इत्यत्र **निसो गते** इति वार्त्तिकेन–निस्+त्यप् । **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (पा० ८ । ३ । १०१) इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमादिभ्यः । म्लेच्छ । चाण्डाल । **अपाञ्चम्** । अप+अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन् । अपगतम् । बहिर्गतम् । बहिष्कृतम् । **इन्द्र** । परमैश्वर्यवन् राजन् । **तम्** । विवादिनम् । **कृत्वा** । विधाय । **अथ** । तदनन्तरम् । **इमम्** । हवम् । **इह** । अस्मिन् राज्ये । **अव गमय** । बोधय । ज्ञापय ॥

सर्वाः । त्वा । राजन् । प्रऽदिशः । ह्वयन्तु । उपऽसद्यः । नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

भाषार्थः—(राजन्) हे राजन् ! (राष्ट्रम्) यह राज्य (त्वा) तुझको (आ, गन्=अगमत्) प्राप्त हुआ है। (वर्चसा सह) तेज के साथ (उत्+इहि=उदिहि) उदय हो। (प्राङ्) अच्छे प्रकार पूजा हुआ, (विशाम्) प्रजाओ का (पति) रक्षक, (एकराट्) एक महाराजाधिराज (त्वम्) तू (वि, राज) विराजमान हो। (सर्वा) सब (प्रदिश) पूर्वादि दिशाये (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) पुकारे। (उपसद्य) सबका सेवनीय और (नमस्य) नमस्कार योग्य (इह) यहा पर [अपने राज्य मे] (भव) तू हो ॥ १ ॥

भावार्थः—राजा सिंहासन पर विराज कर महाप्रतापी और प्रजापालक हो, सब दिशाओ में उसकी दुहाई फिरे, और सब प्रजागण उसकी न्यायव्यवस्था पर चलकर उसका सदा आदर और अभिनन्दन करते रहे ॥ १ ॥

१—**त्वा** । त्वा शूरवीरम् । **आ, गन्** । गमेर्लुङि । **मन्त्रेघस०** (पा० २ । ४ । ८०) इति च्लेर्लुक् । **मो नो धातोः** (पा० ८ । २ । ६४) इति नत्वम् । आगमत् । प्राप्तम् । **राष्ट्रम्** । अ० १ । २६ । १ । राज्यम् । **सह** । सहितम् । **वर्चसा** । तेजसा । **उदिहि** । उदितः प्रख्यातो भव । **प्राङ्** । **ऋत्विग्दधृक्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति प्र+अञ्चु गतिपूजनयो —क्विन् । सम्यक् पूजित । **विशाम्** । प्रजानाम् । **पतिः** । पालक । **एकराट्** । **सत्सूद्विष०** (पा० ३ । २ । ६१) इति एक+राजृ—क्विप् । मुख्यो राजा । **वि राज** । विशेषेण दीप्यस्व, ईश्वरो भव । **सर्वाः** । निखिला । **राजन्** । हे नृपते । **प्रदिशः** । अ० १ । ११ । २ । प्रकृष्टा दिश । प्राच्याद्या । तत्रस्था जना । **ह्वयन्तु** । स्वामित्वेन अनुजानन्तु । **उपसद्यः** । उप+षद्लृ गतौ—यत् । सर्वैरुपसदनीय । सेवनीय । **नमस्यः** । नमस्य नामधातु +कर्मणि यत् । नमस्कारयोग्य । **इह** । अस्मिन् राज्ये । **भव** । वर्त्तस्व ॥

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिश॒ः पञ्च॑ दे॒वीः ।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा
वसू॑नि ॥ २ ॥

त्वाम् । विश॑ः । वृ॒णु॒ताम् । रा॒ज्याय । त्वाम् । इ॒माः । प्र॒ऽदिश॑ः । पञ्च॑ ।
दे॒वीः । वर्ष्म॑न् । रा॒ष्ट्रस्य॑ । क॒कुदि॑ । श्र॒य॒स्व॒ । तत॑ः । नः॒ । उ॒ग्रः ।
वि । भ॒ज॒ । वसू॑नि ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (त्वाम्) तुझको (राज्याय) राज्य के लिये (विश) प्रजाये, और (त्वाम्) तुझको ही (इमा.) यह सब (पञ्च) विस्तीर्ण वा पाच (देवी =०—व्य) दिव्य गुणवाली (प्रदिशः) महा दिशाये (वृणताम्) स्वीकार करे । (राष्ट्रस्य) राज्य के (वर्ष्मन् =०—णि) ऐश्वर्य-युक्त वा ऊँचे (ककुदि) शिखर पर (श्रयस्व) आश्रय ले । (तत.) फिर

२—**त्वाम्** । राजानम् । **विशः** । प्रजा । **वृणताम्** । वृङ सम्भक्तौ—लोट् । सभजताम् । सेवन्ताम् । **राज्याय** । **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (पा० ५ । १ । १२८) इति राजन्—यक् । राजकर्मणे । राष्ट्राय । **इमाः** । परिदृश्य-माना । **प्रदिशः** । प्रधानदिशा । **पञ्च** । अ० १ । ३० । ४ । पचि विस्तारे—कनिन् । विस्तीर्णा । प्राच्याद्या मध्यदिशा सह पञ्चसख्याका । **देवीः** । देव्य । प्रकाशमाना । दिव्याः । **वर्ष्मन्** । **सर्वधातुभ्यो मनिन्** (उ० ४ । १४५) इति वृष प्रजननैश्वर्ययो —मनिन् । सप्तम्या लुक् । वर्ष्मन् शब्द उन्नवचन स्थिरवचनो वा, इति सायण , ऋग्वेदभाष्ये म० १० । २८ । २ । ऐश्वर्ययुक्ते । उन्नते । स्थिरे । **राष्ट्रस्य** । राज्यस्य । **ककुदि** । क+कु शब्दे—क्विप्, तुक् च, तस्य दः अन्त-र्भावितण्यर्थ । क सुख कावयति गृहस्थस्य औन्नत्य प्रापयतीति ककुद् । वृष-स्कन्धपृष्ठस्थमासपिण्डे । नृपचिह्ने । पर्वतशिखरे । **श्रयस्व** । श्रिञ् सेवने । आश्रितो भव । आस्स्व । **ततः** । तदनन्तरम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **वि, भज** ।

(उग्रः) तेजस्वी तू (न) हमारे लिये (वसूनि) धनो का (वि, भज) विभाग कर ॥ २ ॥

भावार्थः—राजा को सब प्रजा गण चुने । और सब मनुष्यादि प्रजा और चारो पूर्वादि दिशाओ और पाचवी ऊपर नीचे की दिशा के पदार्थ [जैसे आकाश मार्ग और भूगर्भादि के पदार्थ] सब राजा के आधीन रहे और यह बडा ऐश्वर्यवान् होकर राजभक्त सुपात्रो को विद्या और सुवर्णादि धनो का दान करता रहे ॥ २ ॥

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः संचराते । जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥

अच्छ । त्वा । यन्तु । हविनः । सऽजाताः । अग्निः । दूतः । अजिरः । सम् । चराते । जायाः । पुत्राः । सुऽमनसः । भवन्तु । बहुम् । बलिम् । प्रति । पश्यासै । उग्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(हविन) पुकार करने वाले (सजाता) सजातीय लोग (त्वा) तुझको (अच्छ) सन्मुख आकर (यन्तु) मिले । (अग्नि) आग के

साहितिको दीर्घ । यथाभाग देहि । **वसूनि** । धनानि ॥

३—**अच्छ** । अभिमुखम् । **यन्तु** । गच्छन्तु, प्राप्नुवन्तु । **हविनः** । हव+इनि । आह्वानशीला । **सजाताः** । समानजन्मानः । बान्धवाः । **अग्निः** । पावकवद् राजा । **दूतः** । अ० ३ । २ । १ । तापकारी । गतिशील । **अजिरः** । **अजिरशिशिरशिथिल०** (उ० १।५३) इति अज गतिक्षेपणयो –किरच् । गमनशील । प्रजाप्रेरकः । **सम्** । सम्यक् । विधिवत् । **चराते** । चरतेर्लेटि आडागम । **वैतोऽन्यत्र** (पा० ३ । ४ । ९६) इत्यैकार । आचरतु भवान् । **जायाः** । **जनेर्यक्** (उ० ४ । १११) इति जन जनने–यक्, आत्वम्, टाप् । जनयति वीरान् । भार्या ।

समान (दूत) तापकारी और (अजिर) वेगवान् [आप] (सम्) यथा-योग्य (चरातै) आचरण करे। (जायाः) हमारी धर्मपत्निया और (पुत्रा) कुलशोधक वा बहुरक्षक सन्तान (सुमनस) प्रसन्नमन (भवन्तु) रहे। (उग्र) तेजस्वी तू (बहु बलिम्) बहुत भेट को (प्रति) समुख (पश्यासै) देखे ॥३॥

भावार्थः—सब भाई बन्धु और प्रजागण राजा से मिले रहे और प्रसन्न होके (बलि; राजग्राह्य भाग कर आदि देवे, और वह राजा भी उनकी रक्षा मे सर्वथा तत्पर रहे ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु। अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

अश्विना। त्वा। अग्रे। मित्रावरुणा। उभा। विश्वे। देवाः। मरुतः। त्वा। ह्वयन्तु। अध। मनः। वसुऽदेयाय। कृणुष्व। ततः। नः। उग्रः। वि। भज। वसूनि ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अग्रे) अगले वा मुख्य पद पर [विराजमान] (त्वा) तुझ-

पुत्राः। अ० १। ११। ५। पूञ् पवने-क्त्र। पुत्र पुरु त्रायते निपरणाद् [पालनात्] वा पु नरक ततस्त्रायत इति वा—निरु० २। ११। कुलशोधकाः। बहुरक्षका वा दु खनाशका वा सन्ताना। वीरा पुत्रपुत्र्य। **सुमनसः**। शोभन-मनस्काः। प्रसन्नचित्ताः। **भवन्तु**। सन्तु। **बहुम्**। लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च (उ० १। २९) बहि वृद्धौ-कु, नलोप। विपुलम्। **बलिम्**। सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४। ११८) इति बल प्राणने, दाने-इन्। बल्यते दीयते स बलिः। राजग्राह्य भागम्। करम्। उपहारम्। पूजासामग्रीम्। **प्रति**। अभिमुखम्। **पश्यास**। इशोर्लेटि आडैत्वे यथा 'चरातै' शब्दे। आत्मनेपदम्। पश्य। **उग्रः**। उत्कटः। तेजस्वी ॥

४—अश्विना। अ० २। २९। ६। सूर्याचन्द्रमसावित्येके—निरु०

को (अश्विना =०–नौ) सूर्य और चन्द्र, और (उभा=उभौ) दोनो (मित्रा-वरुणा =०–णौ) प्राण और अपान वा दिन और रात और (विश्वे देवाः) सब व्यवहार कुशल (मरुत) शूर पुरुष (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) पुकारे [मार्गदर्शक हो]। (अधा) और, तू (मन) अपने मन को (वसुदेयाय) धन का दान करने के लिये (कृणुष्व) स्थिर कर। (तत) फिर (उग्र) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनो का (वि भज) विभाग कर ॥ ४ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य और चन्द्र परस्पर आकर्षण से, दिन और रात, प्राण और अपान अपने २ क्रम से, और शूर विद्वान् पुरुष नियम पर चलने से ससार का उपकार करते है इसी प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा विचार पूर्वक सुपात्रो को दान देकर प्रजा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (ततो न उग्रो) मन्त्र २ मे आ चुका है।
ऋ० म० ५ सू० १५ म० १५। का भी मिलान करे ॥

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ॥

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान (स्वस्ति) कल्याणयुक्त (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुचरेम) हम चलते रहे ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्। तदुयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

१२। १। सूर्यचन्द्रौ। **अग्रे**। मुख्यपदे वर्त्तमानम्। **मित्रावरुणा**। अ० १।२०।२। प्राणापानौ। अहोरात्रौ। **उभा**। उभौ। **विश्वे देवाः**। सर्वे व्यवहारिण। **मरुतः**। अ० १।२०।१। शूरा पुरुषा। **ह्वयन्तु**। आह्वयन्तु। **अधा**। =अथ। पुन। **मनः**। चित्तम्। **वसुदेयाय**। **अचो यत्** (पा० ३।१।९७) इति वसु+डुदाञ् दाने-भावे यत्। **ईद्यति** (पा० ६।४।६५) ईकारादेश। वसुनो धनस्य प्रदानाय। अन्यत् सुगमम्। **ततो न**। इत्यादि व्याख्यात म० २ ॥

आ । प्र । द्रव । परमस्याः । पराऽवतः । शिवे इति । ते । द्यावाऽपृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् । तत् । अयम् । राजा । वरुणः । तथा । आह । सः । त्वा । अयम् । अह्वत् । सः । उप । इदम् । आ । इहि ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(परमस्या) अत्यन्त (परावतः) दूर देश से (आ, प्र, द्रव) आकर पधार । (ते) तेरे लिये (उभे) दोनो (द्यावापृथिवी = ०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) होवे । (तथा) वैसा ही (अयम्) यह (राजा) राजा (वरुण) सब मे श्रेष्ठ परमेश्वर (तत्) वह (आह) कहता है । सो (स अयम्) इस [वरुण परमेश्वर] ने (त्वा) तुझको (अह्वत्) बुलाया है । (स = स त्वम्) सो तू (इदम्) इस [राज्य] को (उप) आदर पूर्वक (आ) आकर (इहि) प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भावार्थः—प्रजा गण श्रेष्ठ राजा को दूर देश से भी बुला लेवे, और वह अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करे कि राज्य भर मे दैवी और पार्थिव शान्ति रहे, अर्थात् अनावृष्टि और दुर्भिक्षादि मे भी उपद्रव न मचे, और आकाश, पृथिवी और समुद्रादि के मार्ग अनुकूल रहे । यही आज्ञा परमेश्वर ने वेदो मे दी है, उसको राजा यथावत् माने ॥ ५ ॥

५—**आ** । आगत्य । **प्र द्रव** । द्रु गतौ । प्रकर्षेण प्राप्नुहि । **परमस्याः** । स्याडागम । अत्यन्तात् । **परावतः** । **उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे** (पा० ५ । १ । ११८) इति उपसर्गसाधने धात्वर्थे स्वार्थे वति प्रत्यय । परावतः प्रेरितवत परागताद्वा—निरु० ११ । ४८ । दूरदेशात् । **शिवे** । मङ्गलकारिण्यौ । **ते** । तुभ्यम् । **द्यावापृथिवी** । सूर्यभूमी । तत्रत्या पदार्था इत्यर्थः । **स्ताम्** । भवताम् । **तत्** । प्रसिद्ध वचनम् । **अयम्** । सर्वव्यापक । **राजा** । ईश्वर । समर्थ । **वरुणः** । वरणीय । परमेश्वर । **तथा** । तेनैव प्रकारेण । **आह** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । **ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः** (पा० ३ । ४ । ८४) इति आहादेश परस्मैपदे । ब्रवीति । कथयति । **अह्वत्** । ह्वेञ्—लुङ् । आहूतवान् । **उप** । पूजायाम् । **इहि** । इण् गतौ । प्राप्नुहि । अन्यत् सुगमम् ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः । स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥ ६ ॥

इन्द्रऽइन्द्र । मनुष्याः । परा । इहि । सम् । हि । अज्ञास्थाः । वरुणैः । सम्ऽविदानः । सः । त्वा । अयम् । अह्वत् । स्वे । सधऽस्थे । सः । देवान् । यक्षत् । सः । ऊँ इति । कल्पयात् । विशः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(इन्द्रेन्द्र) हे राजराजेश्वर ! (मनुष्या = मनुष्यान्) मनुष्यो को (परेहि) समीप से प्राप्त कर, (हि) क्योकि (वरुणै) श्रेष्ठ पुरुषो से (सविदान॰) मिलाप करता हुआ तू (सम्) यथाविधि (अज्ञास्था) जाना गया है। (सः अयम्) सो इस [प्रत्येक मनुष्य] ने (त्वा) तुझको (स्वे सधस्थे) अपने समाज मे (अह्वत्) बुलाया है। (स = स भवान्) सो आप (देवान्) व्यवहार कुशल पुरुषो का (यक्षत्) सत्कार करे, (स उ = सः उ भवान्) वही आप (विश.) प्रजाओ को (कल्पयात्) समर्थ करे ॥ ६ ॥

६—**इन्द्रेन्द्र** । हे इन्द्राणामिन्द्र । राजराजेश्वर । **मनुष्याः** । **मनोर्जाता-वञ्यतौ षुक् च** (पा० ४ । १ । १६१) इति मनु-यत्-षुक् च । मनुर्मननम् । शसो नत्वाभावश्छान्दस । मनुष्यजातीन् मनुष्यान् । मननशीलान् प्रजागणान् । **परा** । समीपे । **इहि** । गच्छ । प्राप्नुहि । **हि** । यस्मात् कारणात् । **सम्, अज्ञास्थाः** । ज्ञा अवबोधने-लुङि । **सम्प्रतिभ्यामनाध्याने** (पा० १।३।४६) इत्यात्मनेपदम् । सम्यक् यथाविधि ज्ञातोऽसि । **वरुणैः** । वरणीयै । श्रेष्ठै । वरयितृभि. । **संविदानः** । अ० २ । २८ । २ । सम्+विद ज्ञाने-शानच् । सगच्छमान । **सः** । स प्रत्येकजन । **अह्वत्** । आह्वयति स्म । **स्वे** । स्वकीये । **सधस्थे** । सह+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क । **सध मादस्थयोश्छन्दसि** (पा० ६ । ३ । ९६) इति सहस्य सधादेशः । समाजे । **सः** । स भवान् राजा । **देवान्** । व्यवहारिणः पुरुषोत्त-

भावार्थः—प्रजापालक राजा विद्वान् चतुर मनुष्यो से मिलता रहे और सुपात्रो को योग्यतानुसार पदाधिकारी करे ॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् । तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

पथ्याः । रेवतीः । बहुऽधा । विऽरूपाः । सर्वाः । सम्ऽगत्य । वरीयः । ते । अक्रन् । ताः । त्वा । सर्वाः । सम्ऽविदानाः । ह्वयन्तु । दशमीम् । उग्रः । सुऽमनाः । वश । इह ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(पथ्या) मार्ग पर चलने वाली, (रेवती =०—त्य·) धन वाली, (बहुधा) प्राय (विरूपा) विविध आकार वा स्वभाव वाली (सर्वा) सब [प्रजाओ] ने (सगत्य) मिलकर (ते) तेरे लिये (वरीय) अधिक विस्तीर्ण वा श्रेष्ठ [पद] (अक्रन्) किया है। (ता सर्वा) वे सब [प्रजाये] (सविदाना.) एकमत होकर (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु)

मात् । **यक्षत्** । यजतेर्लेटि अडागम । **सिब् बहुलं लेटि** (पा० ३ । १ । ३४) इति सिप् । यजतु । सत्करोतु । **उ** । अवधारणे । **कल्पयात्** । क्रृपू सामर्थ्ये णिचि लेटि आडागम । कल्पयतु । समर्थयतु । **विशः** । प्रजा ॥

७—**पथ्याः** । **धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते** (पा० ४। ४। ९२) इति पथिन्-यत् पथोऽनपेता । सुमार्गगामिन्य । **रेवतीः** । **रयेर्मतौ बहुलम्** (वा० पा० ६।१।३७) इति रयि—मतुप् सप्रसारण गुणश्च । **छन्दसीरः** (पा० ८ । २ । १५) इति मतुपो वत्वम् । ङीप् विभक्तौ पूर्वसवर्णदीर्घ । रेवत्य । धनवत्य. । **बहुधा** । प्राय । **विरूपाः** । विविधाकाराः । नानास्वभावाः । **सर्वाः** । अखिला प्रजा. । **संगत्य** । सभूय । **वरीयः** । **प्रियस्थिर०** (पा० ६ । ४ । १५७) इति उरु+ ईयसुनि वरादेश । यद्वा, वर+ईयसुन् । उरुतरं वरतर पद सिंहासन वा । **ते** । तुभ्यम् । **अक्रन्** । करोतेर्लुङि च्लेर्लुक् । कृतवत्यः । **संविदानाः** ।

पुकारे। (उग्र) तेजस्वी और (सुमना) प्रसन्न चित्त तू (इह) इस [राज्य] मे (दशमीम्) दसमी [नब्बे वर्ष से ऊपर] अवस्था को (वश) वश मे कर ॥ ७ ॥

भावार्थः—सब प्रजा गण मिलकर और सुमार्ग मे चलकर राजा को सिहासन पर बिठलावे और अपना रक्षक बनावे। और वह राजा भी इस प्रकार से न्याय और आनन्द करता हुआ नीरोग पूर्ण आयु भोगे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ५ ॥

१–८ ॥ पर्णमणिर्देवता। १, ४ त्रिष्टुप्। २, ३, ५—८ अनुष्टुप् ॥

तेजोबलायुर्धनादिपुष्ट्युपदेश—तेज, बल, आयु, धनादि बढाने का उपदेश ॥

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन् त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१॥

आ। अयम्। अगन्। पर्णऽमणिः। बली। बलेन। प्रऽमृणन्। सऽपत्नान्। ओजः। देवानाम्। पयः। ओषधीनाम्। वर्चसा। मा। जिन्वतु। अप्रऽयावन् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (बली) बली (पर्णमणि) पालन करने वालों मे प्रशसनीय [परमेश्वर] (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) हमारे बैरियों

म० ६। सगच्छमाना। ऐकमत्य प्राप्ताः सत्य। **ह्वयन्तु**। आह्वयन्तु रक्षार्थम्। **दशमीम्**। नवतिसवत्सरोर्ध्वभाविनी चरमावस्थाम्। **उग्रः**। पराक्रमी। **सुमनाः**। प्रसन्नचित्त। दयालु। **वश**। आयत्तीकुरु। **इह**। अस्मिन् राज्ये ॥

१—अयम्। सर्वत्र वर्त्तमान। **आ, अगन्**। गमेर्लुङ्। आगतवान्।

को (प्रमृणन्) विध्वस करता हुआ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है (देवानाम्) इन्द्रियो का (ओज) बल और (ओषधीनाम्) अन्नादि औषधो का (पय·) रस, (अप्रयावन् = ०—वा) भूल न करने वाला वह (मा) मुझको (वर्चसा) तेज से (जिन्वतु) सन्तुष्ट करे ॥ १ ॥

भावार्थः—जैसे अन्तर्यामी परम कारण परमेश्वर अपने सामर्थ्य से हमारे विघ्नो को हटाकर हमे ओजस्वी इन्द्रिया और पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थ देकर उपकार करता है वैसे ही हम ओजस्वी, पराक्रमी होकर परस्पर उपकार करते रहे ॥ १ ॥

मयिं क्षत्रं पर्णमणे मयिं धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

मयिं । क्षत्रम् । पर्णऽमणे । मयिं । धारयतात् । रयिम् ।
अहम् । राष्ट्रस्य । अभिऽवर्गे । निऽजः । भूयासम् । उत्ऽतमः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(पर्णमणे) हे पालन करने वालो मे प्रशसनीय ! तू (मयि)

प्राप्तवान् । **पर्णमणिः । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः** (उ० ३ । ६) इति पॄ पालन-पूरणयो·, न· । **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४। १८) इति मण शब्दे-इन् । मण्यते स्तूयते स मणि । पालकेषु स्तुत्य । **बली** । शक्तिमान् । **बलेन** । शक्त्या । **प्रमृणन्** । विनाशयन् । **सपत्नान्** । शत्रून् । **ओजः** । सामर्थ्यम् । **देवानाम्** । इन्द्रियाणाम् । **पयः** । दुग्धम् । जलम् । रस । सार । **ओषधीनाम्** । अ० १ । २३ । १ । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगा. । मनु• १ । ४६ । व्रीहियवादीनाम् । रोगनाशकद्रव्यानाम् । **वर्चसा** । तेजसा । **मा** । माम् । **जिन्वतु** । जिवि प्रीणने । इदित्त्वात् नुम् । प्रीणयतु । तर्पयतु । **अप्रयावन्** । यातेर्वनिप् । **सुपां सुलुक्** · (पा० ७ । १ । ३९) इति सोर्लुक् । नलोपाभावश्छान्दस । अप्रयावा । अप्रगन्ता । अनपगन्ता । अप्रमाशील सन् ॥

२—मयि । ईश्वरोपासके । **क्षत्रम्** । अ० २ । १५ । ४ । क्षतो हिंसनात्

मुझ मे (क्षत्रम्) बल, और (मयि) मुझ मे ही (रयिम्) सम्पत्ति (धारयतात्) स्थापित कर। (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल मे (निज) आप ही (उत्तम) उत्तम (भूयासम् , बना रहूँ ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने बुद्धिबल और बाहुबल से शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति और सुवर्णादि धन प्राप्त करके ससार भर मे कीर्त्ति बढावे और आनन्द भोगे ॥ २ ॥

यं निंदुधुर्वनुस्पतौ गुह्यं देुवाः प्रियं मुणिम् ।
तमुस्मभ्यं सुहायुंषा देुवा दंदतु भर्तवे ॥ ३ ॥

यम् । निऽदुधुः । वनुस्पतौ । गुह्यम् । देुवाः । प्रियम् । मुणिम् ।
तम् । अुस्मभ्यंम् । सुह । आयुंषा । देुवाः । दुदुतु । भर्तवे ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(यम्) जिस (गुह्यम्) गुप्त, (प्रियम्) प्रिय वा हितकारी (मणिम्) प्रशसनीय [परमेश्वर] को (देवाः) व्यवहार जानने वाले देवताओ ने (वनस्पतौ) वननीय अर्थात् सेवनीय गुणो के रक्षक [पुरुष] मे (निदधुः) अवश्य दान किया है, (तम्) उस [परमेश्वर] को (अस्मभ्यम्)

त्रायते। बलम्। **पर्णमणे** । म॰ १। हे पालकेषु प्रशसनीया। **धारयतात्** । धारयतेर्हेस्तातङ् आदेश । धारय। स्थापय। **रयिम्** । अ० १। ५। २। रा दानादानयो –इ, युक्। धनम्–निघ० २। १०। सम्पत्तिम्। **राष्ट्रस्य** । अ० १। २९। १। राज्यस्य। **अभीवर्गे** । अभि+वृजी वर्जने –घञ्। **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (पा० ६। ३। १२२) इति दीर्घ । अभिगतो वर्गो मनुष्यादि समूहो यस्मिन्। राज्यमण्डले। **निजः** । नि+जनी प्रादुर्भावे–ड । निश्चयेन जायते। स्वकीय । **भूयासम्** । भू–आशीर्लिङ। अहं भवानि। **उत्तमः** । उत्कृष्टतमः ॥

३—यम् । प्रसिद्धम्। **निदधुः** । नि+डुधाञ् धारणपोषणदानेषु–लिट्। निहितवन्त। स्थापितवन्त । निश्चयेन दत्तवन्त । **वनस्पतौ** ।

हमे (देवा) तेजस्वी महात्मा पुरुष (आयुषा सह) बडी आयु के साथ (भर्तवे) हमारे पोषण करने के लिये (ददतु) दान करे ॥ ३ ॥

भावार्थः—सूक्ष्मदर्शी देवताओ ने निश्चय किया है कि वह अन्तर्यामी, सर्वहितकारी परमेश्वर प्रत्येक शुभचिन्तक पुरुष मे वर्तमान रहकर साहस बढाता है, उसी परमात्मा का उपदेश विद्वान् महात्मा ससार मे करे ॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

सोमस्य । पर्णः । सहः । उग्रम् । आ । अगन् । इन्द्रेण । दत्तः । वरुणेन । शिष्टः । तम् । प्रियासम् । बहु । रोचमानः । दीर्घायुऽत्वाय । शतऽशारदाय ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इन्द्रेण) बडे ऐश्वर्य वाले और (वरुणेन) स्वीकरणीय श्रेष्ठ, गुरु आदि करके (दत्त) हमे दिया हुआ और (शिष्ट) सिखाया

अ० १ । १२ । ३ । वन सेवने—अच् । पारस्करादित्वात् सुट् । वन्यते सेव्यते वन· । वनाना वननीयाना गुणाना पत्यौ रक्षके पुरुषे । **गुह्यम्** । **तदर्हति** । (पा० ५ । १ । ६३) इति गुहा + यत् । गुहा गोपनमर्हतीति । यद्वा । **शंसि गुहि-दुहिभ्यो वा** (वा० पा० ३ । १ । १०९) इति गुहू सवरणे—कर्मणि क्यप् । गुहाया हृदये गुप्तम् । **प्रियम्** । प्रीतिकरम् । हितकारम् । **मणिम्** । म० १ । प्रशसनीय परमेश्वरम् । **तम्** । मणिम् । तस्य परमेश्वरस्य बोधमित्यर्थ· । **अस्मभ्यम्** । अस्मदर्थम् । अस्माक लाभाय । **सह** । सहितम् । **आयुषा** । चिरजीवनेन । **देवाः** । तेजस्विन पुरुषा· । **ददतु** । डुदाञ् दाने—लोट् । प्रयच्छन्तु । **भर्तवे** । **तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्से०** (पा० ३ । ४ । ९) इति डुभृञ् धारणपोषणयो —तवेन् । पालनाय । भरणाय ॥

४—**सोमस्य** । ऐश्वर्यस्य । अमृतस्य । मोक्षस्य । **पर्णः** । म० १ ।

हुआ (सोमस्य) अमृत का (पर्ण) पूर्ण करने वाला परमेश्वर, (उग्रम्) पराक्रम वाला (सह) बल [बलरूप], (आ) सब ओर से (अगन्) मिला है। (बहु) अनेक प्रकार से (रोचमान) रुचि करता हुआ मै (तम्) उस [अमृतपूरक परमेश्वर] को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु युक्त (दीर्घायुत्वाय) बडे जीवन के लिए (प्रियासम्) प्रसन्न करूँ ॥ ४ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य विद्वानो की शिक्षा पाकर शुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर के ज्ञान से आत्मा मे बल पाता है, तब वह धर्मात्मा बडे उत्साह से परमात्मा की आज्ञा पालता हुआ बडे अर्थात् यशस्वी जीवन के साथ आनन्द भोगता है ॥ ४ ॥

'इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्ट ' यह पाद, अ० २ । २९ । ४ मे और 'दीर्घायुत्वाय शतशारदाय' यह पाद, अ० १ । ३५ । १ । मे आ चुके है ॥

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

आ । मा । अरुक्षत् । पर्णऽमणिः । मह्यै । अरिष्टऽतातये ।
यथा । अहम् । उत्तरः । असानि । अर्यम्णः । उत । सम्ऽविदः ॥ ५ ॥

पालक. । पूरक । **सहः** । बलरूप परमेश्वर । **उग्रम्** । उत्कटम् । **आ** । समन्तात् । सम्यक्प्रकारेण । **अगन्** । अगमत् । प्राप्त । **इन्द्रेण** । परमैश्वर्यवता तेजस्विना पुरुषेण । **दत्तः** । प्रापित । **वरुणेन** । श्रेष्ठेन । **शिष्टः** । अ० २ । २९ । ४ । शिक्षित । अनुज्ञात । **तम्** । सोमस्य पर्णम् । **प्रियासम्** । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च—आशीर्लिङ् । तर्पयामि । प्रसन्नीक्रियासम् । **बहु** । अनेकविधम् । **रोचमानः** । रुच दीप्तावभिप्रीतौ—शानच् । रोचिष्णु । प्रसन्न । दीप्यमान । **दीर्घायुत्वाय** । अ० १ । ३५ । १ । चिरजीवनाय । **शतशारदाय** । अ० १ । ३५ । १ । शतशरदृतुयुक्ताय ॥

भाषार्थः—(पर्णमणि) पालन करने वालो मे श्रेष्ठ परमेश्वर (मह्यै अरिष्टतातये) बडी कुशलता के लिए (मा) मेरे (आ, अरुक्षत्) ऊपर बैठा है। (यथा) जिससे (अहम्) मै (अर्यम्ण) श्रेष्ठो के मान करने वाले, (उत) और (सविद) ज्ञानी पुरुष से (उत्तर) अधिक श्रेष्ठ (असानि) हो जाऊँ ॥ ५ ॥

भावार्थः—सर्वोपरि परमेश्वर अन्तर्यामी होकर हमे दुष्कर्मो से बचने की प्रेरणा करता है जिससे हम श्रेष्ठो मे अति श्रेष्ठ और ज्ञानियो मे अति ज्ञानी होवे ॥ ५ ॥

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥

ये । धीवानः । रथऽकाराः । कर्माराः । ये । मनीषिणः ।
उपऽस्तीन् । पर्ण । मह्यम् । त्वम् । सर्वान् । कृणु । अभितः । जनान् ॥ ६ ॥

५—**मा** । माम् । **आ, अरुक्षत्** । रुह जन्मप्रादुर्भावयो—लुङ । आरूढवान् । उपरि विराजमानोऽभूत् । **पर्णमणिः** । म० १ । पालकेषु श्रेष्ठ । **मह्यै** । महत्यै । **अरिष्टतातये** । रिष हिंसायाम्—क्त । रिष्ट हिंसनम् । उपद्रव । उत्पात । नञ्समास । **शिवशमरिष्टस्य करे** (पा० ४ । ४ । १४३) इति अरिष्ट-करोत्यर्थे तातिल्प्रत्यय । **लिति** (पा० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्त । रिष्टवर्जनाय अनुपद्रवाय । क्षेमकरणाय । **यथा** । येन प्रकारेण **अहम्** । परमेश्वरोपासक । **उत्तरः** । उत्कृष्ट । **असानि** । अस्तेर्लोट् । भवानि । **अर्यम्णः** । **श्वनुक्षन्पूषन्प्लीहन्०** (उ० १ । १५९) इति अर्य+माङ् माने शब्दे च—कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मातीति । श्रेष्ठानां सत्कारकात् । **उत** । अपि च । **संविदः** । सम्+विद ज्ञाने—क्विप । ज्ञानिनः पुरुषात् ॥

भाषार्थः—(ये) जो (धीवान) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (रथकारा) रथो के बनाने वाले, और (ये) जो (मनीषिण) बडे पण्डित (कर्मारा) कर्मो मे गति रखनेवाले शिल्पी जन है। (पर्ण) हे पालन करनेवाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनो को (अभित) चारो ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्ती (कृणु) कर ॥ ६ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यो और विशेष कर राजा लोगो को चाहिये कि भूमिरथ, आकाशरथ, जलरथ आदि के बनाने वाले और अन्य शिल्पकर्मी विश्वकर्मा चतुर विद्वानो का सत्कार करते रहे जिससे अनेक व्यापारो से ससार मे उन्नति होवे ॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥

ये। राजानः। राजऽकृतः। सूताः। ग्रामऽण्यः। च। ये।

६—ये। प्रसिद्धा। **धीवानः**। **ध्याप्योः सम्प्रसारणं च** (उ० ४। ११५) इति ध्यै चिन्तने—कनिप्। ध्यानशीला। पण्डिता। **रथकाराः**। **कर्मण्यण्** (पा० ३।२।१) इति रथ+कृञ्—अण्। विमानादिनिर्मातार। **कर्माराः**। कर्म+ऋ गतौ—अण् पूर्ववत्। कर्माणि ऋच्छन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति। विश्वकर्माण.। कर्मकारा अस्त्रशस्त्रकारिण। **मनीषिणः**। **कृतभ्यामीषन्** (उ० ४।२६) इति मनु अवबोधने—ईषन्। टाप्। मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति इति व्रीह्यादित्वाद् इनि। यद्वा। ईष गतौ—अ, टाप्। **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** (वा० पा० ६।१।९४) इति पररूपम्। मनस् ईषा मनस ईषा मनीषा मनोगति-र्बुद्धि,। पूर्ववद्—इनि। मेधाविन पुरुषा —निघ० ३। १५। पण्डिता। **उपस्तीन्**। उप+अस सत्तायाम्, यद्वा, आस उपवेशने-क्तिच। आदिलोपश्छान्दस। समीपे विद्यमानान्। उपासीनान्। **पर्ण**। म० १। हे पालक, पूरक। **मह्यम्**। मदर्थम्। **सर्वान्**। अखिलान्। **कृणु**। कुरु। **अभितः**। सर्वत.। **जनान्**। लोकान् ॥

उप॒ऽस्तीन् । प॒र्ण॒ । मह्य॑म् । त्वम् । सर्वा॑न् । कृ॒णु॒ । अ॒भितः॑ । जना॑न् ॥७॥

भाषार्थः—(ये) जो (राजान) ऐश्वर्य वाले (राजकृत) राजाओ के बनाने वाले, (च) और (ये) जो (सूता) सर्वप्रेरक, (ग्रामण्य) ग्रामो के नेता लोग है । (पर्ण) हे पालन करने वाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनो को (अभित) चारो ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्त्ती (कृणु) कर ॥ ७ ॥

भावार्थः—चक्रवर्ती राजा सबके राजाधिराज परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने हितकारी माण्डलिक राजाओ और अन्य प्रधान पुरुषो को यथोचित व्यवहार से अपना इष्ट मित्र बनाये रक्खे ॥ ७ ॥

प॒र्णो॑ऽसि तनू॒पानः॒ सयो॑निर्वी॒रो वी॒रेण॒ मया॑ ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॑ बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

प॒र्णः॑ । अ॒सि॒ । त॒नू॒ऽपानः॑ । सऽयो॑निः । वी॒रः । वी॒रेण॑ ।
मया॑ । स॒म्ऽव॒त्स॒रस्य॑ । तेज॑सा । तेन॑ । ब॒ध्ना॒मि॒ । त्वा॒ । म॒णे॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(मणे) हे प्रशसनीय परमेश्वर ! तू (पर्ण) हमारा पूर्ण करने वाला, (तनूपान) शरीर रक्षक और (वीरेण मया) मुझ वीर के

७—**ये** । हितकारिण । **राजानः** । राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च-कनिन् । दीप्यमाना । ऐश्वर्यवन्तः । **राजकृतः** । राजन्+डुकृञ् करणे–क्विप्, तुक् च । राज्ञा कर्तार, अभिषेचका । **सूताः** । षू प्रेरणे, ऐश्वर्ये, प्रसवे च—क्त । प्रेरका । ऐश्वर्यवन्त । सूर्या, सूर्यवत्तेजस्विन । **ग्रामण्यः** । ग्राम+णीञ् प्रापणे–क्विप् । ग्राम सवसथ तत्रत्यान् जनान् नयतीति ग्रामणी । प्रधाना । अधिपतयः । अन्यद् व्याख्यात म० ६ ॥

८—**पर्णः** । पूरक । पालक । **असि** । भवसि । **तनूपानः** । शरीर-रक्षक । **सयोनिः** । **वहिश्रिश्रुयुद्रु०** (उ० ४ । ५१) इति यु मिश्रणामिश्र-

साथ (सयोनि) मिलने योग्य घर मे रहने वाला (वीर) वीर (असि) है। (सवत्सरस्य) सब मे यथा नियम वास करने वाले [तेरे] (तेन तेजसा) उस तेज से (त्वा) तुझको (बध्नामि) मै बाधता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्य उस उत्तम कामनाओ के पूरक, और शरीर रक्षक महा-पराक्रमी परमेश्वर को अपने साथ सब स्थानो मे निवास करता हुआ जानकर, और उसके तेजोमय स्वरूप को हृदय मे धारण करके पराक्रमी और तेजस्वी होकर आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

ईश्वर का जीव के साथ नित्य सम्बन्ध है जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋ० १ । १६४ । २०, अ० ६ । ६ । २० ॥

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर पालन शक्ति वाले, (सयुजा) समान सम्बन्ध रखने वाले, (सखाया) मित्रो के समान वर्त्तमान [ईश्वर और जीव] (समानम्) एक (वृक्षम्) सेवनीय [ससार वा वृक्ष] से (परि) सब प्रकार (सस्वजाते) सम्बन्ध रखते हैं। (तयो) उन दोनो मे (अन्य) एक [जीव, ईश्वराधीन होने से] (स्वादु) चखने योग्य (पिप्पलम् , फल [पुण्य पाप का] (अत्ति) खाता है (अन्य) दूसरा [परमात्मा] (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि) भले प्रकार [जीवो को] (चाकशीति) देखता है ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाक ॥

णयो —नि. । युत सम्पृक्त सर्वपदार्थे । योनि , गृहनाम-निघ० ३ । ४ । समान-गृहयुक्त । **वीरः** । **स्फायितञ्चिवञ्चि०** (उ० २ । १३) इति अज गतिक्षेप-णयो'—रक् । अजेर्वीभाव । यद्वा । वीर विक्रान्तौ पचाद्यच् । यद्वा । वि+ईर गतौ-क । वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा—निरु० १ । ७ । शूर । **वीरेण** । पराक्रमिणा । **मया** । उपासकेन । **संवत्सरस्य** । अ० १।३५।३ । **संपूर्वाच्चित्** (उ० ३।७२) इति सम+वस निवासे—सरन् । स च चित् । सम्यग् निवसन्ति लोका यत्र, निवसति लोकेषु य । सम्यग्निवासस्थानस्य परमेश्वरस्य । **तेजसा** । प्रकाशेन । **तेन** । प्रसिद्धेन । **बध्नामि** । धारयामि । त्वदीयतेजोऽवाप्तये स्वहृदये स्थापयामीत्यर्थः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—८ ॥ अश्वत्थो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

उत्साहवर्धनायोपदेश —उत्साह बढाने के लिये उपदेश ॥

पुमान् पुंस॰ परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥

पुमान् । पुंसः । परिऽजातः । अश्वत्थः । खदिरात् । अधि । सः ।
हन्तु । शत्रून् । मामकान् । यान् । अहम् । द्वेष्मि । ये । च । माम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(स) वह (पुमान्) रक्षाशील (अश्वत्थ) अश्वत्थामा अर्थात् अश्वो, बलवानो मे ठहरने वाला पुरुष, अथवा वीरो के ठहरने का स्थान पीपल का वृक्ष, (पुसः) रक्षाशील (खदिरात् अधि) स्थिर स्वभाव वाले परमेश्वर से, अथवा खैर वृक्ष से (परिजात) प्रकट होकर (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओ

१—**पुमान्** । **पातेर्डुमसुन्** (उ० ४ । १७८) इति पा रक्षणे-डुमसुन्, डित्वाट् टिलोप । पातीति पुमान् [पुमस्] । रक्षक पुरुष । **पुंसः** । रक्षकात् । **परिजातः** । प्रादुर्भूतो भवति । **अश्वत्थः** । **अशूप्रुषिलटि॰** (उ० १ । १५१) इति अशूङ व्याप्तौ सघाते च—क्वन् । अश्नुते कार्याणि स अश्व , बलवान् पुरुषः । **सुपि स्थः** (पा० ३ । २ । ४) इति अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क॰ । पृषोदरादित्वाद् रूपम् । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति स । अतिवीरपुरुष । अश्वत्थामा । अथवा । अश्वा वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थ॰ पिप्पलवृक्ष॰ । **खदिरात्** । **अजिरशिशिरशिथिल॰** (उ० १ । ५३) इति खद स्थैर्यहिंसयोः—किरच् । स्थिर-स्वभावात् परमेश्वरात् ।॰ वृक्षविशेषाद्वा । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुवादी । **सः** ।

वा रोगो को (हन्तु) नाश करे (यान्) जिन्हे (अहम्) मैं (द्वेष्मि) बैरी जानता हू (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते है] ॥ १ ॥

भावार्थः—जो पुरुष सर्वरक्षक दृढ स्वभावादि गुण वाले परमेश्वर को विचार करके अपने को सुधारते है, वे शूरो मे महाशूर होकर कुकर्मी शत्रुओ से बचाकर ससार मे कीर्त्ति पाते है ॥ १ ॥

२—अश्वत्थ, पीपल का वृक्ष दूसरे वृक्षो के खोखले, घरो की भीतो, और अन्य स्थानो मे उगता है और बहुत गुणकारी है। खैर के वृक्ष पर उगने से अधिक गुणदायक हो जाता है। लोग बडा आदर करके पवित्र पीपल की चित्त-प्रसादक छाया और वायु मे सन्ध्या, हवन, व्यायाम आदि करते, और इस के दूध, पत्ते, फल, लकडी से बहुत ओषधियाँ बनाते है। शब्दकल्पद्रुम कोष मे इसको मधुर, कसैला, शीतल, कफ पित्त विनाशी, रक्तदाहशान्तिकारक आदि, और खदिर अर्थात् खैर को शीतल, तीखा, कसैला, दातो का हितकारी, कृमि, प्रमेह, ज्वर फोडे, कुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रुधिर पाडु और कफ का विनाशक आदि लिखा है ॥

पाद्मोत्तरखण्ड अध्याय १२६, २६०—१६१ मे अश्वत्थ की कथा सविस्तार लिखी है ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

तान् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । शत्रून् । वैबाधऽदोधतः ।
इन्द्रेण । वृत्रऽघ्ना । मेदी । मित्रेण । वरुणेन । च ॥ २ ॥

स अश्वत्थ । **हन्तु** । नाशयतु । **शत्रून्** । शातयितॄन् । अरीन् । रोगान् । **मामकान्** । अ० १ । २६ । ५ । मदीयान् । **यान्** । अपकारिण । **द्वेष्मि** । द्विष अप्रीतौ । प्रतिकूलान् जानामि । **ये** । अपकारिण । **माम्** । उपासक द्विषन्तीति विपरिणामेन सम्बन्ध ॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे बलवानो मे ठहरने वाले शूर [वा पीपल वृक्ष !] (वृत्रघ्ना) अन्धकार मिटाने वाले (इन्द्रेण) सूर्य से, (मित्रेण) प्रेरणा करने वाले वायु से (च) और (वरुणेन) स्वीकार करने योग्य जल से (मेदी+सन्) स्नेही होकर (तान्) उन (वैबाधदोधत) विविध बाधा डालने वाले क्रोधशील (शत्रून्) शत्रुओ वा रोगो को (नि) सर्वथा (शृणीहि) मार डाले ॥२॥

भावार्थः—राजा सूर्यादि के समान गुणयुक्त होकर भीतरी और बाहरी वैरियो का और सद्वैद्य पीपल के प्रयोग से रोगो का नाश करके प्रजा मे शान्ति रक्खे ॥ २ ॥

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।

एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

यथा । अश्वत्थ । निःऽअभनः । अन्तः । महति । अर्णवे । एव । तान् । सर्वान् । निः । भङ्ग्धि । यान् । अहम् । द्वेष्मि । ये । च । माम् ॥ ३ ॥

२—**तान्** । प्रसिद्धान् । **अश्वत्थ** । म० १ । हे अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशील शूरराजन् । **निः** । नि शेषम् । **शृणीहि** । शॄ हिंसायाम् । घातय । **शत्रून्** । अपकारिण । **वैबाधदोधतः** । **तस्येदम्** (पा० ४ । ३ । १२०) इति विबाध+अण् । विविध बाध प्रतिरोधो यस्य स वैबाध. । दोधति. क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २ । १२ । नैरुक्तो धातु –शतृप्रत्यय । वैबाधान् विबाधकान् दोधत. क्रोधशीलान । **इन्द्रेण** । ऐश्वर्यवता सूर्येण । **वृत्रघ्ना** । **ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्** (पा० ३ । २ । ८७) इति वृत्र+हन हिंसायाम्-क्विप् । अन्धकार हतवता । **मेदी** । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३ । १ । १३४) इति ञिमिदा स्नेहने—णिनि । घञन्ताद्वा मत्वर्थीय इनि । स्नेही । **मित्रेण** । अ० १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे क्त । यद्वा । ञिमिदा स्नेहने—त्र । सर्वप्रेरक. । स्नेहवान् । वायु । मध्यस्थानी देवता–निरु० १० । २१—२२ । **वरुणेन** । अ० १ । ३ । ३ । मध्यस्थानी देवता निरु० १० । ३ । वृष्टिजलेन ॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे वीरो मे ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (यथा) जैसे (महति) बडे (अर्णवे अन्त) समुद्र के बीच मे (निरभन) निश्चय करके तू भद्र करने वाला हुआ है। (एव) वैसे ही (तान् सर्वान्) उन सब को (निर्) निरन्तर (भङ्ग्धि) नष्ट कर दे, (यान्) जिन्हे (अहम्) मैं (द्वेष्मि) बैरी जानता हू, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते है] ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यो को शूरवीर और सद्वैद्य होकर दुख सागर मे डूबे हुए प्रजागणो के उभारने मे प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३ ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

यः । सहमानः । चरसि । ससहानःऽइव । ऋषभः । तेन ।
अश्वत्थ । त्वया । वयम् । सऽपत्नान् । सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे शूरो मे ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (यः) जो तू (सहमान) [वैरियो को] दबाता हुआ, (सासहान) महाबली (ऋषभ इव) श्रेष्ठ पुरुष वा बलीवर्द वा ऋषभ औषध के समान (चरसि) विचरता

३—यथा । येन प्रकारेण । **अश्वत्थ** । म० १ । हे बलवत्सु स्थितिशील !। पिप्पलवृक्ष ! **निरभनः** । भदि कल्याणे सुखे च—लङि हल्ङ्यादिना सिपो लोप । **दश्च** (पा० ८।२।७५) इति धातुदकारस्य वैकल्पिक रुत्वम् । निरन्तर भद्र कृतवानसि । **महति** । विशाले । **अर्णवे** । अ० १ । १० । ४ । समुद्रे । **निर्** । निश्चयेन । निरन्तरम् । **भङ्ग्धि** । भञ्जो आमर्दने—लोट् । भञ्जय । विदारय । अन्यत् सुगम व्याख्यात च म० १ ॥

४—यः । यस्त्वम् । **सहमानः** । षह मर्षणे—शानच् । शत्रून् अभिभवन् । **चरसि** । गच्छसि । वर्तसे । **सासहानः** । सहेर्लिट् । तस्य स्थाने **लिटः कानज्वा** (पा० ३ । २ । १०६) इति कानच् । **तुजादीनां०** (पा० ६ । १ । ७) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम्[1] । अत्यर्थमभिभवन् । **इव** । यथा । **ऋषभः** ।

---

१ यहाँ सायणाचार्य निर्दिष्ट व्याकरण प्रक्रिया अशुद्ध है। क्योकि सह धातु से यङ्लुक् मानने पर दीर्घोऽकित (७ । ४ । ८३) से अभ्यास को दीर्घ हो जायेगा, तो पदपाठ मे 'ससहान' ह्रस्व नही हो सकेगा ॥ सम्पा० ॥

है। (तेन त्वया) उस तेरे साथ (वयम्) हम (सपत्नान्) बैरियो को (सहिषीमहि) हरा देवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—प्रजा गण शूरवीर नीतिनिपुण राजा और सद्वैद्य के सहाय से शत्रुओ को वश मे करते रहे। ऋषभ औषध विशेष है। इसको शब्दकल्पद्रुम कोष मे मीठा, शीतल, रक्त-पित्त विरेक नाशक, वीर्य-श्लेष्मकारी, और दाहक्षय ज्वरहारी आदि लिखा है ॥ ४ ॥

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥

सिनातु । एनान् । निःऽऋतिः । मृत्योः । पाशैः । अमोक्यैः ।
अश्वत्थ । शत्रून् । मामकान् । यान् । अहम् । द्वेष्मि । ये । च । माम् ॥५॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे शूरो मे ठहरने वाले राजन्! [वा पीपल वृक्ष!] (निर्ऋति) अलक्ष्मी (मृत्यो) मृत्यु के (अमोक्यै) न खुल सकने वाले (पाशै) पाशो से (एनान्) इन (मामकान् शत्रून्) मेरे शत्रुओ को (सिनातु) बाध लेवे, (यान्) जिन्हे (अहम्) मै (द्वेष्मि) वैरी जानता हू, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते है] ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजा सत्पुरुषो के विरोधी दुराचारिओ को दृढ बन्धनो मे डालकर निर्धन और नष्ट कर दे ॥ ५ ॥

ऋषिवृषिभ्यां कित् (उ० ३ । १२३) इति ऋषी गतौ दर्शने च—अभच्। ऋषिर्दर्शनात्-निरु० २ । ११ । श्रेष्ठपुरुषो बलीवर्दो वा। औषधविशेषो वा। **तेन** । उक्तलक्षणेन । **त्वया** । अश्वत्थेन । **वयम्** । **सपत्नान्** । शत्रून् । **सहिषीमहि** । सहेराशीर्लिङि रूपम् । सहामहै । अभिभूयास्म ॥

५—**सिनातु** । षिञ् बन्धने । बध्नातु । **एनान्** । समीपवर्त्तिन । **निर्ऋतिः** । अ० १ । ३१ । २ । नि + ऋ गतौ—क्तिन् । अलक्ष्मी । **मृत्योः** । मरणस्य । **पाशैः** । बन्धनै. । **अमोक्यैः** । **ऋहलोर्ण्यत्** (पा० ३ । १ । १२४) इति मुच्लृ मोचने=त्यागे—ण्यत् । **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (पा० ७ । ३ । ५२) इति कुत्वम् । अमोचनीयै. । अत्याज्यै । **अश्वत्थ, शत्रून्** । इत्यादि व्याख्यात म० १ ॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च ॥ ६ ॥

यथा । अश्वत्थ । वानस्पत्यान् । आऽरोहन् । कृणुषे । अधरान् ।
एव । मे । शत्रोः । मूर्धानम् । विष्वक् । भिन्धि । सहस्व । च ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार से (अश्वत्थ) हे शूरो मे ठहरने वाले अश्वत्थामा राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (वानस्पत्यान्) सेवको वा सेवनीय गणो के रक्षक [आप] से सम्बन्ध वाले पुरुषो [वा वृक्ष समूहो] पर (आरोहन्) ऊचा होकर (अधरान्) नीचे (कृणुषे) तू करता है (एव) वैसे ही (मे शत्रो) मेरे शत्रु के (मूर्धानम्) मस्तक को (विष्वक्) सब विधि से (भिन्धि) तोड दे (च) और (सहस्व) जीत ले ॥ ६ ॥

भावार्थः—समस्त और प्रत्येक प्रजागण समर्थ शूर वीर पुरुष वा सद्वैद्य को नायक बनाकर शत्रुओ और रोगो से अपने को बचावे ॥ ६ ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

६—**वानस्पत्यान्** । वनति सेवते । अथवा । वन्यते सेव्यते स वन । तेषा पति, वनस्पति । 'वनस्पते' वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ । तत **दित्यदित्यादित्य०** (पा० ४ । १ । ८५) इति ण्यप्रत्यय । सेवकाना सेव्यगुणाना वा पालकस्य सम्बन्धिन पुरुषान् । स्वभक्तानित्यर्थ । यद्वा, समूहार्थे ण्य । वृक्षान् । **आरोहन्** । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—शतृप्रत्यय. । आरूढ', अधिष्ठाता सन् । **कृणुषे** । करोषि । **अधरान्** । नीचान् । स्वशरणे रक्षितान् । **मूर्धानम्** । **श्वनुक्षन्पूषन्प्लीहन्०** (उ० १ । १५९) इति मुर्वी बन्धने-कनिन[1] । मस्तकम् । **विष्वक्** । विषु अञ्चु-क्विन् । सर्वत. । **भिन्धि** । विदारय । **सहस्व** । अभिभव ॥

---

१ उकार को दीर्घत्व एव वकार को धकार यहाँ निपातित है ॥ सम्पा० ॥

ते । अधराञ्चः । प्र । प्लवन्ताम् । छिन्ना । नौःऽइव । बन्धनात् ।
न । वैबाधऽप्रनुत्तानाम् । पुनः । अस्ति । निऽवर्तनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(ते) वे (अधराञ्च) अधोगति वाले लोग वा रोग (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) छूटी हुयी (नौ इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) बहते चले जावे, जिससे (वैबाधप्रणुत्तानाम्) विविध बाधा डालने वालो मे पडे हुये लोगो का (पुन) फिर (निवर्तनम्) लौटना (न) नही (अस्ति) हो ॥७॥

भावार्थः—महादुष्ट रोग वा दुराचारियो के हटाने के लिये कठिन उपाय करने चाहिये, क्योकि कोमलता से उनका सुधार नही हो सकता ॥ ७ ॥

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

प्र । एनान् । नुदे । मनसा । प्र । चित्तेन । उत । ब्रह्मणा ।
प्र । एनान् । वृक्षस्य । शाखया । अश्वत्थस्य । नुदामहे ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(एनान्) इन [शत्रुओ] को (मनसा) मनन शक्ति से, (चि-

७—**ते** । शत्रव । **अधराञ्चः** । अधर+अञ्चते—क्विन् । अधोगतिं प्राप्ता । **प्रप्लवन्ताम्** । प्लुङ् गतौ । प्रवाहेण सह गच्छन्तु । न कदाचित् पार प्राप्नुवन्तु । **छिन्ना** । भिन्ना । वियुक्ता । **नौः** । ग्लानुदिभ्यां डौः (उ० २ । ६४) इति णुद प्रेरणे - डौ । जलतरणसाधनम् । तरणि । **बन्धनात्** । बन्ध-ल्युट् । रज्ज्वा सकाशात् । **न** । निषेधे । **वैबाधप्रणुत्तानाम्** । वैबाधो यथा मन्त्रे २ । प्र+णुद प्रेरणे—क्त, तस्य न । वैबाधेषु विविधबाधकेषु प्रणुत्तानां प्रेरिताना क्षिप्तानाम् । **पुनः** । पश्चात् । **अस्ति** । भवति । **निवर्त्तनम्** । नि+वृत्-ल्युट् निवृत्य । आगमनम् ॥

८—**एनान्** । पूर्वोक्तान् शत्रून् । **नुदे** । णुद प्रेरणे । स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । प्रेरयामि । निःसारयामि । **मनसा** । मननशक्त्या । **चित्तेन** ।

त्तेन) ज्ञान शक्ति से (उत) और (ब्रह्मणा) वेदशक्ति से (प्र प्र) सर्वथा (नुदे) मैं हटाता हूँ। (एनान्) इनको (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (अश्वत्थस्य) बलवानो मे ठहरने वाले शूर [वा पीपल] की (शाखया) व्याप्ति [वा शाखा] से (प्र, नुदामहे) हम निकाले देते है ॥ ८ ॥

भावार्थः—प्रत्येक व्यक्ति और सब लोग मिलकर शूरवीर वा पीपल के प्रभाव से आगा पीछा विचारकर शत्रुओ को नष्ट कर देते है ॥

सूक्तम् ७ ॥

१—७॥ १-३ हरिणो देवता, ४-७ मन्त्रोक्ताः देवताः । अनुष्टुप्छन्दः ॥

रोगनाशनायोपदेश —रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

हरिणस्य । रघुऽस्यदः । अधि । शीर्षणि । भेषजम् । सः ।
क्षेत्रियम् । विऽसानया । विषूचीनम् । अनीनशत् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(रघुष्यद) शीघ्रगामी (हरिणस्य) अन्धकार हरने वाले सूर्य रूप परमेश्वर के (शीर्षणि अधि) आश्रय में ही (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है, (स) उस [ईश्वर] ने (विषाणया) विविध दोनो से (क्षेत्रियम्)

चित्ती सज्ञाने-क्त । ज्ञानशक्त्या । **ब्रह्मणा** । वेदविज्ञानेन । **वृक्षस्य** । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३ । १ । १३५) इति वृक्षवरणे-क । वरणीयस्य । विटपस्य वा । **शाखया** । शाखृ व्याप्तौ अच्, टाप् । व्याप्त्या । पूर्णतया वृक्षावयवेन । **अश्वत्थस्य** । म० १ । बलवत्सु स्थितिशीलस्य शूरस्य पिप्पलस्य । **नुदामहे** । प्रेरयाम ॥

१—**हरिणस्य** । **श्यास्त्याहृञ्विभ्य इनच्** (उ० २ । ४६) इति हृञ् हरणे इनच् । दुःखहरणशीलस्य परमेश्वरस्य । सूर्यस्य । पशुविशेषस्य मृगस्य । **रघु-**

शरीर वा वश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर से (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने आदि सृष्टि मे वेद द्वारा हमारे स्वाभाविक और शारीरिक रोगो की औषधि दी है उसी के आज्ञापालन मे हमारा कल्याण है ॥

"हरिण" शब्दकल्पद्रुम कोष मे विष्णु, शिव, सूर्य, हस और पशु विशेष मृग का नाम है और पहिले चारो नाम प्राय परमेश्वर के है ॥

दूसरा अर्थ

(रघुष्यद.) शीघ्रगामी (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) मस्तक के भीतर (भेषजम्) औषध है। (स) उस [हरिण] ने (विषाणया) [अपने] सीग से (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थः—मृग के सीग आदि से मनुष्य बडे २ रोग नष्ट करे। मृग के नाभि मे प्रसिद्ध औषधि कस्तूरी होती है। उस का सीग पसली आदि की पीडा मे लगाया जाता है प्राय घरो मे रक्खा रहता है और उस मे नौसादर भी होता है। विषाणम्=सीग कुष्ठ का औषध है ॥ १ ॥

ष्यदः । **लङ्घिबह्योर्नलोपश्च** (उ० १।२९) इति लघि गतौ भोजननिवृत्तौ च—कु, नलोप । **बालमूललघ्वसुरालम०** (वा पा० ८ । २ । १८) इति लस्य रत्वम् । स्यन्देः क्विप् । **अनिदिताम्०** (पा० ६ । ४ । २४) इति नलोप । शीघ्रगामिन । **अधि** । सप्तम्यर्थानुवादी । **शीर्षणि** । **श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च** (उ० ४ । १९४) इति श्रिञ् सेवायाम्–असुन् । इति शिर । **शीर्षश्छन्दसि** (पा० ६ । १ । ६०) इति शिर शब्दस्य शीर्षन् इत्यादेश । आश्रये । मस्तके । **भेषजम्** । अ० १ । ४ । ४ । भयजेतृसामर्थ्यम् । **सः** । पूर्वोक्तो हरिण । **क्षेत्रियम्** । अ० २ । ८ । १ । क्षेत्र–घच् । क्षेत्रे देहे वशे वा जात रोग दोष वा । **विषाणया** । वि+षणु दाने, सेवने च–घञ् टाप् । विषाण विशेषेण मदस्य दातारम्–इति सायण –ऋ० ५ । ४४ । ११ । विषाणेन । विविधदानेन । शृङ्गेण । **विषूचीनम्** । विषु+अञ्चते –क्विन् । **अनिदितां हल उप०** (पा० ६ । ४ । २४) इति नलोपः । **विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्** (पा० ५ । ४ । ८) इति स्वार्थे ख । **अचः** (पा० ६ । ४ । १३८) इत्यकारलोपे **चौ** (पा० ६ । ३ । १३८) इति दीर्घ । विष्वक्, सर्वतः । **अनीनशत्** । णश अदर्शने–णिच्, लुङ । नाशितवान् ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

अनु । त्वा । हरिणः । वृषा । पत्ऽभिः । चतुःऽभिः । अक्रमीत् ।
विऽसाने । वि । स्य । गुष्पितम् । यत् । अस्य । क्षेत्रियम् । हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] (वृषा) परम ऐश्वर्यवाला (हरिण) विष्णु भगवान् (चतुर्भि) मागने योग्य [अथवा चार, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] (पद्भि) पदार्थो के साथ (त्वा अनु) तेरे साथ २ (अक्रमीत्) पद जमाकर आगे बढा है । (विषाणे) [परमेश्वर के] विविध दान मे [उस रोग को] (विष्य) नाश कर दे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश का रोग (अस्य) इसके (हृदि) हृदय मे (गुष्पितम्=गुफितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थः—परमेश्वर अनेक उत्तम २ पदार्थ देकर सदा सहायक रहता है । उसकी अनन्त दया से ओषधि द्वारा नीरोग रहकर अपना सामर्थ्य बढावे ॥ २ ॥

दूसरा अर्थ

[हे मनुष्य !] (वृषा) बलवान् (हरिण) हरिण (चतुर्भि पद्भि) चारो पैरो से (त्वा अनु) तेरे अनुकूल (अक्रमीत्) प्राप्त हुआ है ।

२—**अनु** । सह । अनुकूल व्याप्य । **त्वा** । त्वा मनुष्यम् । **हरिणः** । म०१। विष्णु । परमेश्वर । मृग । **वृषा** । **कनिन् युवृषितक्षि०** (उ० १ । १५६) इति वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । इन्द्र । **पद्भिः** । **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३।१।१३४) इति पद स्थैर्य्ये गतौ च–अच् । **पद्दन्नोमास्०** (पा० ६।१।६३) इति । पद् आदेश । स्थातव्यै , प्राप्तव्यै । पदार्थैः । पादै **चतुर्भिः** । **चतेरुरन्** (उ० ५ । ५८) इति चते याचने–उरन् । याचनीयैः । चतु - संख्याकैर्धर्मार्थकाममोक्षैर्वा । **अक्रमीत्** । क्रमु पादविक्षेपे,–लुङ् । पादविक्षेपेण प्राप्तवान् । **विषाणे** । म० १ । वि+षणु दाने–घञ् । विविधदानेन ।

(विषाणे) हे सीग ! [उस रोग को] (विष्य) नाश कर दे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश का रोग (अस्य हृदि) इसके हृदय मे (गुष्पितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य हरिण के सीग आदि औषध से रोग निवृत्ति करें ॥ २ ॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिवच्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः । यत् । अवऽरोचते । चतुष्पक्षम्ऽइव । छदिः । तेन ।
ते । सर्वम् । क्षेत्रियम् । अङ्गेभ्यः । नाशयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अद) वह (यत्) जो [वा पूजनीय ब्रह्म] (चतुष्पक्षम्) याचनीय व्यवहारो से युक्त, अथवा चार पक्ष वाले (छदि इव) घर के समान (अवरोचते) चमकता है। (तेन) उसके द्वारा (ते अङ्गेभ्य) तेरे अङ्गो से

अथवा विषाणा' इत्यस्य सबोधनम्। हे शृङ्ग। **वि, स्य**। षो अन्तकर्मणि-लोट्। विनाशय। **गुष्पितम्**। गुफ गुम्फ ग्रन्थे-क्त। छान्दस रूपम्। गुफित गुम्फित वा ग्रन्थितम्। **यत्**। यत्किंचित्। **अस्य**। समीपवर्त्तिन। पुरुषस्य। **क्षेत्रियम्**। रोगजातम्। **हृदि**। हृदये ॥

३—**अदः**। न+दसु उपक्षये-क्विप्। एतत्। पुरोवर्त्ति। **यत्**। **त्यजितनियजि०** (उ० १। १३२) इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु अदि, स च डित्। सर्वत्रसगत सर्वपूजनीय ब्रह्म। अथवा, सर्वनामैतत्। **अवरोचते**। निश्चयेन व्याप्य वा दीप्यते। **चतुष्पक्षम्**। चते याचने उरन्। म० २। **गृधिपण्योर्दकौ च** (उ० ३। ६९) इति पण व्यवहारे स्तुतौ च-स, कश्चान्तादेश। यद्वा। पक्ष परिग्रहे-घञ्। याचनीयव्यवहारयुक्तम्। चतुष्पक्षो वा। **छदिः**। **अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः** (उ० २। १०८) इति छद सवरणे+णिच् इसि। **इस्मन्त्रन्क्विषु च** (पा० ६। ४। ९७) इति ह्रस्वः। पटलम्। गृहम्। आच्छादनम्। **तेन**। ब्रह्मणा। **ते**। तव। **सर्वम्**।

(सर्वम्) सब (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश के रोग को (नाशयामसि =ˆ–म) हम नाश करते है ॥ ३ ॥

भावार्थः—ज्ञानी पुरुष उस सर्वत्र विराजमान परब्रह्म की रचनाओ मे उत्तम कर्मों से युक्त घर के समान आनन्द पाकर अपने सब विघ्नो का सब जगह नाश करके आगे बढे चले जाते है ॥ ३ ॥

२—हरिण के सीग आदि औषध से रोग नष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अमू इति । ये इति । दिवि । सुभगे इति सुऽभगे । विऽचृतौ । नाम । तारके इति । वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्ऽतमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अमू) वे (ये) जो (सुभगे) बडे ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुडाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (दिवि) आकाश मे है, वे दोनो (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊँचे (पाशम्) पाश को (वि+मुञ्चताम्) छुडा देवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकर्षण से प्रकाश, वृष्टि और पुष्टि आदि देकर ससार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य सुमार्ग मे चलकर सब विघ्नो को हटाकर स्वस्थ और यशस्वी हो ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० २ । ८ । १ । मे कुछ भेद से आ चुका है ।

अखिलम् । **क्षेत्रियम्** । नाशकर रोगम् । **अङ्गेभ्यः** । शरीरावयवेभ्य· । **नाशयामसि** । वय नाशयाम· ॥

४—**अमू** । परिदृश्यमाने । **ये** । ज्ञाते । **दिवि** । द्युलोके । आकाशे । **सुभगे** । शोभनैश्वर्ययुक्ते । शिष्ट व्याख्यातम्–अ० २ । ८ । १ ।

आप इद्वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

आपः । इत् । वै । ऊँ इति । भेषजीः । आपः । अमीवऽचातनीः ।
आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । त्वा । मुञ्चन्तु । क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(आप) सर्वव्यापक परमेश्वर वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजी =०—ज्य) भय निवारक है, (आप) परमेश्वर, वा जल (अमीवचातनी =०—न्य) पीडानाशक है । (आप) परमेश्वर वा जल (विश्वस्य) सब का (भेषजी) भय निवारक है, (ता) वह (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वश के दोष वा रोग से (मुञ्चन्तु) छुडावे ॥ ५ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धि, नेत्र हस्तादि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि, और अन्नादि पदार्थ देकर बडा उपकार किया है, सो हम भी उसको धन्यवाद देते हुये सब के साथ उपकार करे, और खेती आदि मे जल के सुप्रयोग से पुरानी और नवी दरिद्रता, और स्नान आदि मे प्रयोगो से सब रोग नाश करे ॥ ५ ॥

'आप' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, इसी से उस के विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है । 'आप' शब्द परमेश्वरवाची भी है, प्रमाण मे अगला मन्त्र है । उसमे एकवचनान्त शब्दो के साथ प्रयोग से उसका अर्थ एक परमेश्वर का है ॥

५—**आपः** । अ० १।४।३ । सर्वव्यापक परमेश्वर । जलानि । **इत्, वै, उ** । इति सर्वेऽवधारणे । अत्यन्तनिश्चयेन । **भेषजीः** । भेष भय जयतीति भेषजम् । भेष+जि—ड । **केवलमामकभागधेय०** (पा०४।१।३०) इति । भेषजशब्दात्, ङीप्[1] । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०६) इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घ । भेषज्य. । भयनिवारिका । **अमीवचातनीः** । अ० १ । २८ । १ । रोगाणा नाशयित्र्य ।

---

१ भिष. युग्घ्रस्वश्च (उ० १ । १३८) से अजि प्रत्यय करके भिषक् (वैद्य) शब्द बनता है । तत भिषज इयम् ऐसा विग्रह करके तस्येदम् (पा० ४ । ३ । १२०) से अण् प्रत्यय करके 'भेषज' शब्द बनता है । यहाँ केवलमामक० (पा० ४ । १ । ३०) मे ही भेषज शब्द पढा होने से निपातन से आदि अच् को वृद्धि का अभाव एव एकारादेश जानना चाहिये । द्र० पद० ४ । १ । ३०, उ० दया० व्याख्या । ड प्रत्यय के कल्पना की अपेक्षा सिद्धि का यह क्रम अच्छा है ॥ सम्पा० ॥

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑ ।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ता आप॒: स प्र॒जाप॑तिः ॥

(तत्) विस्तार करने वाले प्रसिद्ध ब्रह्म (एव) ही (अग्नि) ज्ञान-स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (आदित्य) प्रकाश स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (वायु) गतिशील बलवान् और (तत् उ) ब्रह्म ही (चन्द्रमा) आनन्द कारक है। (तत् एव) ब्रह्म ही (शुक्रम्) शुक्ल वा शुद्धस्वभाव, (तत्) सब मे विस्तृत ब्रह्म (ब्रह्म) महान् (ता·) वही (आप) सर्वव्यापक, और (स) वही (प्रजापति) प्रजापालक है ॥

तनोति बिस्तारयतीति तद् ब्रह्म। तनु विस्तारे अदि, स च डित् (उ० १।१३२)।

यदा॑सु॒तेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्या॒न॒शे ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षेत्रि॒यं ना॑शया॒मि॒ त्वत् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒ऽसु॒तेः । क्रि॒यमा॑णायाः । क्षे॒त्रि॒यम् । त्वा॒ । वि॒ऽआ॒न॒शे ।
वेद॑ । अ॒हम् । तस्य॑ । भे॒ष॒जम् । क्षे॒त्रि॒यम् । ना॒शया॑मि । त्वत् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वश का रोग (क्रियमा-णाया·) बिगाडे हुये (आसुते) काढे से (त्वा) तुझमे (व्यानशे) व्याप गया है। (अहम्) मैं (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (वेद) जानता हूँ। (क्षेत्रि-

---

पीडानाशिका । **विश्वस्य** । सर्वस्य । **त्वा** । त्वा मनुष्यम् । **मुञ्चन्तु** । मोचयन्तु । वियोजयन्तु, इत्यर्थ । **क्षेत्रियात्** । महारोगात् ।

६—**यत्** । यत्किञ्चित् । **आसुतेः** । आङ्=षुञ् अभिषवे क्तिन् । ओषधिपाकात् । काथात् । **क्रियमाणायाः** । कृञ् हिंसायाम् कर्मणि शानच् मुक् आगम । बध्यमानाया । नश्यमानायाः । **क्षेत्रियम्** । म० १ । महारोगः । **त्वा** । त्वा मनुष्यम् । **व्यानशे** । वि+अशूङ् व्याप्तौ—लिट् । **अश्नोतेश्च** (पा०

यम्) शरीर वा वंश के रोग को (त्वत्) तुम से (नाशयामि) नाश करता हूं ।।६।।

भावार्थः—विकृत औषध और विकृत अन्न के काढे वा पाक रस आदि से शरीर मे भारी रोग व्याप जाते हैं, मनुष्य हितकारक पदार्थों का सेवन प्रयत्न करके किया करे ।। ६ ।।

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अपऽवासे । नक्षत्राणाम् । अपऽवासे । उषसाम् । उत । अप ।
अस्मत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रो के (अपवासे) छिपने पर (उत) और (उषसाम्) प्रभात वेलाओ के (अपवासे) चले जाने पर (अस्मत्) हमसे (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) अनिष्ट (अप=अप उच्छतु) चला जावे, और (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अप) हट जावे ।। ७ ।।

भावार्थः—यह मन्त्र उपसंहार है, अर्थात् जैसे प्रतापी सूर्य के चमकने पर तारे छिप जाते और उषाओ का रङ्ग फीका पड जाता है, वैसे ही उद्योगी पुरुष आलस्यादि अनिष्टो और रोगो को दबाकर आनन्द भोगता है ।। ७ ।।

---

७ । ४ । ७२) इति दीर्घीभूताद् अभ्यासात् नुट् । व्याप्नोत् । **वेद** । जानामि । **अहम्** । उपासक । **तस्य** । क्षेत्रियस्य । **भेषजम्** । भयनिवारकमौषधम् । **नाशयामि** । निवारयामि । **त्वत्** । त्वत्त सकाशात् ।।

७—अपवासे । अप+वस निवासे, आच्छादने—भावे घञ् । अन्तर्धाने । अपगमने । **नक्षत्राणाम्** । **अमिनक्षियजि०** (उ० ३ । १०५) इति णक्ष गतौ—अत्रन् । नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मण —निरु० ३ । २० । तारकाणाम् । **उषसाम्** । **उषः किच्च** (उ० ४ । २३४) इति उष दाहे—असि । प्रभातप्रकाशानाम् । **उत** । अपि । **अप** । अप उच्छतु । **अस्मत्** । अस्मत्त । **सर्वम्** । निखिलम् । **दुर्भूतम्** । दुर्+भू—क्त. । दुर् दु खेन भूत युक्तम् । अनिष्टम् । दु खम् । **क्षेत्रियम्** । महारोगजातम् । **अप उच्छतु** । उच्छी विवासे । अपगच्छतु । निवर्ततान् ।।

सूक्तम् ८ ॥

१—६ । प्रजापतिर्मन्त्रोक्ता देवता वा । १--४, ६ त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् ॥

प्रीतिजननायोपदेश —प्रीति उत्पन्न करने का उपदेश ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवी-मुस्रियाभिः । अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

आ । यातु । मित्रः । ऋतुऽभिः । कल्पमानः । सम्ऽवेशयन् । पृथिवीम् । उस्रियाभिः । अथ । अस्मभ्यम् । वरुणः । वायुः । अग्निः । बृहत् । राष्ट्रम् । सम्ऽवेश्यम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थः—(ऋतुभि) ऋतुओ से (कल्पमान) समर्थ होता हुआ और (उस्रियाभि) किरणो से (पृथिवीम्) पृथिवी को (सवेशयन्) सुखी करता हुआ (मित्र) मरण मे बचाने वाला वा लोको का चलाने वाला सूर्य (आयातु) आवे। (अथ) और (वरुण) वृष्टि आदि का जल (वायु)

---

१ –**आयातु** । आगच्छतु । दीप्यतामित्यर्थ । **मित्रः** । अ० १ । ३ । २ । मित्र प्रमीतेस्त्रायते समिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा निरु० १० । २१ । **सुपि स्थः** (पा० ३ । २ । ४) इति प्रमीति+त्रैङ् पालने–क , प्रमीतिशब्दस्य च मिद्भाव । यद्वा, डुमिञ् प्रक्षेपणे– क्त्र । यद्वा, ञिमिदा स्नेहने क्त्रः । प्रमीते-र्मरणात् त्राता रक्षको वृष्टिदानेन । लोकान् सम्मिन्वान प्रक्षिपन् प्रेरयन् आक-र्षणेन । शस्यानि स्नेहयति जलेन । यद्वा मित्रवद् उपकारक । सूर्य । **ऋतुभिः** । वसन्ताद्यै । **कल्पमानः** । कृपू सामर्थ्ये—लट शानच् । **कृपो रो लः** (पा० ८ । २ । १८) इति लत्वम् । उपकाराय समर्थ सन् । **संवेशयन्** । सपूर्वाद् विश सुखीकरणे, णिच्, शतृ । सुखीकुर्वन् । **पृथिवीम्** । विस्तीर्णां भूमिम् ।

पवन और (अग्निः) अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (बृहत्) विशाल (सवेश्यम्) शान्तिदायक (राष्ट्रम्) राज्य को (दधातु) स्थिर करे ॥ १ ॥

भावार्थः—राजा प्रयत्न करे कि उसके प्रजागण सब ऋतुओ से पृथिवी पर भानुताप [सूर्य की किरणो को काच के दर्पणो से खीचने का यन्त्र] आदि यन्त्रो द्वारा सूर्य से, जल चक्र, जल नाली आदि द्वारा जल से, पवन चक्रादि द्वारा पवन से, और आग्नेय अस्त्र शस्त्र द्वारा अग्नि से विमान, अग्निरथ, नौका आदि मे अनेक विधि से उपकार लेकर राज्य की उन्नति करे ॥ १ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः । हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । इन्द्रः । त्वष्टा । प्रति । हर्यन्तु । मे । वचः । हुवे । देवीम् । अदितिम् । शूरऽपुत्राम् । सऽजातानाम् । मध्यमेऽस्थाः । यथा । असानि ॥ २ ॥

भाषार्थः—(धाता) पोषणकर्ता, (रातिः) दानकर्ता, (सविता) सर्व-

उस्रियाभिः । **स्फायितञ्चिवञ्चि०** (उ० २ । १३) इति वस निवासे—रक् । **वचिस्वपि०** (पा० ६ । १ । १५) इति सम्प्रसारणम् । तत उस्राशब्दात् स्वार्थे पृषोदरादित्वेन[1] घप्रत्यय । घस्य चेयादेश । वसन्त्यत्र रसा. । उस्रै· किरणै । **अथ** । अपि च । **अस्मभ्यम्** । अस्मदर्थम् । **वरुणः** । वरणीय जलम् । **वायुः** । पवन । **अग्निः** । पावक । **बृहत्** । महत् । **राष्ट्रम्** । अ० १ । २९ । १ राज्यम् । **संवेश्यम्** । सपूर्वाद् विश सुखीकरणे[2]—अर्हार्थे यत् । सुखीकरण-योग्यम् । शान्तिदायकम् । **दधातु** । धरतु । विदधातु । करोतु । स्थापयतु । प्रत्येकापेक्षयैकवचनम् ॥

२—धाता । धारक । पोषक । **रातिः** । रा दाने—कर्तरि क्तिच् ।

---

१ पा० ६ । ३ । १०९ ॥ सम्पा० ॥

२. धातुओ के अनेकार्थ होने से यहाँ 'सुखीकरणे' अर्थ दिया है ॥ सम्पा० ॥

प्रेरक, (इन्द्र) बडा ऐश्वर्यवान्, और (त्वष्टा) देवशिल्पी वा विश्वकर्मा [यह सब पुरुष] (मे) मेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य के कारण (वच.) वचन को (जुषन्ताम्) विचारे और (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (हर्यन्तु) स्वीकार करे। (देवीम्) दिव्य गुणवाली, (शूरपुत्राम्) शूर पुत्रो वाली (अदितिम्) अदान वा अखण्ड व्रतवाली देव माता [चतुर स्त्री वा विद्या] को (हुवे) मै आवाहन करता हू, (यथा) जिससे मै (सजातानाम्) अपने समान जन्मवाले भाई बन्धुओ मे (मध्यमेष्ठा) प्रधान मध्यस्थ [mediator] होकर (असानि) रहू ॥ २ ॥

भावार्थः—राजा बडे २ गुणवान् पुरुषो, बडी २ गुणवती स्त्रियो और विद्या की प्रतिष्ठा बढावे, जिससे वह उनके सहाय से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥३॥

दानशील । **सविता** । सर्वप्रेरक । **इदम्** । **इन्देः कमिन्नलोपश्च** (उ० ४ । १५७) इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन्, नलोप । परमैश्वर्यकारणम् । **जुषन्ताम्** । जुष परितर्कणे, जुषी प्रीतिसेवनयो । तर्कयन्तु । विचारयन्तु । सेवन्ताम् । **इन्द्रः** । परमैश्वर्यवान् । **त्वष्टा** । अ० २ । ५ । ६ । देवशिल्पी विश्वकर्मा । **प्रति** । प्रत्यक्षम् । **हर्यन्तु** । हर्य गतिकान्त्यो । कामयन्ताम् । सादर शृण्वन्तु । स्वीकुर्वन्तु । **मे** । मदीयम् । **वचः** । वच परिभाषणे सदेशे च—असुन् । वचनम् । **हुवे** । ह्वेञ् आह्वाने । आह्वयामि । **देवीम्** । दानादिगुणयुक्ताम् । दिव्यगुणवतीम् । **अदितिम्** । अ० २ । २८ । ५ । अखण्डव्रताम् । अदीना देवमातरम् । सुलक्षणा स्त्रियं विद्या वा । **शूरपुत्राम्** । शूरा. विक्रान्ता शौर्योपेता पुत्रा यस्या सा तथोक्ता ताम् । वीरपुत्रवतीम् । **सजातानाम्** । समानजन्मनाम् बन्धूनाम् । **मध्यमेष्ठाः** । अ० २ । ६ । ४ । मध्यम+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—विच् । सप्तम्या अलुक् । मध्यभवेषु प्रधानेषु स्थित । **यथा** । यस्मात् कारणात् । **असानि** । असेर्लोटि । अह भवानि ॥

हुवे । सोम॑म् । स॒वि॒तार॑म् । नमः॑ऽभिः । विश्वा॑न् । आ॒दि॒त्यान् । अ॒हम् । उ॒त्त॒र॒ऽत्वे । अयम् । अ॒ग्निः । दी॒द॒य॒त् । दी॒र्घम् । ए॒व । स॒ऽजा॒तैः । इ॒द्धः । अप्र॑तिब्रुवत्ऽभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अहम्) मै (सोमम्) ऐश्वर्य वाले और (सवितारम्) सर्व-प्रेरक पुरुष को और (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदीन देवमाता के पुत्रो वा तेजस्वी शूर जनो को (उत्तरत्वे) श्रेष्ठता के निमित्त (नमोभिः) अनेक सत्कारो से (हुवे) आवाहन करता हू । (अप्रतिब्रुवद्भि) प्रतिकूल न बोलने वाले (सजातै) समान जन्म वाले भाई बन्धुओ करके (इद्ध) प्रकाशित किया हुआ (अयम्) यह (अग्नि) अग्नि [सदृश तेजस्वी पुरुष] (दीर्घम्) बहुत काल तक (एव) अवश्य (दीदयत्) ज्योति वाला रहे ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो राजा शूर वीर सत्यवादी पुरुषो और भाई बन्धुओ का सत्कार करता रहना है, वह उनकी सहायता से चिरकाल तक तेजस्वी होकर ससार मे कीर्त्ति पाता है ॥ ३ ॥

इ॒हेद॑साथ॒ न प॒रो ग॑मा॒थेर्यो॑ गो॒पाः पु॒ष्टप॑तिर्व॒ आज॑त् ।

३—**हुवे** । आह्वयामि । **सोमम्** । ऐश्वर्यवन्त पुरुषम् । **सवितारम्** । सर्वस्य प्रेरक नायकम् । **नमोभिः** । सत्कारै । **विश्वान्** । सर्वान् । **आदित्यान्** । अ० १ । ६ । १ । अदिति—ण्य । यद्वा । आङ दीपी दीप्तौ यक् निपातनात् साधु । अदितिपुत्रान् । देदीप्यमानान् शूरान् । **अहम्** । प्रधान-पुरुष । **उत्तरत्वे** । निमित्ते सप्तमी । श्रेष्ठतार्थम् । **अयम्** । निर्दिष्ट. । अह-मित्यर्थ । **अग्निः** । अग्निवत् तेजस्वी । **दीदयत्** । दीदेतिश्छान्दसो दीप्तिकर्मा लेटि । अडागम दीर्घश्छान्दस । दीप्यताम् । **दीर्घमेव** । चिरकालमेव । **सजातैः** । समानजन्मभि । बन्धुभि । **इद्धः** । ञिइन्धी दीप्तौ क्त । समिद्ध । अभिवर्धित । **अप्रतिब्रुवद्भिः** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—शतृ । अप्रतिकूलवादिभि । सत्यवादिभि ॥

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

इह । इत् । असाथ । न । परः । गमाथ । इर्यः । गोपाः । पुष्टऽपतिः । वः । आ । अजत् । अस्मै । कामाय । उप । कामिनीः । विश्वे । वः । देवाः । उपऽसंयन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थः—[हे प्रजाओ ! स्त्री पुरुषो !] (इह इत्) यहा पर ही (असाथ) रहो, (पर) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ, (इर्य) अन्नवान् वा विद्यावान् (गोपाः) भूमि, वा विद्या वा गौ का रक्षक, (पुष्टपति) पोषण का स्वामी पुरुष (व) तुम को (आ, अजत्) यहा लावे । (अस्मै) इस [पुरुष] के अर्थ (कामाय) कामना [की पूर्त्ति] के लिये (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम २ गुण (कामिनी) उत्तम कामना वाली (व) तुम प्रजाओ को (उप) अच्छे प्रकार से (उपसयन्तु) आकर प्राप्त हो ॥ ४ ॥

भावार्थः—राजा राज्य की वृद्धि के लिये प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषो को नगरो

४—**इह** । अस्मिन् राज्ये । **इत्** । एव । **असाथ** । अस्तेर्लेटि आडागम । भवत । वर्तध्वम् । **न** । निषेधे । **परः** । पृधातोरच्प्रत्यय । दूरे । **गमाथ** । गमेर्लेटि आडागम । गच्छत । **इर्यः** । **ऋज्रेन्द्राग्र०** (उ० २।२८) इति इण् गतौ-रक्, टाप्, गुणाभावो निपात्यते । इरा, अन्ननाम–निघ० २।७ । सरस्वती । **तत्र साधुः** (पा०४।४।९८) इति इरा-यत् । अन्नवान् । विद्यावान् । **गोपाः** । **आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (पा० ३ । २ । ७४) इति गो+पा रक्षणे–विच् । **चितः** (पा० ६ । १ । १६३) इति अन्तोदात्त । गा भूमि वाच धेनु वा पातीति । भूपाल । विद्यारक्षक । धेनुरक्षक । **पुष्टपतिः** । पुष्टस्य पोषणस्य स्वामी । **वः** । युष्मान् । **आ, अजत्** । अज गतिक्षेपणयो । आगमयतु, आनयतु । **अस्मै** । अस्य हिताय । **कामाय** । शुभकामनासिद्धये । इष्टप्राप्तये । **उप** । अधिके । पूजायाम् । **कामिनीः** । काम–इनि , ङीप् । शुभकामवती प्रजा । **विश्वे** । सर्वे ।

मे बसाये और अन्नादि से पोषण करके शुभ गुणो के उपार्जन मे सदा प्रवृत्त रक्खे ।। ४ ।।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

सम् । वः । मनांसि । सम् । व्रता । मम् । आऽकूतीः । नमामसि ।

अमी इति । ये । विऽव्रताः । स्थन । तान् । वः । मम् । नमयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (व) तुम्हारे (मनासि) मनो को (सम्) ठीक रीति से, (व्रता=व्रतानि) कर्मो को (सम्) ठीक रीति से, (आकूती) सकल्पो को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि=०—म) हम झुकते है। (अमी ये) यह जो तुम (विव्रता) विरुद्ध कर्मी (स्थन) हो, (तान् व) उन तुम को (मम्) ठीक रीति से (नमयामसि=०—म) हम झुकाते है ।। ५ ।।

भावार्थः—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारो, उत्तम कर्मो और उत्तम मनोरथो को माने और धर्म पथ मे विरुद्ध मत वालो को भी सहमत कर लेवे ।।५।।

देवाः । दिव्यगुणा । **उपसंयन्तु** । इण् गतौ—लोट् । समीपे सम्यक् प्राप्नुवन्तु ।।

५—**सम्** । षो अन्तकर्मणि—डम्[1] । स्यति अनर्थान् सम्यक् । यथाविधि । **वः** । युष्माकम् । **मनांसि** । मननानि । चेतासि । **व्रताः** । अ० २ । ३० । २ । कर्माणि—निघ० २ । १ । **आकूतीः** । अ० ३ । २ । २ । सङ्कल्पान् । मनोरथान् । **नमामसि** । **इदन्तो मसि** (पा० ७।१।४६) इति मस स्थाने मसि । वय नमाम । नम्रीभवाम । **अमी** । समीपस्था । **ये** । पुरुषा । **विव्रताः** । विरुद्धकर्माण । **स्थन** । अ० १ । ३१ । २ । यूय स्थ । वर्तध्वे । **तान्** । पूर्वोक्तान् । **वः** । युष्मान् । **नमयामसि** । णम प्रह्वत्वे शब्दे च । णिच्, लट् । नामयाम । प्रह्वीकुर्म । नम्रीकुर्म ।।

---

१ समित्येकीभावम् । निरु० १ । ३ ॥ सम्पा० ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥६॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनांसि । मम । चित्तम् । अनु । चित्तेभिः । आ । इत । मम । वशेषु । हृदयानि । वः । कृणोमि । मम । यातम् । अनुऽवर्त्मानः । आ । इत ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(अहम्) मै (मनसा) अपने मन मे (मनासि) तुम्हारे मनो को (गृभ्णामि=गृह्णामि) थामता हूँ, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे २ (चित्तेभि =चित्तै) अपने चित्तो से (आ इत) आओ । (मम वशेषु) अपने वश मे (व हृदयानि) तुम्हारे हृदयो को (कृणोमि) मै करता हू, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्त्मानि) मार्ग चलते हुये (आ इत) यहा आओ ॥ ६ ॥

भावार्थः—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदो और प्रजागणो को धर्म पथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावे ॥ ६ ॥

६—**अहम्** । प्रधानपुरुष· । **गृभ्णामि** । भस्य ह । गृह्णामि । स्थिरीकरोमि । **मनसा** । मानसिकबलेन । **मनांसि** । मानसिकबलानि । **चित्तम्** । ज्ञानम् । **अनु** । अनुसृत्य । **चित्तेभिः** । चित्तै । ज्ञानै । **आ इत** । आगच्छत । **मम** । स्वकीयेषु । **वशेषु** । वश कान्तौ—अप् । आयत्तत्वेषु । प्रभुत्वेषु । **हृदयानि** । अन्त करणानि । **वः** । युष्माकम् । **कृणोमि** । करोमि । **यातम्** । या प्रापणे—क्त । गमनम् । **अनुवर्त्मानः** । अनु+वर्त्मन् । अनुसृतमार्गा सन्त ॥

सूक्तम् ९ ॥

१-६ । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

विघ्नशमनायोपदेश —विघ्न की शान्ति के लिये उपदेश ॥

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥

कर्शफस्य । विऽशफस्य [विशफस्य] । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । यथा । अभिऽचक्र । देवाः । तथा । अप । कृणुत । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(कर्शफस्य) निर्बल का और (विशफस्य) प्रबल का (द्यौ) प्रकाशमान परमेश्वर (पिता) पिता और (पृथिवी) विस्तीर्ण परमेश्वर (माता) निर्मात्री, माता है । (देवा) हे विजयी पुरुषो ! (यथा) जैसे [शत्रुओ को] (अभिचक्र) तुम ने हराया था, (तथा) वैसे ही (पुन) फिर [उन्हे] (अप कृणुत) हटा दो ॥ १ ॥

भावार्थः—जगत् के माता पिता परमेश्वर ने वृष्टि द्वारा सूर्य और पृथिवी के सयोग से सब निर्बल और प्रबल जीवो को उत्पन्न किया है, इसलिये

१---**कर्शफस्य** । **कृशशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्** (उ० ३ । १२२) इति कृश तनूकरणे, अल्पीभावे-अभच्, भस्य फ । कृशस्य निर्बलस्य । **विशफस्य** । **ऋषिवृषिभ्यां कित्** (उ० ३ । १२३) इति विश प्रवेशने-अभच् स च कित्, भस्य फ । विश =मनुष्या निघ० २ । ३ । विशालस्य । प्रबलस्य । **द्यौः** । **गमेर्डोः** (उ०२।६७) इति द्युत दीप्तौ-डो । द्योतमान परमेश्वर । **पिता** । पालक । जनक । **पृथिवी** । विस्तीर्णा । भूमि । परमेश्वर । **माता** । अ० १ । २ । १ । मान पूजायाम्-माङ् माने वा तृच् । निपातितश्च[1] । मातर =निर्मात्र्य — निरु० १२ । ७ । मान्या । निर्मात्री । जननी । **यथा** । येन प्रकारेण । **अभिचक्र** । करोतेर्लिटि मध्यमबहुवचने रूपम् । यूयम् अभिभूतवन्त । जितवन्त । **देवाः** ।

१. उ० २ । ९५ ॥ सम्पा० ॥

सब सबल और निर्बल मिलकर अविद्या, निर्धनता आदि शत्रुओ को मिटाकर आनन्द से रहे ॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अश्रेष्माणः । अधारयन् । तथा । तत् । मनुना । कृतम् ।
कृणोमि । वध्रि । विऽस्कन्धम् । मुष्कऽआबर्हः । गवाम्ऽइव ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अश्रेष्माण) दाह [डाह] न करने वाले पुरुषो ने [जगत् को] (अधारयन्) धारण किया है, (तथा) उमी प्रकार से ही (तत्) वह [जगत् का धारण] (मनुना) सर्वज्ञ परमेश्वर करके (कृतम्) किया गया है। (विष्कन्धम्) विघ्न को (वध्रि) निर्बल (कृणोमि) मै करता हूं, (गवाम् इव) जैसे बैलो के (मुष्काबर्ह) अण्डकोष तोडने वाला [बैलो को निर्बल कर देता है ॥ २ ॥

भावार्थः—पक्षपातरहित परमेश्वर ससार का धारण पोषण करता है, उसी

दिवु विजिगीषायाम्-अच् । हे विजिगीषव । विजयनि । **तथा** । तेन प्रकारेण । **अप कृणुत** । कृवि हिसाकरणयो । अपकुरुत । निवारयत शत्रून् । **पुनः** । अवधारणे । द्वितीयवारे ॥

२—**अश्रेष्माणः** । **सर्वधातुभ्यो मनिन्** (उ० ४ । १४५) इति श्रिषु दाहे-मनिन् । दाहशून्या । अमत्सरा । **अधारयन्** । धृतवन्त । **तथा** । तद्वदेव । **तत्** । धारणरूप कर्म । **मनुना** । **शृस्वृस्निहि०** (उ० १ । १०) इति मन ज्ञाने—उ । सर्वज्ञेन परमेश्वरेण । **कृतम्** । अनुष्ठितम् । **कृणोमि** । करोमि । **वध्रि** । **अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्** (उ० ४।६५) इति बन्ध बन्धने क्रिन् बन्ध्यम् । विफलम् । निर्वीर्यम् । **विष्कन्धम्** । अ० १ । १६ । ३ । वि+स्कन्दिर् गतिशोषणयो —अच् । विशेषेण शोषकम् । विघ्नजातम् । **मुष्का-**

प्रकार धर्मात्मा पुरुष किसी से बैर न करके उपकार करते आये है, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विघ्नो को हटाकर उन्नति करे, जैसे दुर्दमनीय बैल को असह्य बल से हीन करते एव कृषि आदि मे चलाते है ।।

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

पिशङ्गे । सूत्रे । खृगलम् । तत् । आ । बध्नन्ति । वेधसः ।
श्रवस्युम् । शुष्मम् । काबवम् । वध्रिम् । कृण्वन्तु । बन्धुरः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(वेधस] बुद्धिमान् पुरुष (पिशङ्गे) व्यवस्था वा अवयवो से युक्त वा दृढ (सूत्रे) सूत मे (तत्) विस्तीर्ण (खृगलम्) खनती वा छिद्र मे गलाने वाले, विघ्न को (आ) मब ओर से (बध्नन्ति) बाधते हैं। (बन्धुर =०—रा') बन्धुजन (श्रवस्युम्), प्रसिद्ध, (शुष्मम्) सुखाने

बर्हः । **सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्** (उ० ३ । ४१) इति मुष स्तेये, वधे च, कक् । तत **कर्मण्यण्** (पा० ३ । २ । १) इति मुष्क+आङ्—बर्ह हिसाया दीप्तौ च—अण् । मुष्कम् अण्डकोषम् आबृहति उन्मूलयतीति । अण्डकोषछेदक । **गवाम्** । पुगवानाम् । **इव** । यथा ॥

३—**पिशङ्गे** । **विडादिभ्यः कित्** (उ० १ । १२१) इति पिश व्यवस्थायाम्, अवयवे च-अङ्गच् । व्यवस्थायुक्ते । अवयवयुक्ते । दृढे । **सूत्रे** । **सिविमुच्योष्टेरू च** उ० ४ । १६३) इति षिवु तन्तुसन्ताने-ष्ट्रन् । यद्वा । सूत्र वेष्टने -अच् । तन्तौ । व्यवस्थायाम् । नियमे । **खृगलम्** । **नयतेर्डिच्च** (उ०२।१००) इति खनु अवदारणे—ऋप्रत्यय , टिलोप । गल अदने, स्रवणे च—अच् । खृ खनन छिद्रम्, तत्र गलयतीति खृगल । छिद्रे गलनशील विघ्नम् । **तत्** । **त्यजितनियजिभ्यो डित्** (उ० १ । १३२) इति तनु विस्तारे अदि , स च डित् । विस्तृतम् । **आ** । समन्तात् । **बध्नन्ति** । नियमे कुर्वन्ति । **वेधसः** । अ० १ । ११ । १ । ब्राह्मणा । मेधाविन । **श्रवस्युम्** । **क्याच्छन्दसि** (पा० ३ । २ । १७०) इति श्रवस् क्यच् -उ श्रव. श्रवणम् इच्छन्तम् । महान्तम् । प्रसिद्धम् । **शुष्मम्** ।

वाले (काबवम्) स्तुतिनाशक शत्रु को (वध्रिम्) निर्वीर्य (कृण्वन्तु) कर देवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग वेद द्वारा छोटे छोटो के मेल से बडी २ विपत्तियो को हटा देते है, इससे सब बान्धव मिलकर बाहरी और भीतरी दोषो को मिटाकर सुख भोगे ॥ ३ ॥

येना॑ श्रवस्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॒वासुरमा॒यया॑ ।

शुनां॑ क॒पिरि॑व दू॒षणो॒ बन्धु॑रा काब॒वस्य॑ च ॥ ४ ॥

येन॑ । श्र॒व॒स्यव॑ः । चर॑थ । दे॒वाःऽइ॑व । अ॒सु॒र॒ऽमा॒यया॑ ।

शुना॑म् । क॒पिःऽइ॑व । दू॒षण॑ः । बन्धु॑रा । का॒ब॒वस्य॑ । च॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(येन) जिस [बल] के साथ (श्रवस्यव) हे प्रसिद्ध महापुरुषो ! (देवा इव) विजयी लोगो के समान (असुरमायया) प्रकाशमान ईश्वर की बुद्धि से (चरथ) तुम आचरण करते हो, [उसी बल के साथ] (शुनाम्) कुत्तो के (दूषण) तुच्छ जानने वाले (कपि इव) बन्दर के समान (बन्धुरा)

अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उ० १ । १४४) इति शुष शोषणे-मन् । शोषकम् । **काबवम्** । कबृ स्तुतौ वर्णे च घञ् । वा गतिगन्धनयो —क । स्तुतेर्वर्णस्य वा नाशकम् । शत्रुम् । **वध्रिम्** । म० २ । निर्वीर्यम् । असमर्थम् । **कृण्वन्तु** । कुर्वन्तु । **बन्धुरः** । **मधुरादयश्च** (उ० १ । ४१) इति बन्ध बन्धने-उरच् । **सुपां सुलुक्०** (पा० ७ । १ । ३९) इति जस स्थाने सु । बन्धुरा । नियमबद्धा । बान्धव ॥

४—येन । शास्त्रबलेन । **श्रवस्यवः** । म० ३ । प्रसिद्धा । महान्त कीर्त्तिमन्त । **चरथ** । आचरण कुरुथ । **देवाः इव** । विजयिनो यथा । **असुरमायया** । असुर इति व्याख्यातम्—अ० १ । १० । १ । **असेरुरन्** (उ०१।४२) इति असु क्षेपणे, यद्वा अस गतिदीप्त्यादानेषु उरन् । **माछाषसिभ्यो यः** । (उ० ४ । १०९) इति माङ् माने-य , टाप् । माया प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । असुरस्य प्रकाशमानस्य परमेश्वरस्य मायया प्रज्ञया सह । **शुनाम्** । **श्वनुक्षन्-पूषन्०** (उ० १ । १५९) इति टुओश्वि गतिवृद्धयो र्च—कनिन् । कुक्कुराणाम् । **कपिः** । **कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च** (उ० ४ । १४४) इति कपि चलने—इप्रत्यय ।

बन्धन शक्ति [नीति विद्या] (च) निश्चय करके (काबवस्य) स्तुतिनाशक शत्रु की [तुच्छ करने वाली होती है] ॥ ४ ॥

भावार्थः—शास्त्र बल से प्रसिद्ध पुरुष अन्य महात्माओ का अनुकरण करके तीव्र बुद्धि के साथ उदाहरण वनते है, इसी प्रकार सब पुरुष नीति बल से शत्रुओ पर प्रबल रहे, जैसे बन्दर वृक्ष पर चढकर कुत्तो से निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

दुष्ट्यै । हि । त्वा । भत्स्यामि । दूषयिष्यामि । काबवम् ।
उत् । आशवः । रथाःऽइव । शपथेभिः । सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(दुष्ट्यै) दुष्टता [हटाने] के लिए (हि) ही (काबवम्) स्तुति नाशक (त्वा) तुझ को (भत्स्यामि) मै बाँधूगा और (दूषयिष्यामि) दोषी ठहराऊँगा । (आशव) शीघ्रगामी (रथा इव) रथो के समान (शप-

---

वानर । **इव** । यथा । **दूषणः** **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (पा० ३ । १ । १३४) इति दुष वैकृत्ये, णिच्—ल्युट् । दूषयति य । दूषक । दोषोत्पादक । **बन्धुरा** । म० ३ । बन्ध-उरच्, टाप् । बध्यतेऽनया । बन्धनशीला । नीतिविद्या । **काबवस्य** । म० ३ । स्तुतिनाशकस्य शत्रो । दूषयित्री भवतीति शेष । **च** । अवधारणे ॥

५—**दुष्टयै** । दुष वैकृत्ये-क्तिन् । दोषनिवारणाय । **हि** । निश्चयेन । **त्वा** । शत्रुम् । **भत्स्यामि** । बन्धेर्लृटि । **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (पा० ७ । २ । १०) इति इट्प्रतिषेध । नलोपश्छान्दस । यद्वा । भस भर्त्सनदीप्त्यो । लृट् । छान्दस इडभाव । **सः स्यार्धधातुके** (पा० ७ । ४ । ४९) इति सस्य त ।

थेभि =०—थै) हमारे शाप अर्थात् दण्ड वचनो से (उत् सरिष्यथ) तुम सब बन्धन मे चले जाओगे ।। ५ ।।

भावार्थः—राजा नाम मे धब्बा लगाने वाले दुष्ट को कारागार मे रख कर उसके दोष प्रसिद्ध कर दे, और उसके सहायको को भी उचित दण्ड देवे ।। ५ ।।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ।। ६ ।।

एक॑ऽशतम् । विऽस्क॒न्धानि । विऽस्थिता । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ । तेषा॑म् ।
त्वाम् । अग्रे॑ । उत् । ज॒ह॒रुः॒ । म॒णिम् । वि॒स्क॒न्ध॒ऽदूष॑णम् ।। ६ ।।

भाषार्थः—(एकशतम्) एक सौ एक (विष्कन्धानि) विघ्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (विष्ठिता=०—तानि) फैले हुए है [हे शूर !] (तेषाम् अग्रे) उनके सन्मुख (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न नाशक (मणिम्) प्रशसनीय मणिरूप (त्वाम्) तुझको उन्होने [देवताओ ने] (उत् जहरु) ऊँचा उठाया है ।। ६ ।।

बन्धे करिष्यामि । भर्त्सयिष्यामि । तिरस्करिष्यामि । **काव्रवम्** । म० ३ । स्तुतिनाशकम् । **आशवः** । अशूङ् व्याप्तौ—उण् । शीघ्रगामिन । **रथाः** । **हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्** (उ० २।२) इति रमु क्रीडायाम्—क्थन्, अनुनासिक लोप । स्यन्दना । **इव** । यथा । **शपथेभिः** । अ० २ । ७ । १ । शपथै । शापै । क्रोधवचनै । **उत् सरिष्यथ** । सृ—लृट् । उत् बन्धने चरिष्यथ । गमिष्यथ ।

६----एकशतम् । एक च शत चैकशतम् । एकोत्तरशतसख्यानि । अपरिमितानि । **विष्कन्धानि** । म० २ । विघ्ना । **विष्ठिता** । शेर्लोप. । विविध स्थितानि । **पृथिवीम् अनु** । **अनुर्लक्षणे** (पा० १।४।८४) इत्यनो. कर्मप्रवचनीयत्वम् । **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (पा० २ । ३ । ८) इति द्वितीया । भूमिं प्रति । **तेषाम्** । विघ्नानाम् । **अग्रे** । पूर्वम् । **उज्जहरुः** । हृञ् हरणे—लिट् उज्जह्रु । उद्धृतवन्त । उन्नीवन्त । **मणिम्** । मण शब्दे—इन् ।

भावार्थः—प्रतिष्ठित लोग राजा को 'एकशतम्' अनेक विघ्नो से रक्षा के लिये अग्रगामी बनाते है, इसलिये राजा अपने धर्म का यथार्थ पालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १० ॥

१--१३ । रात्रिरेकाष्टका वा देवता । १-३, ८-११, १३ अनुष्टुप् ; ४--६, १२ त्रिष्टुप् ; ७ षट्पदानुष्टुप् ॥

पुष्टिवर्धनाय प्रकृतिवर्णनम्—पुष्टि बढाने के लिये प्रकृति का वर्णन ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥

प्रथमा । ह । वि । उवास । सा । धेनुः । अभवत् । यमे ।
सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(सा) वह [ईश्वरी वा लक्ष्मी] (प्रथमा) प्रसिद्ध वा पहली शक्ति [प्रकृति] (ह) निश्चय करके (वि, उवास) प्रकाशित हुई । वह (यमे) नियम मे (धेनु) तृप्त करने वाली [गा गौ के समान] (अभवत्)

शब्दनीय स्तुत्यम् । प्रशस्यम् मणिरूप वा । **विष्कन्धदूषणम्** । विघ्ननाशकम् ॥

१—प्रथमा । प्रथेरमच् (उ० ५ । ६८) इति प्रथ प्रख्याने—अमच् । प्रख्याता । प्रधाना । आद्या । **ह** । खलु । **व्युवास** । वस आच्छादने, विपूर्वको वस तेजसि, दीप्तौ—लिट् । दिदीपे । **सा** । षो अन्तकर्मणि–ड । स्यति दु खानीति स , ईश्वर । विष्णु । स्त्रियाटाप् । सा । ईश्वरी । लक्ष्मी । प्रकृतिरित्यर्थ । यद्वा, सर्वनामैव । प्रसिद्धा इत्यर्थ । **धेनुः । धेट इच्च** (उ० ३ । ३४) इति धेट् पाने नु । यद्वा, धि, धारणे, तर्पणे च–नु । धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा निरु० ११ । ४२ ।

हुई है। (सा) वह (पयस्वती) दुधेल [प्रकृति] (न) हमको (उत्तराम्-उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) सम [समान वा निष्पक्ष] शक्ति से (दुहाम्) भरती रहे ॥ १ ॥

भावार्थः—इस सूक्त मे 'रात्रि' म० २ और 'एकाष्टका' म० ५ दोनो शब्द प्रकृति के वाचक है। प्रकृति ईश्वर शक्ति वा जगत् की सामग्री, सृष्टि से पहिले विद्यमान थी, उसने ईश्वरनियम से [मन्त्र २ वा ८ देखो] विविध पदार्थ सूर्य, अन्नादि उत्पन्न किये है। विद्वान् लोग प्रकृति के विज्ञान और प्रयोग से अधिक २ ऐश्वर्यवान होने है।

इस मन्त्र का उत्तरार्ध 'सा न पयस्वती' ऋ० ४। ५७। ७ मे है॥

यां देवाःप्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

याम्। देवाः। प्रतिऽनन्दन्ति। रात्रिम्। धेनुम्। उपऽआयतीम्।
सम्ऽवत्सरस्य। या। पत्नी। सा। नः। अस्तु। सुऽमङ्गली ॥ २ ॥

भाषार्थः—(देवा) महात्मा पुरुष, वा सूर्य, वायु चन्द्रादि दिव्य पदार्थ (उपायतीम्) पास आती हुई (धेनुम्) तृप्त करने वाली (याम्) जिस

दोग्ध्री तर्पयित्री। **अभवत्**। आसीत्। **यमे**। नियमे। **सा**। पूर्वोक्ता। **नः**। अस्मान्। **पयस्वती**। दुग्धवती। सारवती। **दुहाम्**। दुह प्रपूरणे—लोट्। स्वरितेत्वाद् आत्मनेपदम्। **अकथितं च** (पा० १। ४। ५१) इति द्विकर्मकता। यथा, मा दोग्धि पय। दुग्धाम्। प्रपूरयतु। **उत्तरामुत्तराम्**। उद्+तृ अप्। टाप्। **नित्यवीप्सयोः** (पा० ८। १। ४) इति द्विर्वचनम्। अतिशयेनोत्कृष्टाम्। **समाम्**। षम वैक्लव्ये अच् अकथित कर्मकत्वम्। पूर्णाम्। समक्रियाम्। समानाम्। साध्वी शक्तिम्॥

२—याम्। **देवाः**। विद्वास.। सूर्यवायुचन्द्रादिदिव्यपदार्थाः।

(रात्रिम्) दानशीला और ग्रहणशीला शक्ति, वा रात्रि रूप [प्रकृति] को (प्रतिनन्दन्ति) अभिनन्दन करते [धन्य मानते] है और (या) जो (सवत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले [परमेश्वर] की (पत्नी) पालन शक्ति है, (सा = सा सा) वह ईश्वरी (न) हमारे लिये (सुमङ्गली) बडे २ मङ्गल करने वाली (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थः—प्रकृति ईश्वर नियम से पदार्थों को उत्पन्न करके जीवो को सुख देकर उनका दु ख हरती है, और अनन्त होने से वह रात्रि वा अन्धकार रूप है। विज्ञानी पुरुष खोज लगा २ कर उससे उपकार लेकर विविध उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

सम्ऽवत्सरस्य । प्रतिऽमाम् । याम् । त्वा । रात्रि । उपऽ

प्रतिनन्दन्ति । टुनदि समृद्धौ । प्रतिनन्द अभिनन्दने, धन्यवादे । अभिनन्दयन्ति । स्तुवन्ति । **रात्रिम् । राशदिभ्यां त्रिप्** (उ० ४ । ६७) इति रा दाने ग्रहणे च—त्रिप् । यद्वा । रमते—त्रिप्, मकारस्याकारश्च । रात्रि कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तश्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्याया —निरु० २ । १८ । रात्रि—भूस्थान-देवता—निरु० ६ । २८ । सुखदात्रीम् । दु खहर्त्रीम् । अनन्तत्वात् निशारूपाम् अन्वेषणीया वा प्रकृतिमित्यर्थ । **धेनुम् ।** प्रीणयित्रीम् । **उपायतीम् ।** उप+आङ्+इण् गतौ—शतृ । **उगितश्च** (पा० ४ । १ । ६) इति ङीप् । समीपम् आगच्छन्तीम् । **संवत्सरस्य ।** अ० ३ । ५ । ८ । **सः स्यार्धधातुके** (पा० ७ । ४।४९) इति सस्य तकार । सम्यक् निवासकस्य । परमेश्वरस्य । **या ।** रात्रि । **पत्नी । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।** (पा० ४ । १ । ३३) इति इकारस्य नकारो ङीप् च । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः—इति दुर्गाचार्यस्य टीका । देवपत्न्यो देवाना पत्न्य —निरु० १२ । ४४ । पालयित्र्य पालनीया वा—इति तस्य टीका । पातीति पति पत्नी वा । पालयित्री शक्तिः । **सा ।** सा सा । म० १ । पूर्वोक्तेश्वरी । **नः ।** अस्मभ्यम् । **अस्तु ।** भवतु । **सुमङ्गली । मङ्गेरलच्** (उ० ५ । ७०) इति मगि गतौ—अलच् । ङीप् । शोभनं मङ्गल यस्याः । अत्यन्तकल्याणकरी । सुभद्रा ।

आस्महे । सा । नः । आयुष्मतीम् । प्रऽजाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(रात्रि) हे सुखदात्री वा दुःखहर्त्री वा रात्रिरूप [प्रकृति] (सवत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले परमेश्वर की (प्रतिमाम्) प्रतिमा [प्रतिरूप वा, प्रतिनिधि] (याम्) सर्वत्र व्यापिनी (त्वा) तुझको (उपास्महे) हम भजते है। (सा) वह लक्ष्मी तू (न) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) चिर-जीविनी (प्रजाम्) प्रजा को (राय) धन की (पोषेण) बढती के साथ (ससृज) सयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थः—अनन्त परमेश्वरी प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल रूप के ज्ञान से उपकार लेकर हम अपनी सन्तान के सहित धनी, स्वस्थ और चिरजीवी बने रहे ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छंदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । विऽऔच्छत् । आसु । इतरासु । चरति । प्रऽविष्टा । महान्तः । अस्याम् । महि-

---

३—**संवत्सरस्य** । म० २ । सम्यक् निवासकस्य परमेश्वरस्य । **प्रतिमाम्** । **आतश्चोपसर्गे** (पा० ३ । १ । १३६) इति प्रति+माङ माने–अङ, टाप् । प्रति-निधित्वेन निर्मीयत इति प्रतिमा । प्रतिरूपाम् । प्रतिमूर्त्तिम् । **या** । या प्रापणे–ड । यातीति यः, वायु । स्त्रिया टाप् । सर्वत्रगन्त्रीम् । सर्वव्यापिनीम् । **त्वा** । त्वाम् । **रात्रि** । म० २ । विकल्पकत्वात् ङीप् । हे सुखदायिनि । हे रात्रिरूपे । अन्वेषणीये । **उपास्महे** । उप+आस उपवेशने । वय सेवामहे । **सा** । म० १ । ईश्वरी त्वम् । **नः** । अस्मदर्थे । **आयुष्मतीम्** । चिर कालजीवनवतीम् । **प्रजाम्** । पुत्रपौत्रादिरूपाम् । **रायः** । अ० १ । ६ । ४ । धनस्य । **पोषेण** । पुष्टचा । वृद्धचा । **सं सृज** । सयोजय ॥

मानः । अन्तः । वधूः । जिगाय । नवऽगत् । जनित्री ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इयम् एव) यही (सा) वह ईश्वरी, [रात्रि, प्रकृति] है (या) जो (प्रथमा) प्रथम (वि-औच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियो] मे (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्त) इसके भीतर (महान्त) बडी २ (महिमान) महिमाये है। उस (नवगत्) नवीन २ गति वाली (वधू) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थो को] (जिगाय) जीत लिया है ॥ ४ ॥

भावार्थः—परमाणुरूपा प्रकृति जगत् के सब पदार्थों मे प्रविष्ट है। विद्वान् लोग जैसे २ खोजते है उसकी नवीन २ शक्तियो का प्रादुर्भाव करके सुख पाते है ॥ ४ ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥५॥

४—**इयम्** । परिदृश्यमाना । **एव** । हि । **सा** । म० १ । ईश्वरी । **या** । रात्रि , प्रकृति । **प्रथमा** । म० १ । आद्या । **व्यौच्छत्** । वि+उछी विवासे लङ् । अदीप्यत । **आसु** । परिदृश्यमानासु । **इतरासु** । इण् गतौ क्विप् **ऋदोरप्** (पा० ३ । ३ । ५७) इति इ+तॄ प्लवनसतरणयोः अभिभवे च—अप्, टाप् । इ काम । ईन् कामान् तरतीति इतरा । कामाना शुभकामाना तारयित्रीषु सृष्टिषु । अन्यासु । **चरति** । गच्छति । **प्रविष्टा** । अनुप्रविष्टा । **महान्तः** । विशालाः । **महिमानः** । **पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा** (पा० ५ । १ । १२२) इति महत्—इमनिच् । टिलोप । ऐश्वर्याणि । प्रभावा । **अन्तः** । मध्ये । **वधूः** । **वहेर्धश्च** (उ० १ । ८३) इति वह प्रापणे—ऊप्रत्यय । वहनयोग्या । प्राप्या । **जिगाय** । जि जये—लिट् । जितवती विघ्नान् । **नवगत्** । णु स्तुतौ—अप् । नव. स्तुत्य नूतन· । नवपूर्वाद् गमे क्विप् । **गमः क्वौ** (पा० ६ । ४ । ४०) इत्यनुनासिकलोप । **ह्रस्वस्य पिति कृति०** (पा०६।१।७१) इति तुक् । प्रशस्यगतियुक्ता । नवीनगतिवती । **जनित्री** । अ० २ । १ । ३ । जनितृ-ङीप् । जनयित्री जगज्जननी ॥

वानस्पत्याः । ग्रावाणः । घोषम् । अक्रत । हविः । कृण्वन्तः । परिऽवत्सरीणम् । एकऽअष्टके । सुऽप्रजसः । सुऽवीराः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(वानस्पत्या) वनस्पति अर्थात् सेवको वा सेवनीय गुणो के रक्षक परमेश्वर से सबन्ध वाले (ग्रावाण) सूक्ष्मदर्शी, स्तोता पुरुषो ने, (परिवत्सरीणम्) परिवत्सर, सब प्रकार निवास देने वाले परमेश्वर से सिद्ध किये हुये (हवि.) ग्राह्य वस्तु को (कृण्वन्त) उत्पन्न करते हुये, (घोषम्) ध्वनि (अक्रत) की है। "(एकाष्टके) हे अकेली व्याप्ति वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ! (वयम्) हम लोग (सुप्रजस) उत्तम सन्तान वाले, (सुवीरा) उत्तम वीरो वाले और (रयीणाम्) सब प्रकार के धनो के (पतय) पति (स्याम) होवे" ॥ ५ ॥

५—**वानस्पत्याः** । अ० ३ । ६ । ६ । वनाना पते सेवकाना सेव्यगुणाना वा पालकस्य परमेश्वरस्य सबन्धिन पुरुषा । **ग्रावाणः** । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३ । २ । ७५) इति हन गतिहिसनयो, ग्रह ग्रहणे वा, गृ विज्ञाने, शब्दे, निगरणे वा,–क्वनिप् । पृषोदरादित्वात् साधु । गृणाति स्तुतिकर्मा । निरु० ३ । ५ । ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा–निरु० ९ । ८ । तथा च । गारयते सूक्ष्मार्थ सुधी । शास्त्रविज्ञापका स्तोतार । पण्डिता । **घोषम्** । ध्वनिम् । **अक्रत** । कृञो लुङि । अकृषत । कृतवन्त । **हविः** । अ० १ । ४ । ३ । ग्राह्यवस्तु । **कृण्वन्तः** । उत्पादयन्त । आविष्कुर्वाणा । **परिवत्सरीणम्** । **वसेश्च** (उ० ३ । ७१) इति परि+वस निवासे-सरन् । इति परिवत्सर परितो निवासक । परमेश्वर । **संपरिपूर्वात् ख च** (पा० ५ । १ । ९२) इति निर्वृत्तार्थे ख । सवत्सरेण निर्वृत्त साधित रचितम् । **एकाष्टके** । **इण्यशिभ्यां तकन्** (उ० ३ । .४८) इति अशूङ् व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-तकन् । टाप् । **अष्टका पितृदैवत्ये** (वा० पा० ७ । ३ । ४५), इति इत्वाभाव । अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सा, यद्वा, अश्नन्ति सर्वे प्राणिनो यस्या सा अष्टका । एका चासावष्टका एकाष्टका । हे एकमात्रव्यापनशीले । एकमात्रभोजनस्थाने

भावार्थः—ऋषि मुनि प्रकृति द्वारा परमेश्वर रचित पदार्थों के गुणो के ज्ञान और प्रयोग से सब इसी प्रकार का सुख भोगते है। इसी प्रकार सब मनुष्य उद्योग करके आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

इडा॑यास्प॒दं घृ॒तवं॑त् सरीसृ॒पं जात॑वेदः॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ।
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒स्तेषां॑ स॒प्ता॒नां मयि॒ रन्ति॑रस्तु ॥६॥

इडा॑याः । प॒दम् । घृ॒तऽव॑त् । स॒री॒सृ॒पम् । जात॑ऽवेदः । प्रति॑ । ह॒व्या । गृ॒भा॒य॒ । ये । ग्रा॒म्याः । प॒शवः॑ । वि॒श्वऽरू॑पाः । तेषा॑म् । स॒प्ता॒नाम् । मयि॑ । रन्ति॑ः । अ॒स्तु॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(जातवेद) हे उत्पन्न पदार्थो के ज्ञान वाले पुरुष ! (इडाया) प्राप्ति योग्य [प्रकृति] के (घृतवत्) सारयुक्त और (सरीसृपम्) अत्यन्त रेगते हुये (पदम् प्रति) पद से (हव्या = हव्यानि) देने लेने योग्य वस्तुओ को (गृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (ग्राम्या) ग्राम निवासी, (विश्वरूपा) नाना रूप वाले (पशव) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीव है, (तेषाम्) उन

प्रकृते। **सुप्रजसः** । **नित्यमसिच् प्रजामेधयोः** (पा० ५ । ४ । १२२) इति असिच् समासान्त'। शोभनपुत्रपोत्रादियुक्ता । **सुवीराः** । अ० ३ । ५ । ८ । महाशूरयुक्ता । **वयम्** । मनुष्या । **स्याम** । भवेम । **पतयः** । स्वामिन । **रयीणाम्** । धनानाम् ॥

६—इडायाः । **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (पा० ३ । १ । १३५) इति इल स्वप्नगतिक्षेपणेषु-क , लस्य ड'। यद्वा। ईड स्तुतौ—घञ, ईकारस्य ह्रस्वत्वम्। टाप्। इला, पृथिवी-निघ० १ । १ । वाक्, १ । ११ । अन्नम्-२ । ७ गौ.-२ । ११ । प्राप्तव्याया स्तुत्याया प्रकृते । **पदम्** । पद स्थैर्ये गतौ च-पचाद्यच्। स्थानम् । गति । पादचिह्नम् । **घृतवत्** । सारोपेतम् । **सरीसृपम्** ।

सब (सप्तानाम्) आपस मे मिले हुये प्राणियो की (रन्ति.) प्रीति वा क्रीडा (मयि) मुझ मे (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—सृष्टि विद्या मे निपुण पुरुष ससार के पदार्थो से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सब प्राणियो को सुखी रखकर आप सुखी रहते है ॥ ६ ॥

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

आ । मा । पुष्टे । च । पोषे । च । रात्रि । देवानाम् । सुऽमतौ । स्याम । पूर्णा । दर्वे । परा । पत । सुऽपूर्णा । पुनः । आ । पत । सर्वान् । यज्ञान् । सम्ऽभुञ्जती । इषम् । ऊर्जम् । नः । आ । भर ॥ ७ ॥

सृपेर्यङलुगन्तात्–पचाद्यच् । अत्यर्थं सर्पत् गच्छत् । **जातवेदः** । अ० १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान ! । **प्रति** । प्रथ प्रख्यातौ–डति । व्याप्य । **हव्या** । हु दानादनयो, आदाने च–यत् । शेर्लोप । हव्यानि । दातव्यानि ग्राह्याणि वा वस्तूनि । दैवान्नानि । **गृभाय** । **छन्दसि शायजपि** (पा० ३ । १ । ८४) इति ग्रहेर्लोटि श्न शायच् । तत्रैव वार्तिक सिद्धान्तकौमुद्याम् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि । इति हस्य भ. । गृहाण । **ये** । **ग्राम्यः** । अ० २ । ३४ । ४ । ग्रामीणा । **पशवः** । व्याख्यातम्–अ० २ । २६ । १ । व्यक्तवचनाश्चाव्यवचनाश्च मनुष्यगवादिप्राणिन । **विश्वरूपाः** । नानाकारा । **तेषाम्** । **सप्तानाम्** । अ० १ । १ । १ । षप समवाये–क्त । समवेताना परस्परसबद्धाना सयुक्तानाम् । **मयि** । गृहस्वामिनि । **रन्तिः** । रमेः क्तिन्, अनुनासिकलोपाभाव । रति । रमणम् । प्रीतिः । **अस्तु** । भवतु ॥

भाषार्थः—(रात्रि) हे सुख देने वाली वा दु ख हरने वाली, वा रात्री रूप [प्रकृति] (पुष्टे) धन की समृद्धि (च) और (पोषे) अन्नादि की वृद्धि मे (च) निश्चय करके (मा) मुझको (आ=आ भर) भर दे, [जिससे] (देवानाम्) देवताओ की (सुमतौ) सुमति मे (स्याम) हम रहे। (दर्वे) हे दुःख दलने वाली ! [वा चमसारूप !] (पूर्णा) भरी भराई (परापत) ऊपर आ, और (पुन) बार २ (सुपूर्णा) भले प्रकार भरी भराई (आ पत) पास आ ! (सर्वान्) सब (यज्ञान्) पूजनीय गुणो का (सम्भुञ्जती) ठीक ठीक पालन करती हुई तू (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल (न) हमे (आ भर) लाकर भर दे ।। ७ ।।

भावार्थः—मनुष्य सृष्टि के पदार्थो के गुण साक्षात् करके जितना २ आगे बढता है उतना २ ही वह धनी और बली होकर देवताओ का प्रिय होता और आनन्द भोगता है ।। ७ ।।

'पूर्णा दर्वे पुनरा पत' इतना भाग यर्जुर्वेद अ० ३ । ४९ मे है, वहा 'दर्वे' के स्थान पर 'दर्वि' पद है ।।

७—आ । आ भर—इति मन्त्रस्थान्तपदेन सम्बन्ध । **मा** । माम् । **पुष्टे** । पुष पुष्टौ भावे क्त । धनसमृद्धौ । **च** । समुच्चये । अवधारणे । **पोषे** । अन्नादिवृद्धौ । **रात्रि** । म० २ । हे सुखदात्रि । दु खहर्त्रि, रात्रिरूपे, एकाष्टके प्रकृते । **देवानाम्** । विदुषाम् । **सुमतौ** । कल्याण्या बुद्धौ । **स्याम** । भवेम । **पूर्णा** । पॄ पूरी वा पूर्त्तौ—क्त । **वा दान्तशान्तपूर्णदस्त०** (पा० ७ । २ । २७) इति इडभावो निपात्यते । पूरिता । **दर्वे** । **वृदृभ्यां विन्** (उ० ४ । ५३) इति दृङ् आदरे, यद्वा, दॄ विदारणे—विन् । आद्रियते विदारयतीति वा । हे दुःखदलनशीले । हे चमसरूपे वा । **परा** । प्राधान्ये । त्यागे । विक्रमे । गतौ । भङ्गे । **पत** । पतॢ गतौ, आगच्छ । **सुपूर्णा** । परिपूर्णा । **पुनः** । वारम्वारम् । **सर्वान्** । सकलान् । **यज्ञान्** । अ० १ । ९ । ४ । यष्टव्यान् पूज्यान् देवान् दिव्यगुणान् । **सम्भुञ्जती** । भुज पालनाभ्यवहारयो -शतृ , ङीप् । सम्यक् पालयन्ती । **इषम्** । इषु इच्छायाम्, गतौ वा—क्विप् । अन्नम्—निघ० २ । ७ । **ऊर्जम्** । अ० २ । २९ । ३ । ऊर्ज बलप्राणनयो —क्विप् । बलम् । पराक्रमम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **आ भर** । आनीय धर ।।

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥८॥

आ । अयम् । अगन् । सम्ऽवत्सरः । पतिः । एकऽअष्टके । तव ।
सा । नः । आयुष्मतीम् । प्रऽजाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज ॥ ८ ॥

भाषार्थः---(एकाष्टके) अकेली व्यापक रहने वाली, वा अकेली भोजन स्थान शक्ति ! [प्रकृति] (अयम्) यह (सवत्सर) यथावत् निवास देने वाला, (तव) तेरा (पति) पति वा रक्षक [परमेश्वर] (आ अगन्) प्राप्त हुआ है। (सा) लक्ष्मी तू (न) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) बडी आयु वाली (प्रजाम्) प्रजा को (राय) धन की (पोषेण) बढती के साथ (स सृज) सयुक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थः—विद्वान् साक्षात् कर लेते है कि परमेश्वर ही प्रकृति, जगत् सामग्री, का स्वामी अर्थात् उसके अशो का सयोजक और वियोजक है, और प्रकृति के यथावत् प्रयोग से मनुष्य अपनी सन्तान सहित चिरजीवी और धनी होते हैं ॥ ८ ॥

ऋतून् यंज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥

ऋतून् । यजे । ऋतुऽपतीन् । आर्तवान् । उत । हायनान् ।
समाः । सम्ऽवत्सरान् । मासान् । भूतस्य । पतये । यजे ॥ ९ ॥

८---**अयम्** । परिदृश्यमान । **आ, अगन्** । गमेर्लुङ् । आगमत् । आगत । **संवत्सरः** । म० २ । सम्यक् निवासक । **पतिः** । रक्षकः । **एकाष्टके** । म० ५ । हे एकमात्रव्यापिके । एकमात्रभोजनस्थाने । **तव** । त्वदीयः । **सा नः**'''। इति गत म० ३ ॥

भाषार्थः—(ऋतून्) ऋतुओ, (ऋतुपतीन्) ऋतुओ के स्वामियो [सूर्य वायु आदिको], (आर्तवान्) ऋतुओ मे उत्पन्न होने वाले (हायनान्) पाने योग्य चावल आदि पदार्थो से (सवत्सरान्) यथा विधि निवास देने वाले, (मासान्) कर्मों के नापने वाले महीनो (उत) और (समा.) सब अनुकूल क्रियाओ को (भूतस्य) सत्ता मे आये हुये जगत् के (पतये) पति के (यजे यजे) मै बार बार अर्पण करता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञानी पुरुष ग्रीष्म, वर्षा, शीतादि ऋतुओ, और उनके कारण सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि, एव ससार के अन्य पदार्थो तथा क्रियाओ का आदि कारण जगत् पिता परमेश्वर को मानते और उसका धन्य-वाद करते हैं ॥ ६ ॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥

ऋतुऽभ्यः । त्वा । । आर्तवेभ्यः । मात्ऽभ्यः । सम्ऽवत्सरेभ्यः ।

९—**ऋतून्** । **अर्त्तेश्च तुः** (उ० १ । ७२) इति ऋ गतौ—तु, स च कित् वसन्तादिकालान् । **यजे** । यज देवपूजादानसङ्गतिकरणेषु । अह समर्पयामि । **ऋतुपतीन्** । ऋतूनाम् अधिष्ठातॄन्, सूर्यचन्द्रवायुपृथिव्यादीन् देवान् । **आर्तवान्** । **ऋतोरण्** (पा० ५ । १ । १०५) इति ऋतु-अण् तदस्य प्राप्तमित्यर्थे । ऋतूद्भवान् । ऋतुजातान् । **उत** । अपि च । **हायनान्** । **हश्च व्रीहिकालयोः** (पा० ३ । १ । १४८) इति ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च-ण्युट् । **आतो युक् चिण्कृतोः** (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक् । दातव्यान् प्राप्तव्यान् व्रीह्यादीन् भोज्यपदार्थान् । **समाः** । अ० २ । ६ । १ । अनुकूला क्रिया. । **संवत्सरान्** । म० २ । सम्यग् वासयितॄन् द्वादशमासात्मकान् कालान् । **मासान्** । मसी परिमाणे—घञ् । शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकान् कालान् । **भूतस्य** । भू सत्तायाम्—क्त॰ । सत्ता प्राप्तस्य चराचरात्मकस्य जगत॰ । **पतये**[1] । तादर्थ्ये चतुर्थी । पालकस्य । स्वामिने ॥

१ यहाँ षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (पा० १ । ४ । ६) से पति शब्द की घिसज्ञा तथा घेर्ङिति (पा० ७ । ३ । १११) से गुण अयादेश करके पतये बनेगा ॥ सम्पा० ॥

धात्रे । वि॒ऽधा॒त्रे । स॒म्ऽऋधे॑ । भू॒तस्य॑ । पत॑ये । य॒जे ॥ १० ॥

भाषार्थः—[हे एकाष्टके प्रकृति !] (त्वा) तुझ को (ऋतुभ्य) ऋतुओ के लिये, (आर्त्तवेभ्य) ऋतुओ मे उत्पन्न पदार्थों के लिये, (माद्भ्य) महीनो के लिये और (सवत्सरेभ्य) यथावत् निवास देने वाले वर्षो के [सुधार के] लिये, (धात्रे) धारण करने वाले, (विधात्रे) रचने वाले, (समृधे) यथा नियम बढाने वाले (भूतस्य) जगत् के (पतये) पति के लिये (यजे) मै समर्पण करताहूँ ।। १० ।।

भावार्थः—परमेश्वर नियम से जगत् की उत्पन्न करने वाली प्रकृति की चेष्टाओ को सब ऋतुओ मे देखते हुये विद्वान् लोग अपने समय को उपकार मे लगाते है ।। १० ।।

इड॑या जुह्व॑तो व॒यं दे॒वान् घृ॒तव॑ता यजे ।
गृ॒हानलु॑भ्यतो व॒यं सं वि॑शे॒मोप॒ गोम॑तः ॥ ११ ॥

इड॑या । जुह्व॑तः । व॒यम् । दे॒वान् । घृ॒तऽव॑ता । य॒जे ।
गृ॒हान् । अलु॑भ्यतः । व॒यम् । सम् । वि॒शे॒म॒ । उप । गोऽम॑तः ॥११॥

भाषार्थः—(इडया) स्तुति योग्य प्रकृति [की विद्या] से (घृतवता= घृतवता कर्मणा) सार युक्त [कर्म] के द्वारा (जुह्वत) होम [आत्म दान] करने वाले (देवान्) देवताओ को (वयम्) हम (यजे=यजामहे) पूजते है

१०—**ऋतुभ्यः** । म० ९ । वसन्तादीना प्रीत्यर्थम् । **त्वा** । त्वाम् । एकाष्टकाम् । प्रकृतिम् । **आर्तवेभ्यः** । म० ९ । ऋतूद्भवेभ्य । **माद्भ्यः** । **पद्दन्नोमास्०** (पा० ६ । १ । ६३) इति मासशब्दस्य मास् इत्यादेश । सस्य त [1] । मासेभ्य । **संवत्सरेभ्यः** । म० २ । वर्षेभ्य । **धात्रे** । धारयित्रे । **विधात्रे** । सर्वस्य निर्मात्रे । **समृधे** । सम्+ऋधु वृद्धौ-क्विप् । समर्धयित्रे । अन्यद् गतम्—९ ।।

११—**इडया** । म० ६ । स्तुत्यया प्रातव्यया वा प्रकृत्या । **जुह्वतः** । हुदानादनयो ,आदाने च शतृ । शसि रूपम् । होमम् आत्मसमर्पण कुर्वत । **वयम्** । पुरुषा ।

---

१ स्ववः स्वतवसोमसोषसश्च त इष्यते (म० भा० दा० ७ । ४ । ४८) से यहाँ सकार को तकारादेश हुआ है ।। सम्पा० ।।

[जिससे] (अलुभ्यत) तृष्णा रहित [सर्वथा भरे पूरे] और (गोमत.) बहुत सी उत्तम २ गौओ वाले (गृहान्) घरो मे (उप=उपेत्य) आकर (वयम्) हम (सविशेम) सुख से रहे ॥ ११ ॥

भावार्थः—ससार के ज्ञान से उत्तम कामो मे आत्मदान करने वाले महात्माओ के हम आदर पूर्वक अनुगामी बने और सब कामनाओ तथा घृत दुग्धादि पोषक पदार्थो को प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

एकऽअष्टका । तपसा । तप्यमाना । जजान । गर्भम् । महिमानम् । इन्द्रम् । तेन । देवाः । वि । असहन्त । शत्रून् । हन्ता । दस्यूनाम् । अभवत् । शचीऽपतिः ॥ १२ ॥

भाषार्थः—(एकाष्टका) अकेली व्यापक रहने वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ने (तपसा) बडे ऐश्वर्य वाले ब्रह्म द्वारा (तप्यमाना)

देवान् । विजिगीषून् व्यवहारकुशलान् वा पुरुषान् । **घृतवता** । दीप्तिमता सारयुक्तेन वा, कर्मणा-इति शेष । **यजे । तिङां तिङो भवन्ति** (वा० पा० ७ । १ । ३९) इत्येकवचन बहुवचने । यजामहे । पूजयामः । **गृहान्** । गृह ग्रहणे, क । गेहानि । **अलुभ्यतः** । लुभ गार्ध्ये=आकाङ्क्षायाम् विमोहने च-शतृ, दिवादित्वात् श्यन् । शसि रूपम् । तृष्णारहितान् सर्वमनोरथयुक्तान् । **संविशेम** । सुखेन निवसेम । **उप** । उपेत्य । आगत्य । **गोमतः** । भूम्नि प्रशसाया च मतुप् । बहुभि प्रशस्ताभिर्गोभिर्युक्तान् ॥

१२—**एकाष्टका** । म० ८ । **तपसा** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४ । १८९) इति तप दाहैश्वर्ययो,—असुन् । तप्यते धनी, ईश्वरो भवतीत्यर्थः । ऐश्वर्यवता ब्रह्मणा । **तप्यमाना** । तप ऐश्वर्ये-शानच् । दिवादिः, आत्मनेपदी । ईशाना

ऐश्वर्य वाली होकर (गर्भम्) स्तुति योग्य, (महिमानम्) पूजनीय (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य वाले जीव को (जजान) प्रकट किया। (तेन) उस [इन्द्र, जीव] के द्वारा (देवाः) प्रकाशमान इन्द्रियो ने (शत्रून्) शत्रुओ [दोषो] को (वि) विविध प्रकार से (असहन्त) हराया है, और (शचीपति) वाणियो वा कर्मो वा बुद्धियो का पति [इन्द्र, जीव] (दस्यूनाम्) दस्युओ को (हन्ता) मारने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर नियम से प्रकृति के सयोग वियोग से शरीर पाकर इन्द्रियो द्वारा परीक्षा करके दोषो का त्याग और गुणो का ग्रहण करके आनन्द भोगते और भुगाते है ॥ १२ ॥

'तपस्' शब्द ब्रह्म वा परमेश्वर वाची है, जैसे—"ओ तप । ओ सत्यम्" प्राणायाम मन्त्र मे है। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६० मन्त्र १ मे भी ऐसा वर्णन है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥

(ऋतम्) यथार्थ वेदशास्त्र (च) और (सत्यम्) सत्ता वाला जगत् (च) भी (अभीद्धात्) सर्वथा प्रकाशमान (तपस अधि) तप अर्थात् ऐश्वर्य वाले ब्रह्म से ही (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

समर्था सती। **जजान** । जनयामास । प्राकाशयत्। **गर्भम्** । **अर्तिगृभ्यां भन्** (उ० ३ । १५२) इति गॄ शब्दे-भन्। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति-निरु० १०। २३। गर्भं गर्भभूत यद्वा गर्भं गरणीय स्तुत्य वन्दनीयम्—इति सायण । **महिमानम्** । **हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच्** (उ० ४ । १४८) इति मह पूजायाम्—इमनिच्। पूजनीयम्। **इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्त जीवम्। **तेन**। इन्द्रेण सह। **देवाः**। द्योतनात्मकाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि —इति महीधरो यजु० ४० । ४ । चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा—तत्रैव दयानन्दभाष्ये। **वि**। विविधम्। विशेषेण। **असहन्त** । अभ्यभवन् । **शत्रून्** । शातयितॄन् । घातकान् । **हन्ता**। नाशक । **दस्यूनाम्** । अ० २ । १४ । ५ । उपक्षपयितॄणाम् । चौराणाम्। **अभवत्**। आसीत्। **शचीपतिः**। **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४ । ११८) इति शच व्यक्तायां वाचि—इन्। **कृदिकारादक्तिनः** (वा० पा० ४ । १ । ४५) इति ङीष्। शची=वाक्—निघ० १ । ११। कर्म—२ । १। प्रज्ञा—३ । ९। शचीनां वाचा कर्मणां प्रज्ञानां वा पालक. यथार्थवक्ता यथार्थकर्मा यथार्थप्रज्ञो वा ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इन्द्रऽपुत्रे । सोमऽपुत्रे । दुहिता । असि । प्रजाऽपतेः । कामान् ।
अस्माकम् । पूरय । प्रति । गृह्णाहि । नः । हविः ॥ १३ ॥

भाषार्थः—(इन्द्रपुत्रे) हे सूर्य जैसे पुत्रवाली ! (सोमपुत्रे) हे चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! [प्रकृति] तू (प्रजापते) प्रजारक्षक परमेश्वर के (दुहिता) कार्यों की पूर्ण करने वाली (असि) है, (अस्माकम्) हमारे (कामान्) मनोरथो को (पूरय) पूर्ण कर, (न) हमारी (हवि.) भक्ति को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर ॥ १३ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने प्रकृति से सूर्य चन्द्रादि लोक और बडे प्रतापी तथा उपकारी मनुष्य उत्पन्न किये है, उस प्रकृति की शक्तियो के ज्ञान और प्रयोग से ससार की भलाई चाहने वाले पुरुष अपनी कामनायें पूरी करते है ॥ १३ ॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाक॰ ॥

१३—**इन्द्रपुत्रे** । इन्द्रवत्पुत्रो यस्यास्तादृशि । हे सूर्यवत्पुत्रयुक्ते । **सोमपुत्रे** । हे चन्द्रवत्पुत्रयुक्ते प्रकृते ! **दुहिता** । **नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०** (उ० २ । ९५) इति दुह प्रपूरणे-तृच् । दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा—निरु० ३ । ४ । पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्य॰ पृथिव्या -निरु० ४ । २१ । अत्र पृथिव्येव दुहितृ-शब्देनोक्ता, सा हि द्युलोकात् 'दूरे निहिता' अथवा सा हि द्युलोक "दोग्धी-ति" दुहिता-इति देवराजयज्वाटीकायाम् । दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति सा । कार्याणा प्रपूरयित्री । **असि** । भवसि । **प्रजापतेः** । प्रजाना मनुष्या-दीना रक्षकस्य परमेश्वरस्य । **कामान्** । मनोरथान् । **अस्माकम्** । **पूरय** । समर्धय । **प्रति** । **गृह्णाहि** । प्रतिगृहाण । स्वीकुरु । **नः** । अस्माकम् । **हविः** । आत्मदानम् भक्तिम् ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—८ ॥ राजयक्ष्मघ्नं देवता । १--४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः । ८ षट्पदानुष्टुप् ॥

रोगनाशनायोपदेश —रोग नाश करने के लिए उपदेश ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञातऽयक्ष्मात् । उत । राजऽयक्ष्मात् । ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति के साथ (कम्) सुख से (जीवनाय) जीवन के लिये (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राज रोग से (मुञ्चामि) मै छुडाता हू । (यदि) जो (ग्राहि) जकडने वाली पीडा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय मे (एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड लिया है, (तस्या) उस [पीडा] से

१—**मुञ्चामि** । विश्लेषयामि । **त्वा** । प्राणिनम् । **हविषा** । आत्मदानेन । भक्त्या । उपायेन । **जीवनाय** । प्राणधारणाय । चिरकालयशोधारणाय—इत्यर्थं । **कम्** । अव्ययम् । सुखेन । **अज्ञातयक्ष्मात्** । **अर्त्तिस्तुसुहु०** (उ० १ । १४०) इति यक्ष पूजायाम्-मन् । अलक्षितमहारोगात् । **राजयक्ष्मात्** । **राजदन्तादिषु परम्** (पा० २ । २ । ३१) इति उपसर्जनस्य परनिपात । यक्ष्माणां राजा राजयक्ष्म , तस्मात् । क्षयरोगात् । **ग्राहिः** । अ० २ ।

(इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि ! (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छुडाओ ॥ १ ॥

भावार्थः—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगो से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानो से मिलकर, अपने दोषो को मिटाकर यशस्वी होवे ॥ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० का० २ सू० ६ म० १ से करो ॥

मन्त्र १–४ ऋग्वेद १० । १६१ । १–४ मे कुछ भेद से, और फिर अथर्व० २० । ६६ । ६–९ मे हैं। ऋग्वेद मे इस सूक्त का ऋषि "प्राजापत्यो यक्ष्मनाशन" और देवता "राजयक्ष्मघ्नम्" है ॥

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योरन्ति॒कं नीत ए॒व ।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्षमेनं श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥

यदि॑ । क्षि॒तऽआ॑युः । यदि॑ । वा॒ । परा॑ऽइतः । यदि॑ । मृ॒त्योः । अ॒न्ति॒कम् । निऽइ॑तः । ए॒व । तम् । आ । ह॒रा॒मि॒ । निःऽऋ॑तेः । उ॒पऽस्था॑त् । अस्पा॑र्षम् । ए॒नम् । श॒तऽशा॑रदाय ॥ २ ॥

भाषार्थः—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायु) टूटी आयु वाला, (यदि

---

१ । १ । ग्रहणशीला पीडा । **जग्राह** । गृहीतवती । **यदि** । चेत् । **तस्याः** । ग्राह्याः, सकाशात् । **इन्द्राग्नी** । सूर्याग्नी । दिव्यपार्थिवपदार्थाः, यद्वा । तद्वत् तेजस्वी विद्वान् पुरुष । **प्र मुमुक्तम्** । मुचेर्विकरणस्य श्लु । प्रमोचयतम् । **एनम्** । शरीरस्थ प्राणिनम् ॥

२—**यदि** । चेत् । **क्षितायुः** । क्षीणजीवन । **यदि वा** । अथवा ।

वा) अथवा (परेत) अग भङ्ग है, (यदि) चाहे (मृत्यो) मृत्यु के (अन्तिकम्) समीप (एव) ही (नीत =नि–इत) आ चुका है। (तम्) उसको (निर्ऋते) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूँ, (एनम्) इसको (शतशारदाय+जीवनाय) सौ शरद् ऋतुओ वाले [जीवन] के लिये (अस्पार्षम्) मैंने प्रबल किया है ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे चतुर वैद्य यत्न करके भारी २ रोगियो को चङ्गा करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कठिन सकट पडने पर अपने आत्मा को प्रबल रक्खे ॥ २ ॥

अथर्व० १ । ३५ । १ । मे 'दीर्घायुत्वाय शतशारदाय' पाठ है, यहाँ 'जीवनाय' पद मन्त्र १ से लाया गया है ॥

अन्य दो सहिताओ, सायणभाष्य और ऋग्वेद मे 'अस्पार्षम्' पाठ है, परन्तु बम्बई गवर्नमेंट सहिता मे शोधा हुआ और अथर्व० का० २० सू० ९६ म० ७ मे 'अस्पार्शम्' पाठ है। हमने 'अस्पार्षम्' लिया है।

सहस्राक्षेणं शतवीर्येण शतायुंषा हुविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्यं पारम् ॥ ३ ॥

सहस्रऽअक्षेणं । शतऽवीर्येण । शतऽआंयुषा । हुविषां । आ । अहार्षम् ।

परेतः । परा भङ्गे+इण् गतौ-क्त । भङ्ग प्राप्त । **मृत्योः** । मरणस्य । **अन्तिकम्** । अन्त—मत्वर्थीयो ठन्, तस्य इक । निकटम् । **नीतः** । नि+इत. । नीचैर्गत. । **एव** । अवश्यम् । **तम्** । रोगिणम् । **आ हरामि** । आ नयामि । **निर्ऋतेः** । अ० २ । १० । १ । निर्ऋति =कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ । महारोगस्य । अलक्ष्म्या । **उपस्थात्** । उपस्थानात् । अङ्कात् । **अस्पार्षम्** । स्पृ प्रीतिबलनयो , छान्दसो लुङ । प्रबल कृतवानस्मि । **एनम्** । समीपस्थम् । आत्मानम् । **शतशारदाय** । अ० १ । ३५ । १ । शतशरदृतुयुक्ताय, जीवनाय, इति शेषः—म० १ ॥

एनम् । इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य । दुःऽइतस्य । पारम् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्र वाले, (शतवीर्येण) सैकडों सामर्थ्य वाले, (शतायुषा) सैकडों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) मैंने उभारा है। (यथा) जिससे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [देही] को (विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति = अतीत्य) निकाल कर (शरद) [सौ] शरद् ऋतुओं तक (नयाति) पहुँचावे ॥ ३ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन शक्ति, कर्मशक्ति और जीविकाशक्ति बढाकर अपने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझा कर यशस्वी होकर चिरजीवी होता है ॥ ३ ॥

३—**सहस्राक्षेण**। सहस्रम् बहुनाम-निघ० ३ । १ । सहो बलम्—निघ० २ । ९ । रो मत्वर्थीय । सहस्र सहस्वत्-निरु० ३ । १० । **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (पा० ५ । ४ । ११३) इति षच् । सहस्र बहूनि अक्षीणि चक्षूंषि दर्शनशक्तयो यस्य तेन तथोक्तेन । **शतवीर्येण**। शतम् । शो तनूकरणे-डतच् । बहुनाम निघ० ३ । १ । शत दशदशत-निरु० ३ । १० । बहुसामर्थ्योपेतेन । **शतायुषा** । बहुजीवनसाधनयुक्तेन । **हविषा** । आत्मदानेन । भक्त्या । **आ अहार्षम्** । हृञ् हरणे-लुङ् । समन्ताद् अनैषम् । उन्नीतवानस्मि । **एनम्** । आत्मानम् । देहिनम् । **इन्द्रः** । प्रतापी जीव । **यथा** । येन प्रकारेण । **शरदः** । **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (पा० २ । ३ । ५) इति द्वितीया । शत शरद संवत्सरान् । **नयाति** । णीञ् प्रापणे लेटि आडागम । नयेत् । प्रापयेत् । **अति** । अतीत्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **दुरितस्य** । अ० २ । ६ । ५ । पापस्य । कष्टस्य । **पारम्** । पार कर्मसमाप्तौ-अच् । तीरम् । अन्तम् ॥

**शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्ष-
मेनम् ॥ ४ ॥**

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊँ इति ।
वसन्तान् । शतम् । ते । इन्द्रः । अग्निः । सविता । बृहस्पतिः । शतऽआयुषा ।
हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(वर्धमान +त्वम्) बढती करता हुआ तू (शतम् शरद) सौ शरद् ऋतुओ तक (शतम् हेमन्तान्) सौ शीत ऋतुओ तक (उ) और (शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओ तक (जीव) जीता रह । (इन्द्रः) ऐश्वर्य वान् (अग्नि) तेजस्वी विद्वान्, (सविता) सबका चलाने वाला, (बृहस्पति +अह जीव) बडो बडो के रक्षक मैंने (शतम्) अनेक प्रकार से (ते) तेरे लिये (शतायुषा) सैकडो जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) उभारा है ॥ ४ ॥

४—**शतम्** । बहुनाम । **जीव** । प्राणान् धारय । **शरदः** । शरदृतून् वर्षा-कालान् इत्यर्थ । **वर्धमानः** । वृद्धि कुर्वाण । **हेमन्तान्** । **हन्तेर्मुट् हि च** (उ० ३।१२६) इति हन हिंसागत्यो –झच्, हन्तेर्हि , मुडागम । हन्ति उष्णत्वम् । शीतका-लान् । उ । समुच्चये । **वसन्तान्** । **तॄभूवहिवसिभासि०** (उ० ३ । १२८) इति वस वासे, निवासे, आच्छादने च–झच् । पुष्पसमयान् । ग्रीष्मकालान् । **शतम्** । यथा तथा । बहुप्रकारेण । **ते** । तुभ्यम् । **इन्द्रः** । ऐश्वर्यवान् । **अग्निः** । अगि गतौ–नि । ज्ञानवान् । **सविता** । सर्वस्य प्रेरक । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । तथा २ । १३ । २ । बृहत् +पति , सुट् तलोप । बृहता विदुषा कर्मणा वा पालक । इन्द्रादीनि चत्वारि (अहम्) इति पदस्य विशेषणानि । अन्यद् व्याख्यातम्-म० ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य उचित रीति से वर्षा शीत और उष्ण ऋतुओ को सह कर बहु प्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्यादि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ।। ४ ।।

प्र विंशतं प्राणापानावनड्वाहांविव व्रजम् ।
व्यंन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितंरान्छतम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौऽइव । व्रजम् । वि ।
अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(प्राणापानौ) हे श्वास और प्रश्वास तुम दोनो, [इस शरीर मे] (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (अनड्वाहौ-इव) रथ ले चलने वाले दो बैल जैसे (व्रजम्) गोशाला मे, (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उलटे चले जावे (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओ] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते है ।। ५ ।।

भावार्थः—मनुष्य प्राणायाम, व्यायामादि से अपने प्राण और अपान को

५—**प्र विशतम्** । अन्त प्राप्नुतम् । **प्राणापानौ** । शरीरधारकौ श्वास-प्रश्वासौ । **अनड्वाहौ** । अन शकट वहतीति अनड्वान् । अनसि वहे क्विप्, अनसो डकार । अनसः शकटस्य रथस्य वोढारौ बलीवर्दौ । **इव** । यथा । **व्रजम्** । **गोचरसंचर०** (पा० ३ । ३ । ११९) इति व्रज गतौ—घञोऽपवादत्वेन घप्रत्ययान्तो निपातित । गोष्ठम् । **वि यन्तु** । विमुखा गच्छन्तु । **अन्ये** । धार्मिकमरणाद् भिन्ना । **मृत्यवः** । मरणकारणानि । **यान्** । मृत्यून् । **आहुः** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । ब्रुवन्ति । कथयन्ति विद्वास । **इतरान्** अ० ३ । १० । ४ । इ+तॄ प्लवनसतरणयो अभिभवे—अप् । सुकामनाशकान् । **शतम्** । बहून् ।।

अनुकूल रखकर शारीरिक अवस्था सुधारे रहे और दुराचारो से बचकर अपना जीवन शुभ कामो मे लगावे ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

इह । एव । स्तम् । प्राणापानौ । मा । अप । गातम् । इतः ।
युवम् । शरीरम् । अस्य । अङ्गानि । जरसे । वहतम् । पुनः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(प्राणापानौ) हे श्वास प्रश्वास ! (युवम्) तुम दोनो (इह एव) इसमे ही (स्तम्) रहो, (इत) इससे (मा अप गातम्) दूर मत जाओ । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर और (अङ्गानि) अगो को (जरसे) स्तुति के लिये (पुन) अवश्य (वहतम्) तुम दोनो ले चलो ॥ ६ ॥

भावार्थः—प्राण और अपान वायु का सचार ठीक न होने से रुधिर जमकर रोग उत्पन्न होता है इससे मनुष्य सब शरीर मे वायु सचार ठीक रखकर दृढ शरीर वाले हो और स्तुति प्राप्त करे ॥ ६ ॥

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितं-रान्छतम् ॥ ७ ॥

जरायै । त्वा । परि । ददामि । जरायै । नि । धुवामि । त्वा । जरा । त्वा ।

६—**इह एव** । अस्मिन्नेव शरीरे । **स्तम्** । भवतम् । **प्राणापानौ** । श्वासप्रश्वासौ । **मा अप गातम्** । इण् गतौ । **इणो गा लुङि** (पा० २।४।४५) इति गादेश । मापगच्छतम् । **इतः** । अस्माच्छरीरात् । **युवम्** । युवाम् । **शरीरम्** । अ० २ । १२ । ८ । कायम् । **अस्य** । पुरुषस्य । **अङ्गानि** । देहावयवान् । **जरसे** । अ० १।३०।२। गॄ शब्दे = स्तुतौ—असुन् । गस्य ज । स्तुत्यर्थम् । **वहतम्** । युवा प्रापयतम् । **पुनः** । अवधारणे ॥

भद्रा । नेष्ट । वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझे (जरायै) स्तुति पाने के लिये (परि) सब प्रकार (ददामि) दान करता हूँ। (जरायै) स्तुति के लिये (त्वा) तेरे (नि धुवामि) निहोरे करता हूँ [अथवा, तुझे झकझोरता हूँ] (जरा) स्तुति (त्वा) तुझे (भद्रा=भद्राणि) अनेक सुख (नेष्ट) पहुँचावे। (अन्ये) दूसरे (मृत्यव) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उल्टे चले जावें, (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहु) बतलाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्य कभी नम्र, कभी कठोर होकर स्तुति के लिये अपनी आत्मा लगावे, और निर्धनता, रोगादि मृत्यु के कारणों को हटाकर सुखी रहे ॥ ७ ॥

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अभि । त्वा । जरिमा । अहित । गाम् । उक्षणम्ऽइव । रज्ज्वा । यः । त्वा । मृत्युः । अभिऽअधत्त । जायमानम् । सुऽपाशया । तम् । ते ।

७—जरायै । षिद्भिदादिभ्योऽङ् (पा० ३ । ३ । १०४) इति जॄ स्तुतौ-[१] अङ्, टाप् । जरा स्तुतिर्जरते स्तुतिकर्मण –निरु० १० । ८ । स्तुतिप्राप्तये । **परि ददामि** । अ० १ । ३० । २ । समर्पयामि । **नि** । आदरे । निश्चये । अधोभागे । **धुवामि** । धूञ् कम्पने, तुदादि सकर्मक । कम्पयामि । प्रेरयामि । **त्वा** । प्राणिनम् । **भद्रा** । भद्राणि । मङ्गलानि । **नेष्ट** । लेट् । नयतु प्रापयतु । अन्यद् गतम्—म० ५ ॥

१ जॄष् वयोहानौ धातु धातुपाठ में है। इस विषय में हमारी पृ० २४३ की टिप्पणी देखें ॥ सम्पा० ॥

सत्यस्य । हस्ताभ्याम् । उत् । अमुञ्चत् । बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (जरिमा) निर्बलता ने (त्वा) तुझको (अभि अहित) बाधा है, (उक्षणम्) बलवान् (गाम् इव) बैल को जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से (यः मृत्यु) जिस मृत्यु ने (जायमानम्) उत्पन्न वा प्रसिद्ध होते हुये (त्वा) तुझको (सुपाशया) दृढ फंदे से (अभि अधत्त) बन्धन मे किया है, (तम्) उस [मृत्यु] को (सत्यस्य) सत्य के (ते) तेरे (हस्ताभ्याम्) दोनो हाथो के हित के लिये (बृहस्पति) बडो बडो के रक्षक [देवगुरु] परमेश्वर वा आचार्य ने [तुझ से] (उत् अमुञ्चत्) छुडा दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्य जन्म से लेकर भूख, पियास, रोग आदि विपत्तियो से ईश्वरदत्त ज्ञान और विद्वानो की रक्षा तथा शिक्षा द्वारा छूट कर दोनो हाथो अर्थात् सब प्रकार से धर्म आचरण के लिये आगे बढता है ॥ ८ ॥

८—**अभि अहित** । अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । अश्वाभिधानी=अश्वबन्धनरज्जु । ततो लुङ् । **स्थाघ्वोरिच्च** (पा० १ । २ । १७) इति इत्त्वकित्त्वे । बद्ध कृतवान् । **त्वा** । त्वा प्राणिनम् । **जरिमा । हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच्** (उ० ४ । १४८) इति जॄष् वयोहानौ—इमनिच् । जरा । निर्बलता । **गाम्** । वृषभम् । **उक्षणम्** । **श्वनुक्षन्पूषन्०** (उ० १ । १५९) इति उक्ष सेचने वृद्धौ च—कनिन् । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मण –निरु० १२ । ९ । **वा षपूर्वस्य निगमे** (पा० ६ । ४ । ९) इति दीर्घाभाव । उक्षाणम् । बलवन्तम् । **इव** । यथा । **रज्ज्वा । सृजेरसुम् च** (उ० १।१५) इति सृज विसर्गे-उ । रूपसिद्धिर्निपात । सृज्यते रच्यते इति । बन्धनसाधनवस्तुना । **यः । त्वा । मृत्युः । अभि-अधत्त** । धाञो लङ् । अबध्नात् । **जायमानम्** । उत्पद्यमानम् । प्रसिद्धि कुर्वन्तम् । **सुपाशया** । **सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया०** (पा० ७ । १ । ३९) इति तृतीयाविभक्तौ या । सुपाशेन । दृढबन्धनेन । **तम्** । मृत्युम् । **ते** । तव । **सत्यस्य** । यथार्थनियमस्य । **हस्ताभ्याम्** । कराभ्याम् तयोर्हितार्थम् । **उत् अमुञ्चत्** । उदमोचयत् । **बृहस्पतिः** । -म० ४ । बृहता पतिः । देवगुरु परमेश्वर । आचार्य ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—९। शाला देवता॥ १, २, ४—६, ८ त्रिष्टुप्। ३ पथ्या पङ्क्तिः। ७, ९ अनुष्टुप ॥

नवशालानिर्माण प्रवेशश्च—नवीन शाला का निर्माण और प्रवेश ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमें तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१॥

इह। एव। ध्रुवाम्। नि। मिनोमि। शालाम्। क्षेमें। तिष्ठाति। घृतम्। उक्षमाणा। ताम्। त्वा। शाले। सर्वऽवीराः। सुऽवीराः। अरिष्टऽवीराः। उप। सम्। चरेम ॥ १ ॥

भाषार्थः (इह एव) यहा पर ही (ध्रुवाम्) ठहराऊ (शालाम्) शाला को (नि मिनोमि) जमाकर बनाता हूँ। वह (घृतम्) घी (उक्षमाणा) सीचती हुई (क्षेमे) लब्ध वस्तु की रक्षा मे (तिष्ठाति) ठहरी रहे। (शाले) हे शाला (ताम् त्वा) उस तुझमे (उप=उपेत्य) आकर (सर्ववीरा) सब

---

१ **इह**। अस्मिन् विचारिते स्थाने। **एव**। अवधारणे। **ध्रुवाम्**। ध्रुव स्थैर्ये गतौ च—क। स्थिराम्। निश्चिताम्। **नि मिनोमि**। डुमिञ् प्रक्षेपणे। नितरा प्रक्षिपामि स्थापयामि। **शालाम्**। **तमिविशिविडि** (उ० १। ११८) इति शो निशाने तनूकरणे—कालन्। अथवा, शाल कथने—अच्[1]। टाप्। गृहम्। **क्षेमे**। लब्धवस्तुनो रक्षणे। कुशले। **तिष्ठाति**। लेटि आडागमः। तिष्ठेत्। **घृतम्**। आज्यम्। दीप्तिम्। **उक्षमाणा**। सिञ्चन्ती। प्रयच्छन्ती। **ताम**। तादृशीम्। **त्वा**। **शाले**। **सर्ववीराः**। अनेकशूरोपेता। **सुवीराः**। शुभगुणवीरैर्युक्ता। **अरिष्टवीराः**। रिष हिंसायाम्—क्त।

---

१ शाल कथने धातु आप्टे आदि कोषो मे पठित है, पर धातुपाठ क्षीरतरङ्गिणी आदि मे कही नही है। धातुवृत्ति मे 'शलगतौ' (द्र० मा० धा० वृ० पृ० २०९, १४१) से शाला शब्द बनाया है, जो कि घञ् करके ही सिद्ध होगा। इस प्रकार शाल धातु के अभाव मे कोषानुसारी व्युत्पत्ति ठीक नही है ॥ सम्पा० ॥

वीर पुरुषो वाले (सुवीरा) अच्छे २ पराक्रमी पुरुषो वाले और (अरिष्टवीरा) नीरोग पुरुषो वाले (मचरेम) हम चलते फिरते रहे ॥ १ ॥

भावार्थः—हम अपने घर दृढ और उचित विभाग वाले बनावे जिससे वायु घाम आदि के यथावत् सेवन से सब गृहस्थ स्त्री पुरुष सदा हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ रहे ॥ १ ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

इह । एव । ध्रुवा । प्रति । तिष्ठ । शाले । अश्वऽवती । गोऽमती । सूनृताऽवती । ऊर्जस्वती । घृतऽवती । पयस्वती । उत् । श्रयस्व । महते । सौभगाय ॥ २ ॥

भाषार्थः—(शाले) हे शाला ! तू (इह एव) यहाँ पर ही (अश्वावती) बहुत घोडो वाली, (गोमती) बहुत गौओ वाली और (सूनृतावती) बहुत प्रिय सत्य वाणियो वाली होकर (ध्रुवा) ठहराऊ (प्रति तिष्ठ) जमी रह । (ऊर्जस्वती) बहुत अन्न वाली, (घृतवती) बहुत घी वाली और (पय-

---

अहिंसितवीरा । स्वस्थशूरयुक्ता । **उप** । उपेत्य । **संचरेम** । व्यवहरेम ॥

२—**ध्रुवा** । दृढा । **प्रति तिष्ठ** । स्थिता भव । वर्तस्व । **शाले** । हे गृह । **अश्वावती** । **मादुपधायाश्च०** (पा० ८ । २ । ९) इति मतुपो वत्वम् । **मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०** (पा० ६ । ३ । १३१) इति मतौ दीर्घं । **भूमिनिन्दाप्रशंसासु०** । इति सर्वत्र भूम्नि मतुप् । बहुभिरश्वैरुपेता । **गोमती** । बहुभिर्गोभिर्युक्ता । **सूनृतावती** । सु+नृती गात्रविक्षेपे—घञर्थे क । यद्वा । सु+नृ+तनु विस्तारे-ड । **अन्येषामपि दृश्यते** (पा० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घं । वा टाप । सुष्ठु नृत्यतेऽनेन, यद्वा, सूनृषु शोभननरेषु तायते विस्तीर्यते । सूनृ-

स्वती) बहुत दूध वाली होकर (महते) बडी (सौभगाय) सुन्दर सौभाग्य के लिये (उत् श्रयस्व) ऊँची हो ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य शाला मे योग्य योग्य स्थान बनाकर उनको आवश्यक पदार्थों से भरपूर रक्खे ॥ २ ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या । आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

धरुणी । असि । शाले । बृहत्ऽछन्दाः । पूतिऽधान्या । आ । त्वा । वत्सः । गमेत् । आ । कुमारः । आ । धेनवः । सायम् । आऽस्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(शाले) हे शाला ! तू (बृहच्छन्दा) विशाल छतवाली, वा बहुत से छन्द वा वेद मन्त्रो वाली, (पूतिधान्या) शुद्ध धान्य वाली (धरुणी) भण्डार (असि) है। (त्वा) तुझमे (वत्स) बछडा (आ) और

ता, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । सूनृतम्, सत्यप्रियवाक्यम् इति कोषे । सत्यप्रियवाग्भिर्बालादीना वाणीभिर्युक्ता । **ऊर्जस्वती** । ऊर्ज बलप्राणनयो —असुन् । प्रभूतान्नवती । **घृतवती** । बहुघृतयुक्ता । **पयस्वती** । बहुदुग्धा । **उच्छ्रयस्व** । उद्गता, उत्कृष्टा भव । **महते** । प्रभूताय । **सौभगाय** । अ० १ । १८ । २ । सुभग-अञ् । सुभगत्वाय । ऐश्वर्यवत्त्वाय ॥

३—धरुणी । **कृवृदारिभ्य उनन्** (उ० ३ । ५३) इति धृञ्-उनन् । ङीप् । भोगजातस्य धारयित्री । **शाले** । **बृहच्छन्दाः** । **चन्देरादेश्च छः** (उ० ४ । २१९) इति बृहत्+चदि आह्लादने दीप्तौ च—असुन् । चस्य छ । यद्वा । छदि संवरणे—असुन् । प्रभूताच्छादना । महद्भिश्छन्दोभिर्वेदमन्त्रैरुपेता । **पूतिधान्या** । **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (पा ३ । ३ । १७४) इति पूञ् पवने-क्तिच् । पूतीनि पवित्राणि धान्यानि यस्या सा तथोक्ता । शुद्धधान्ययुक्ता । **वत्सः** ।

(कुमार) बालक (आ गमेत्) आवे। (सायम्) सायकाल मे (आस्पन्दमाना) कूदती हुई (धेनवः) दुधैल गौये (आ = आगच्छन्तु) आवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—स्पष्ट है। और २ स्थानो के साथ घरो मे वैदिकभवन भी होवे ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्। उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥४॥

इमाम्। शालाम्। सविता। वायुः। इन्द्रः। बृहस्पतिः। नि। मिनोतु। प्रऽजानन्। उक्षन्तु। उद्ना। मरुतः। घृतेन। भगः। नः। राजा। नि। कृषिम्। तनोतु ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इमाम् शालाम्) इस शाला को (सविता) सब का चलाने वाला पुरुष [वा सूर्य,] (वायु) वेगवान् पुरुष [वा पवन] (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष [वा मेघ] और (प्रजानन् ज्ञानवान् (बृहस्पति) बडे बडे कामो का रक्षक पुरुष [प्रत्येक] (नि मिनोतु) जमाकर बनावे। (मरुतः) शूर देवता

वृतृवदिवचिवसि० (उ० ३। ६२) इति वद व्यक्तायां वाचि–सप्रत्यय। वदतीति वत्स। **आगमेत्**। आगच्छेत्। **आ**। समुच्चये। **कुमारः**। **कमेः किदुच्चोपधायाः** (उ० ३। १३८) इति कमु कान्तौ–आरन्। यद्वा। कुमार क्रीडायाम्–अच्। कमनीयः क्रीडको वा बालक। **आ**। आगच्छेयु। **धेनवः**। दोग्ध्र्यो गाव। **सायम्**। सायकाले। **आस्पन्दमानाः**। स्पदि ईषच्चलने शानच्। कूर्दमान। क्रीडा कुर्वाणा ॥

४—इमाम्। रच्यमानाम्। **शालाम्**। गृहम्। **सविता**। सर्वस्य प्रेरक पुरुष सूर्यो वा। **वायुः**। वेगवान् पुरुष पवनो वा। **इन्द्रः**। ऐश्वर्यवान् पुरुषो मेघो वा। **बृहस्पतिः**। अ० १। ८। २। बृहता कर्मणा

[विद्वान् लोग] (उद्ना) जल से और (घृतेन) घी से (उक्षन्तु) सींचे, और (भग) भाग्यवान् (राजा) राजा [प्रधान पुरुष] (न) हमारे लिए (कृषिम्) खेती को (नि) सदैव (तनोतु) बढावे ॥ ४ ॥

भावार्थः—शाला निर्माण मे प्रधान पुरुष और सब कार्यकर्ता कर्म-कुशल हो, घाम, वायु और मेघ, तथा जल, घी आदि सामग्री के लिये यथावत् अवकाश रहे। और निर्वाह के लिए खेती विद्या का विस्तार करे ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे। तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

मानस्य । पत्नि । शरणा । स्योना । देवी । देवेभिः । निऽमिता । असि । अग्रे । तृणम् । वसाना । सुऽमनाः । असः । त्वम् । अथ । अस्मभ्यम् । सहऽवीरम् । रयिम् । दाः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(मानस्य) हे मान अर्थात् प्रतिष्ठा की (पत्नि) रक्षा करने वाली, (शरणा) शरण देने वाली, (स्योना) सुखदायिनी, (देवी) उजियाले वाली

रक्षक पुरुष । **नि मिनोतु** । डुमिञ् प्रक्षेपणे । स्थापयतु । दृढा करोतु । **प्रजानन्** । शालानिर्माणप्रकार प्रकर्षेण जानन् । **उक्षन्तु** । सिञ्चन्तु । **उद्ना** । **पद्दन्नोमास्** (पा० ६ । १ । ६३) इति उदकशब्दस्य उदन् आदेश । भसज्ञायाम् अकारलोप । उदकेन । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । शत्रूणा मारणशीला शूरा । **घृतेन** । घृ सेचने दीप्तौ क्त । आज्येन । **भगः** । अ० १ । २६ । २ । भजनीय । भाग्यवान् । **नः** । अस्मभ्यम् । **राजा** । प्रतापी प्रधान । **कृषिम्** । **इगुपधात् कित्** (उ० ४ । १२०) इति कृष विलेखने-इन् । स च कित् । भूमिकर्षणविद्याम् । **नि** । नितराम् । **तनोतु** । विस्तारयतु ॥

५—**मानस्य** । मान पूजायाम्-घञ् । चित्तसमुन्नते । सत्कारस्य । **पत्नि** ।

तू (देवेभि =०–वै.) देवताओ [विश्वकर्मा पुरुषो] करके (निमिता) मायी हुई (अग्रे) हमारे सम्मुख (असि) वर्त्तमान है। (तृणम्) घास को (वसाना) पहिने हुये (त्वम्) तू (सुमना) प्रसन्न मन वाली (अस) हो, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमे (सहवीरम्) वीर पुरुषो के सहित (रयिम्) धन (दा) दे ॥ ५ ॥

भावार्थः—सब मनुष्य गृहनिर्माण विद्या मे कुशल पुरुषो से सम्मति लेकर बाहिर और भीतर मे मनोरम घर बनावे, जिससे ससार मे सम्मान हो, और सब गृहस्थ स्वस्थ वीर और उद्योगी होकर धनवान् होवे ॥ ५ ॥

'अथास्मभ्य सहवीर रयि दा' यह पाद अ० २। ६। ५। मे आया है ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्। मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शत जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

ऋतेन। स्थूणाम्। अधि। रोह। वश। उग्रः। विऽराजन्। अप। वृङ्क्ष्व। शत्रून्। मा। ते। रिषन्। उपऽसत्तारः। गृहाणाम्। शाले। शतम्। जीवेम। शरदः। सर्वऽवीराः ॥६॥

भाषार्थः—(वश) हे बास तू (ऋतेन) अपने सत्य से (स्थूणाम्)

अ० ३। १०। २। हे पालयित्रि। **शरणा। अर्शआदिभ्योऽच्** (पा० ५। २। १२७) इति शरण–अच् मत्वर्थे। टाप् शरणवती। आश्रयवती। **स्योना**। स्योन सुख व्याख्यातम्। अ० २। १०। ७। पूर्ववत् अच् टाप् च। सुखवती। **देवी**। द्योतमाना। **देवेभिः**। देवै। विश्वकर्मभि। निर्माणविद्याकुशलै। **निमिता**। डुमिञ् प्रक्षेपणे–क्त। दृढीकृता। **असि**। वर्तसे। **अग्रे**। अस्माकमभिमुखम्। **तृणम्**। अ० २। ३०। १। तृह हिसायाम्-क्न, हलोप। गवादिभक्ष्यम्। **वसाना**। वस आच्छादने-शानच्। आच्छादयन्ती। **सुमनाः**। शोभनमनस्का। **असः**। अस्तेर्लेटि अडागम। भव। **अथ.. दाः**। इति गतम्, अ० २। ६। ५। **दाः**। दद्या ॥

थूनी [टेक वा खूटी] पर (अधि रोह) चढ जा, और (उग्र) दृढ वा प्रचड होकर (विराजन्) विशेष रूप से प्रकाशित होता हुआ तू (शत्रून्) शत्रुओ को (अप वृङक्ष्व) दूर हटा दे। (शाले) हे शाला ! (ते) तेरे (गृहाणाम) घरो के (उपसत्तार) रहने वाले पुरुष (मा रिषन्) दुखी न होवे। (सर्ववीरा) सब वीरो को रखने हुये हम लोग (शतम्) सौ (शरद) शरद् ऋतुओ तक (जीवेम) जीते रहे ॥ ६ ॥

भावार्थः मनुष्य अपने घर ऊचे, दृढ और प्रकाशयुक्त बनावे जिससे चोर डाकू सिंहादि हिंसक और रोग न सता सके तथा सब लोग स्वस्थ होकर वीर रहे ॥ ६ ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

आ । इमाम् । कुमारः । तरुणः । आ । वत्सः । जगता । सह । आ । इमाम् । परिऽस्रुतः । कुम्भः । आ । दध्नः । कलशैः । अगुः ॥ ७ ॥

---

६ **ऋतेन** । सत्यधर्मेण । दृढभावेन । **स्थूणाम्** । रास्नासास्नास्थूणावीणाः (उ० ३ । १५) इति ष्ठा—नप्रत्यय आकारस्य ऊकार । गृहस्तम्भम । **अधि रोह** । अधितिष्ठ । **वश** । वन सेवनशब्दयो—शप्रत्यय । यद्वा । वश कान्तौ अच् घञ वा, नुम् च । हे वेणु स्तम्भ । **उग्रः** । प्रचण्ड । सुदृढ । **विराजन्** । विशेषेण दीप्यमान सन । **अप वृङ्क्ष्व** । वृजी वर्जने, रुधादि । अपवर्जय । **शत्रून्** । हिंसकान् सिंहादीन् रोगान् वा । **ते** । तव । **मा रिषन्** । रिष हिंसायाम् । हिंसिता मा भूवन् । **उपसत्तारः** । षद्लृ गतिविषादयो—तृच । उपसदनशीला । निवासिन । **गृहाणाम्** । सदनानाम् । **शाले** । हे भवन । **शतम्** । **शरदः** । **जीवेम** । प्राणान् धरेम । **सर्ववीराः** । सर्ववीरपुरुषसमेता ॥

भाषार्थः—(इमाम्) इस [शाला] मे (कुमार) बालक, (आ) और (तरुण) युवा, (आ) और (जगता सह) चलने वाले गौ आदि के साथ (वत्स) बछडा (आ) और (इमाम्) इस [शाला] मे (परिस्रुत) पिघलते हुए रस का (कुम्भ) घडा (दध्न) दही के (कलशै) कलसो के साथ (आ अगु) आये है ॥ ७ ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग सब प्रकार की आवश्यक सामग्री अपने घरो मे रक्खे ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।
इमां पातृनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

पूर्णम् । नारि । प्र । भर । कुम्भम् । एतम् । घृतस्य । धाराम् । अमृतेन । सम्ऽभृताम् । इमाम् । पातृन् । अमृतेन । सम् । अङ्ग्धि । इष्टापूर्तम् । अभि । रक्षाति । एनाम् ॥ ८ ॥

७—**आ** । समुच्चये । **इमाम्** । परिदृश्यमाना शालाम् । **कुमारः** । म० ३ बालक । **तरुणः** । **त्रो रश्च लो वा** (उ० ३ । ५४) इति तॄ प्लवनसतरणयो अभिभवे च-उनन् । युवा । **वत्सः** । म० ३ । गोशिशु । **जगता** । अ० १।३१।४। गमनशीलेन । गवादिना सह । **परिस्रुतः** । स्रु गतौ—क्विप्, तुक आगमः । परिस्रवणशीलस्य रसस्य । **कुम्भः** । कु भूमि उम्भति पूरयति जलेन । कु + उम्भ पूरणे-अच् । शकन्ध्वादिरूपम् । घटः । **दध्नः** । **भाषायां धाञ्कृञ्सृजनिगमिनमिभ्यः किकिनौ** (वा०पा० ३।२।१७१) इति डुधाञ् धारणपोषणयो -कि, लिड्वच्च । दुग्धविकृतभेदस्य । **कलशैः** । कल शब्द शवति प्राप्नोति । कल + शु गतौ—डः । यद्वा । कला + शीङ् शयने-ड । कलश कस्मात् कला अस्मिञ्छेरते मात्रा । कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्रा -निरु० ११।१२। कलशै घटै । **आ अगुः** । इण् गतौ—लुङ । आगमन् । आगता ॥

भाषार्थः—(नारि) हे नर का हित करने वाली गृहपत्नी ! (एतम्) इस (पूर्णम्) पूरे (कुम्भम्) घड़े में से (अमृतेन) अमृत [हितकारी पदार्थ] से (सम्भृताम्) भरी हुयी (घृतस्य) घी की (धाराम्) धारा को (प्र, भर=हर) अच्छे प्रकार ला। (इमाम्) इन [शाला] को और (पातॄन्) पानकर्ताओं वा रक्षकों को (अमृतेन) अमृत से (सम्) अच्छे प्रकार (अङ्ग्धि) पूर्ण कर। (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और वेदों का अध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (एनाम्) इस [शाला] को (अभि) सब ओर से (रक्षाति) रक्षा करे ॥८॥

भावार्थः—गृहपत्नी घर को घृत, दुग्ध आदि अमृत पदार्थों से परिपूर्ण रखकर सब कुटुम्बियों को स्वस्थ और पुष्ट रक्खे। और सब स्त्री पुरुष धार्मिक, पुरुषार्थी तथा धनी होकर चोर उचक्के सिंहादि दुष्टों से रक्षा करते हुए बस्ती को बसाये रक्खें ॥ ८ ॥

मनु भगवान् ने कहा है—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ मनु० ५ । १५० ॥

स्त्री सदा प्रसन्नचित्त और घर के कामों में चतुर हो और (सुसंस्कृतोपस्करया) घर की सामग्री बासन भांडे भली भांति ठीक रखती हुई, व्यय करने में हाथ सकोड़े रहे ॥

८—**पूर्णम्**। पूरितम्। **नारि**। अ० १। ११। १। हे नरस्य धर्म्ये हितकारिणि ! **प्रभर**। हस्य भः। आहर। द्विकर्मकत्वात् 'कुम्भम् धाराम्' इत्येतयोः कर्मता। **कुम्भम्**। म० ७। अपादाने द्वितीया। घटात्—इत्यर्थः। **एतम्**। **घृतस्य**। आज्यस्य। **धाराम्**। धृञ् णिच्-अङ्, टाप्। सन्तत्या पतनम्। **अमृतेन**। मरणाद्रक्षकेण स्वास्थ्यवर्धकेन पदार्थसमूहेन। **सम्भृताम्**। सम्पादिताम्। **इमाम्**। **पातॄन्**। पा पाने, पा रक्षणे वा—तृच्। पानकर्तॄन्। रक्षकान्। **सम्**। सम्यक्। **अङ्ग्धि**। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—लोट्। म्रक्ष, संयोजय। **इष्टापूर्तम्**। अ० २। १२। ४। यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादि पुण्यकर्म **अभि**। सर्वतः। **रक्षाति**। लेट्। रक्षेत् ॥

इमा आपः प्र भरा॒म्य॑य॒क्ष्मा य॑क्ष्म॒नाश॑नीः ।
गृ॒हानुप॒ प्र सी॑दा॒म्य॒मृते॑न स॒हाग्निना॑ ॥ ९ ॥

इ॒माः । आप॑ः । [आ । अप॑ः] प्र । भ॒रा॒मि॒ । अ॒य॒क्ष्माः । य॒क्ष्म॒ऽनाश॑नीः ।
गृ॒हान् । उप॑ । प्र । सी॒दा॒मि॒ । अ॒मृते॑न । स॒ह । अ॒ग्निना॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थः—(इमा·) इस (अयक्ष्मा) रोगरहित (यक्ष्मनाशनी) रोगनाशक (अप) जल को (प्र) अच्छे प्रकार (आ भरामि) मै लाता हू । (अमृतेन) मृत्यु से बचाने वाले अन्न, घृत,दुग्धादि सामग्री और (अग्निना सह) अग्नि के सहित (गृहान्) घरो मे (उप = उपेत्य) आकर (प्र) अच्छे प्रकार (सीदामि) मै बैठता हू ।। ९ ।।

भावार्थः—गृहपति रोगो से बचने और स्वास्थ्य बढाने के लिये अपने घर मे शुद्ध जल, अग्नि आदि पदार्थों का सदा उचित प्रयोग करे ॥ ९ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१–७॥ आपो देवताः । १–४, ५ अनुष्टुप्, ५, ६ त्रिष्टुप् ।

अपा गुणा उपदिश्यन्ते—जल के गुणो का उपदेश ॥

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते । तस्मा॒दा
न॒द्यो॑३ नाम॑ स्थ॒ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः ॥ १ ॥

यत् । अ॒दः । स॒म्ऽप्र॒य॒तीः । अहौ॑ । अन॑दत । ह॒ते । तस्मा॑त् ।

९----**इमाः** । दृश्यमाना । **आ** । समन्तात् । **अपः** । जलानि । **प्र** । **भरामि** । हरामि । **अयक्ष्माः** । यक्ष्मरहिता । **यक्ष्मनाशनीः** । यक्ष्मनाशिका । स्वास्थ्यवर्धयित्री । **गृहान्** । भवनानि । **उप** । उपेत्य । **सीदामि** । उपविशामि । **अमृतेन** । नास्ति मृत येन तेन । पौष्टिकेन । अन्नघृतदुग्धादिपदार्थसमूहेन **अग्निना** । पावकेन । **सह** । सहित· ॥

आ । नद्यः । नाम । स्थ । ता । वः । नामानि । सिन्धवः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(सिन्धव) हे बहने वाली नदियो ! (सप्रयती =सप्रयत्य + यूयम्) मिलकर आगे बढती हुई तुमने (अहौ हते) मेघ के ताडे जाने पर (अद) वह (यत्) जो (अनदना) नाद किया है । (तस्मात्) इसलिये (आ) ही (नद्य) नाद करने वाली, नदी (नाम) नाम (स्थ) तुम हो, (ता= तानि) वह [वैसे ही] (व) तुम्हारे (नामानि) नाम है ॥ १ ॥

भावार्थः—जब मेघ आपस मे टकराकर गरजकर बरसते है, तब वह जल पृथिवी पर एकत्र होकर नाद करता हुआ बहता है, इससे उसका नदी नाम है । इसी प्रकार वैदिक शब्दो की व्युत्पत्ति समझकर अर्थ करना चाहिये ॥ १ ॥

अजमेर पुस्तक मे 'सप्रयति' है हमने अन्य पुस्तको से 'सप्रयतीः' पाठ लिया है ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

यत् । प्रऽइषिताः । वरुणेन । आत् । शीभम् । सम्ऽअवल्गत । तत् । आप्नोत् । इन्द्रः । वः । यतीः । तस्मात् । आपः । अनु । स्थन ॥ २ ॥

१—यत् । यत् किञ्चित् । **अदः** । तत् । **संप्रयतीः** । इण् गतौ—शतृ, ङीप् । **वा छन्दसि** (पा० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । सभूय, प्रयान्त्य । **अहौ** । अ० २ । ५ । ५ । मेघे । **अनदता** । णद अव्यक्ते शब्दे—लङ् । साहितिको दीर्घ । यूय ध्वनि कृतवत्य **हते** । ताडिते । **तस्मात्** । तस्मात् कारणात् । **आ** । अवधारणे । **नद्यः** । नदट् पचाद्यच्[1] । **टिड्ढाणञ्०** (पा० ४ । १ । १५) इति ङीप् । नद्य कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्य –निरु० २ । २४ । नदनशीला । सरित । **नाम** । अ० १ । २४ । ३ । नामधेयम् । **स्थ** । भवथ । **ता** । तानि । **वः** । युष्माकम् । **सिन्धवः** । अ० १ । १५ । १ । स्यन्दनशीला । नद्य ॥

---

१ पचादि गण (काशि० ३ । १ ।१३४) मे नदट् पढा है, अर्थात् णद धातु को टित् पढा है, जिससे टित् मानकर ङीप् हो सके ॥ सम्पा० ॥

भाषार्थः—(यत्) जब (आत्) फिर (वरुणेन) सूर्य करके (प्रेषिता) भेजे हुये तुम (शीभम्) शीघ्र (समवल्गत) मिलकर चलो, (तत्) तब (इन्द्र) जीव ने [वा सूर्य ने] (यती) चलते हुये। (व) तुमको (आप्नोत्) प्राप्त किया (तस्मात्) उससे (अनु) पीछे (आप) प्राप्ति योग्य जल [नाम] (स्थन) तुम हो ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र मे 'आप्नोत्' और 'आप' शब्द एक ही धातु आप्लृ व्याप्तौ से सिद्ध है। जब सूर्य की शक्ति से जल भूमि पर आकर फैलता है, तब जीव उसे पाता है, [और सूर्य भी फिर ले लेता है] इससे जल का नाम 'आप' पाने योग्य वस्तु है[1]। 'आप' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥

अपऽकामम् । स्यन्दमानाः । अवीवरत । वः । हि । कम् । इन्द्रः । वः । शक्तिऽभिः । देवीः । तस्मात् । वाः । नाम । वः । हितम् ॥ ३ ॥

२—**यत्** । यदा । **प्रेषिताः** । इष गतौ-क्त । प्रेरिता । **वरुणेन** । वरणीयेन सूर्येण । **आत्** । अनन्तरम् । **शीभम्** । शीभृ कत्थने—घञ् । क्षिप्रम्-निघ० २ । १५ । **समवल्गत** । वल्गु गतौ-लङ्, भौवादिक । यूय सम्भूय गतवत्य । **तत्** । तदा । **आप्नोत्** । आप्लृ व्याप्तौ—लङ् । प्राप्तवान् । **इन्द्रः** । जीव । सूर्य । **वः** । युष्मान् । **यतीः** । इण् गतौ—शतृ । गमन कुर्वती । **तस्मात्** । **आपः** । **आप्नोतेर्ह्रस्वश्च** (उ० २ । ५८) इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् । **अप्तृन्तृच्०** (पा० ६ । ४ । ११) इति सर्वनामस्थाने दीर्घ । आप आप्नोते —निरु० ९ । २६ । प्राप्तव्यानि जलानि । **अनु** । पश्चात् । **स्थन**[2] । यूय स्थ ॥

१ 'अद्भिर्वाऽइद सर्वमाप्तम्' (श० ब्रा० १ । १ । १० । ४) इति आप ऐसा शतपथ ब्राह्मण मे भी कहा है ॥ सम्पा० ॥

२ तप्तनप्तनथनाश्च (पा० ७ । १ । ४५) से यहाँ लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन को थन आदेश हुआ है । सम्पा० ॥

भाषार्थः—(व) वेगवान् वा वरणीय (इन्द्र) जीव [वा सूर्य्य] ने (हि) ही (अपकामम्) व्यर्थ (स्यन्दमाना) बहते हुये (व) तुमको (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों द्वारा (कम्) सुख से (अवीवरत) वरण [स्वीकार] अथवा, वारण [रोकना] किया, (तस्मात्) इससे (देवीः=देव्य) हे दिव्य गुण वाली वा खेलवाली जल धाराओ ! (व) तुम्हारा (नाम) नाम (वार्) वरण योग्य वा वारण योग्य जल (हितम्) रक्खा गया है ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य भूमि पर अन्नादि के लिये और सूर्य्य आकाश में वृष्टि के लिये जल को चाहता है वा रोकता है, इसलिये जल का नाम 'वार्' है। 'अवीवरत' क्रिया और 'वार्' शब्द दोनों 'वृञ्' चाहना वा रोकना धातु से बनते है ॥ ३ ॥

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

एकः । वः । देवः । अपि । अतिष्ठत् । स्यन्दमानाः । यथाऽवशम् ।
उत् । आनिषुः । महीः । इति । तस्मात् । उदकम् । उच्यते ॥४॥

भाषार्थः—(एक) अकेला (देव) जयशील परमात्मा (यथावशम्)

३—**अपकामम्** । विनैव कामेन, व्यर्थम् । **स्यन्दमानाः** । स्यन्दनं कुर्वाणा । **अवीवरत** । वृञ् वरणे, वारणे वा, स्वार्थिको णिच् । वृतवान् । वारितवान् । **वः** । युष्मान् । **हि** । निश्चयेन । **कम्** । सुखेन । **इन्द्रः** । जीव । सूर्य्य । **वः** । वा गतौ, वृञ् वरणे वा डः । वायु, वरुण । वेगवान् । वरणीय । **शक्तिभिः** । स्वसामर्थ्यैः । **देवीः** । दिवु दीप्तौ, क्रीडायां च-अच्, ङीप् । हे देव्य । दिव्यगुणाः । देवनशीला । **वार्** । वृञ् वरणे, वृ वारणे वा-णिच् क्विप् । व्रियते वार्यते वा यत्तद् । जलम् । **वः** । युष्माकम् । **हितम्** । डुधाञ् धारणे-क्त । धृतम् ॥

४—**एकः** । अद्वितीयः । **वः** । युष्मान् । **देवः** । दिवु विजिगीषायाम्-

इच्छानुसार (स्यन्दमाना) बहते हुये (व) तुम्हारा (अपि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता हुआ। (मही =महत्य) शक्ति वाले [आप जल] ने (इति) इस प्रकार (उत्+आनिषु) ऊपर को श्वास ली, (तस्मात्) इस लिये (उदकम्) ऊपर को श्वास लेने वाला उदक वा जल (उच्यते) कहा जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—ईश्वर की सामर्थ्य से सूर्य्य द्वारा जल आकाश मे चढता है इस लिये 'उदक' जल का नाम है। 'उत् आनिषु' और 'उदकम्' उत्+अन, श्वास लेना—धातु से बनते है ॥ ४ ॥

आपो॑ भ॒द्रा घृ॒तमिदाप॑ आसन्न॒ग्नीषोमौ॒ बिभ्र॒त्याप॒ इत् ताः । ती॒व्रो रसो॑ मधु॒पृचा॑मरंग॒म आ मा॑ प्रा॒णेन॑ स॒ह वर्च॑सा गमेत् ॥ ५ ॥

आपः॑ । भ॒द्राः । घृ॒तम् । इत् । आपः॑ । आ॒स॒न् । अ॒ग्नीषोमौ॑ । बि॒भ्र॒ति॒ । आपः॑ । इत् । ताः । ती॒व्रः । रसः॑ । म॒धु॒ऽपृचा॑म् । अ॒र॒म्ऽग॒मः । आ । मा॒ । प्रा॒णेन॑ । स॒ह । वर्च॑सा । ग॒मे॒त् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(आप) जल (भद्रा) मगलमय, और (आप) जल

अच् । जेता । **अपि अतिष्ठत्** । अपि=अधि । अधिष्ठितवान् । शासितवान् । **स्यन्दमानाः** । स्यन्दनशीला । **यथावशम्** । यथेच्छम् । **उत् आनिषुः** । अन प्राणने-लुङ् । उच्छ्वासितवत्य । **महीः** । महत्य । **इति** । एवम् । **तस्मात्** । **उदकम्** । **कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः** । (उ० ३ । ४०) इति उत्+अन प्राणने-क । नलोपः। यद्वा । **उदकं च** (उ० २ । ३९) इति उन्दी क्लेदने—क्वुन् । उदक कस्मादुनत्तीति सत -निरु० २ । २४ । उच्छ्वासकम् । उन्दनशीलम् । जलम् । **उच्यते** । कथ्यते ॥

५—आपः । प्रापणीय जलम् । **भद्राः** । भन्दि कल्याणे सुखे च—रक् ।

(इत्) ही (घृतम्) घृत (आसन्) था। (ता) वह (इत्) ही (आप) जल (अग्नीषोमौ) अग्नि और चन्द्रमा को (बिभ्रति) पुष्ट करता है। (मधुपृचाम्) मधुरता से भरी [जल धाराओं] का (अरगम) परिपूर्ण मिलने वाला, (तीव्र) तीव्र [तीक्ष्ण, शीघ्र प्रवेश होने वाला] (रस) रस (मा) मुझ को (प्राणेन) प्राण और (वर्चसा सह) कान्ति वा बल के साथ (आ गमेत्) आगे ले चले ॥ ५ ॥

भावार्थः—जल से घृत सारमय पदार्थ उत्पन्न होते है, जल अग्नि अर्थात् जठराग्नि, विजुली, बडवानल आदि और चन्द्र लोक से मिलकर हमे पुष्टि देता है और कृषि आदि मे प्रयुक्त होकर अन्नादि उत्पन्न करके प्राणियो का बल और तेज बढाता है ॥ ५ ॥

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम्। मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

आत्। इत्। पश्यामि। उत। वा। शृणोमि। आ। मा। घोषः। गच्छति। वाक्। मा। आसाम्। मन्ये। भेजानः। अमृतस्य। तर्हि। हिरण्यऽवर्णाः। अतृपम्। यदा। वः ॥ ६ ॥

मङ्गलप्रदा। **घृतम्**। घृतवत् सारवस्तु। **इत्**। एव। **आसन्**। अभवन्। **अग्नीषोमौ**। **ईदग्नेः सोमवरुणयोः** (पा० ६। ३। २७) इति ईत्वम्। **अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः** (पा० ८। ३। ८२) इति षत्वम्। अग्निं च सोम=चन्द्र च। **बिभ्रति**। धारयन्ति। **तीव्रः**। **ऋज्रेन्द्राग्र०** (उ० २। २८) इति बाहुलकात्। तिज निशाने—रन्, जस्य वो दीर्घत्वं च। तीक्ष्णम्। **रसः**। सार। **मधुपृचाम्**। पृची सपर्के—क्विप्। मधुना रसेन सपृक्तानाम्। **अरंगमः**। अलगम। पर्याप्तगमन.। अक्षीणाः। **प्राणेन**। जीवनेन। **मा**। माम्। **वर्चसा**। तेजसा। बलेन। **आ गमेत्**। आगमयेत्, प्रापयेत् ॥

भाषार्थः—(आत्) तब (इत्) ही (पश्यामि) मै देखता हूँ, (उत) और (वा) अथवा (शृणोमि) मै सुनता हूँ, (आसाम्) इसकी [जल के रस की] (घोष) ध्वनि (मा) मुझे (आ गच्छति) आती है और (वाक्) वाक् शक्ति (मा) मुझे [आती है]। (हिरण्यवर्णा) हे कमनीय पदार्थ वा सुवर्ण का विचार करने वाले [जल] ! (तर्हि) तभी (अमृतस्य) अमृत का (भेजान) भोग करता हुआ मैं (मन्ये) अपने को मानू (यदा) जब (व) तुम्हारी (अतृपम्) तृप्ति मैने पायी हो ॥ ६ ॥

भावार्थः—जल के यथावत् प्रयोग से प्राणी मे दर्शन शक्ति और श्रवण शक्ति, और घोष' ध्वन्यात्मक शब्द और 'वाक्' वर्णात्मक शब्द बोलने की शक्ति होती है, और तभी वह इष्ट सुवर्णादि धन की प्राप्ति से भूख आदि से मृत्यु दु ख का त्याग करके अमृत अर्थात् आनन्द भोगता है ॥ ६ ॥

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

इदम् । वः । आपः । हृदयम् । अयम् । वत्सः । ऋतऽवरीः । इह ।
इत्थम् । आ । इत । शक्वरीः । यत्र । इदम् । वेशयामि । वः ॥ ७ ॥

६—**आत् इत्** । अनन्तरमेव । **पश्यामि** । ईक्षे । **उत वा** । अपि वा । **शृणोमि** । आकर्णयामि । **मा** । माम् । **घोषः** । घुषिर् अविशब्दने-घञ् । ध्वन्यात्मकशब्द । ध्वनि । **आ गच्छति** । प्राप्नोति । **वाक्** । वर्णात्मकशब्द । वाणी । **आसाम्** । अपाम् । जलस्य । **मन्ये** । जाने । तर्कयामि । **भेजानः** । भज सेवाया लिट कानच् । **तॄफलभजत्रपश्च** (पा० ६ । ४ । १२२) इति लिटि अकारस्य एत्वम् अभ्यासलोपश्च । भजमानाः सेवमाना । **अमृतस्य** । मरणनाशकस्य । सुखस्य । **तर्हि** । तदा । **हिरण्यवर्णाः** । अ० १ । ३३ । १ । वर्ण क्रियाविस्तारगुणवचनेषु-घञ् । हिरण्यस्य कमनीयपदार्थस्य सुवर्णस्य वा वर्ण विस्तारो याभिस्तास्तथाभूता । तत्सम्बुद्धौ । **अतृपम्** । तृप तृप्तौ-लङ् । तृप्ति प्राप्तवानस्मि । **यदा** । **वः** । युष्माकम् ॥

भाषार्थः—(आप) हे प्राप्ति के योग्य जल धाराओ ! (इदम्) यह (व) तुम्हारा (हृदयम्) स्वीकार योग्य हृदय वा कर्म है। (ऋतावरी.) हे सत्यशील [जल धाराओ !] (अयम्) यह (वत्स) निवास देने वाला, आश्रय है। (शक्वरी) हे शक्ति वालियो ! (इत्थम्) इस प्रकार से (इह) यहा पर (आ इत) आओ, (यत्र) जहा (व) तुम्हारे (इदम्) जल को (वेशयामि) प्रवेश करू ॥ ७ ॥

भावार्थः—कृषि, यन्त्र, औषधादि मे जल के यथायोग्य प्रयोग से प्राणियो को सुख मिलता है ॥ ७ ॥

सूक्तम् १४ ॥

१--६ ॥ गावो देवताः। १-५ अनुष्टुप्, ६ त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेश —गोरक्षा का उपदेश ॥

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सु॒भूत्या॑।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ व॒ः सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

७—**इदम्** । उपरोक्तम् । **वः** । युष्माकम् । **आपः** । हे प्राप्तव्या जलधारा। **हृदयम्** । **वृह्रोः षुग्दुकौ च** (उ० ४ । १००) इति हृञ् हरणे-कयन् दुक् च, हरण प्रापण स्वीकार स्तेय नाशन च। हरणीय प्राप्तव्या हृदय कर्म वा। **वत्सः** । **वृतॄवदिवचिवसि०** (उ० ३ । ६२) इति वस निवासे—सः। निवासक । आश्रय.। **ऋतावरीः** । **छन्दसीवनिपौ च** (वा० पा० ५ । २ । १०९) इति मत्वर्थीयो वनिप्। **वनो र च** (पा० ४ । १ । ७) इति ङीब्रेफौ। **अन्येषामपि दृश्यते** (पा० ६ । ३ । १३७) इति साहितको दीर्घ । **वा छन्दसि** (पा० ३ । ४ । ८८) इति जस पूर्वसवर्णदीर्घ । हे ऋतवर्य.। सत्योपेता । **इत्थम्** । अनेन प्रकारेण। **आ इत** । आगच्छत। **शक्वरीः** । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३ । २ । ७५) इति शकॢ शक्तौ—वनिप्। पूर्ववद् ङीब्रेफपूर्वसवर्ण-दीर्घा । शक्वर्य· शक्ताः। समर्था । **यत्र** । **इदम्** । **इन्देः कमिन्नलोपश्च** (उ० ४ । १५७) इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन्। उदकम्-निघ० १ । १२। **वेशयामि** । प्रवेशयामि। अन्त स्थापयामि ॥

सम् । वः । गोऽस्थेन । सुऽसदा । सम् । रय्या । सम् । सुऽभूत्या ।
अहःऽजातस्य । यत् । नाम । तेन । वः । सम् । सृजामसि ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे गौओ !] (व) तुम को (सुषदा) सुख से बैठने योग्य (गोष्ठेन) गोशाला से (सम्) मिलाकर (रय्या) धन से (सम्) मिलाकर और (सुभूत्या) बहुत सम्पत्ति से (सम्) मिलाकर और (अहर्जातस्य) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है (तेन) उस [नाम] से (व) तुमको (सम्, सृजामसि=०—म) हम मिलाकर रखते है ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य गौओ को स्वच्छ निरोग गोशाला मे रखकर पाले, और उनको अपने धन और सपत्ति का कारण जानकर अन्य प्राणियो के समान उनके नाम बहुला, कामधेनु नन्दिनी आदि रक्खे ॥ १ ॥

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥ २ ॥

सम् । वः । सृजतु । अर्यमा । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।
सम् । इन्द्रः । यः । धनम्ऽजयः । मयि । पुष्यत । यत् । वसु ॥२॥

१—**सम्** । सृजामसि इति व्यवहितक्रियापदेन सर्वत्र सबन्ध । **वः** । युष्मान् । **गोष्ठेन** । गोशालया । **सुषदा** । षद्लृ गतौ—क्विप् । सुखेन सीदन्ति यत्रेति सुषत् । सुखसदनयोग्येन । **रय्या** । धनेन । **सुभूत्या** । भू सत्ताया प्राप्तौ च—क्तिन् । बहुसम्पत्त्या । **अहर्जातस्य** । **नञि जहातेः** (उ० १ । १५८) इति नञ्+ओहाक् त्यागे, कनिन्, आतो लोप । न जहाति न त्यजति सर्वथा परिवर्त्तनम् इत्यह , दिनम् । जनी प्रादुर्भावे—क्त । अहन्यहनि जातस्य उत्पन्नस्य प्राणिन । **संसृजामसि** । ससृजाम , सयोजयाम । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थः—(व) तुमको (अर्यमा) अरि अर्थात् हिंसको का नियामक [गोपाल] (सम्) मिलाकर (पूषा) पोषण करने वाला [गृहपति] (सम्) मिलाकर और (बृहस्पति) बडे बडो का रक्षक [विद्वान् वैद्यादि पुरुष] (सम्) मिलाकर और (इन्द्र) बडे ऐश्वर्य वाला राजा, (य धनजय) जो धनो का जीतने वाला है (सम् सृजतु) मिलाकर रक्खे । (मयि) मुझमे (यत्) पूजनीय (वसु) धन को (पुष्यत) तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थः—सब प्रजागण और प्रजापालक राजा राज नियम से गौओ की वृद्धि करे जिससे कृषि, व्यापारादि द्वारा ससार मे धन बढे ॥ २ ॥

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

समऽजग्मानाः । अबिभ्युषीः । अस्मिन् । गोऽस्थे । करीषिणीः ।
बिभ्रतीः । सोम्यम् । मधु । अनमीवाः । उपऽएतन ॥ ३ ॥

२—वः । युष्मान् । **सं सृजतु** । सयोज्य पालयतु । **अर्यमा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३ । २ । ७५) इति ऋ हिंसायाम्-विच् । **पुगन्तलघूपधस्य च** (पा० ७ । ३ । ८६) इति गुण । ऋणोति हिनस्तीति अर् अरि । **श्वनुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मज्जन्मूर्धन्नर्यमन्०** (उ० १ । १५९) इति अर् + यम नियमे-कनिन् । अर्यमादित्योऽरीन्नियच्छतीति—निरु० ११ । २३ । अराम् अरीणा हिसकाना नियामक । गोपाल । **पूषा** । अ० १ । ९ । १ । पुष पुष्टौ-कनिन् । पोषक । गृहपति । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । बृहता वेदादिशास्त्राणा पालक । वैद्यादिविद्वान् पुरुष । **इन्द्रः** । परमैश्वर्यवान् राजा । **धनंजयः । संज्ञायां भृतृवृजिधा०** (पा० ३ । २ । ४६) इति धन+जि जये खच् । **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (पा० ६ । ३ । ६७) इति मुम् । धनाना जेता । **पुष्यत** । पोषयत । वर्धयत । **यत्** । **त्यजितनियजिभ्यो डित्** (उ० १ । १३२) इति यज पूजायाम्-अदि , स च डित् । यजनीय पूजनीयम् । **वसु** । धनम् ॥

भाषार्थः—(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला मे (सजग्माना) मिलकर चलती हुई, (अबिभ्युषी =०ष्य) निर्भय रहती हुई, (करीषिणी =०—ण्य) गोबर करने वाली, (सोम्यम्) अमृतमय (मधु) रस (बिभ्रती =०—त्य) धारण करती हुई, (अनमीवा) नीरोग तुम (उपेतन=उप, आ, इत) चली आओ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य गौओ को हिंसक जीवो से बचाकर नीरोग रक्खे जिससे वे रोगनाशक, अमृतमय दूध, घृत आदि पदार्थ देती रहे। गौ के मूत्र, गोबर, दूध आदि के गुण और प्रयोग बहुत है ॥ ३ ॥

शब्दकल्पद्रुम कोष मे गौ के गुण वर्णन करते हुए कहा है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं सर्पिर्दधि च रोचना ।
षडङ्गमेतन्मङ्गल्यं पवित्रं सर्वदा गवाम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, घी, दही और गोरोचना, गौओ के यह छह प्रकार के सर्वदा मङ्गलकारी शुद्ध पदार्थ है ॥

मनु भगवान् का वचन है—

गोमूत्रं गोमय क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपन स्मृतम् ॥ मनु० ११ । २१२ ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का पानी, एक दिन [खावे] फिर एक दिन रात उपवास करे। यह कृच्छ्र सान्तपन कहाता है ॥

३—**संजग्मानाः । समो गम्यृच्छिभ्याम्** (पा० १ । ३ । २९) इति स-पूर्वाद् गमेरात्मनेपदत्वात् लिट कानच् । सगच्छमाना । **अबिभ्युषीः** । ञिभी भये—लिट क्वसु ङीप् । **वसोः संप्रसारणम्** (पा० ६ । ४ । १३१) इति संप्रसारणम् । जस पूर्वसवर्णदीर्घ । अबिभ्यत्य । **करीषिणीः । कृतॄभ्यामीषन्** (उ० ४ । २६) इति कॄ विक्षेपे, विज्ञाने—ईषन् । **अत इनिठनौ** (पा० ५ । २ । ११५) इति इनि । करीषिण्य करीषेण गोमयेन युक्ता । **बिभ्रतीः** । भृञ् भरणे—शतृ । बिभ्रत्य । धारयन्त्य । **सोम्यम् । मये च** (पा० ४ । ४ । १३८)इति

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

इह । एव । गावः । आ । इतन । इहो इति । शकाऽइव । पुष्यत । इह । एव । उत । प्र । जायध्वम् । मयि । सम्ऽज्ञानम् । अस्तु । वः ॥ ४ ।

भाषार्थः—(गाव) हे गौओ ! (इह एव) यहा ही (एतन) आओ (इहो=इह–उ) यहा ही (शका इव) समर्था [गृहपत्नी] के समान (पुष्यत) पोषण करो । (उत) और (इह एव) यहा पर ही (प्रजायध्वम्) बच्चो से बढो । (मयि) मुझ मे (व) तुम्हारा (सज्ञानम्) प्रेम (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जैसे समर्थ गृहपत्नी घर वालो का पोषण करके प्रसन्न रखती है, ऐसे ही गौये अपने दूध, घी आदि से अपने रक्षको को पुष्ट और स्वस्थ करती है । इससे सब मनुष्य प्रीति पूर्वक उनका पालन करे और उन का वश बढावे ॥ ४ ॥

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

सोम–यप्रत्यय । अमृतमयम् । **मधु** । मधुर दुग्धघृतादि । **अनमीवाः** । अ० २ । ३० । ३ । रोगरहिता । **उपेतन** । इण् गतौ-लोट् । तस्य तनादेश । उपागच्छत ॥

४–आ इतन । एत । आगच्छत । **इहो** । इह—उ । अत्रैव । **शका** । शक्लृ शक्तौ—पचाद्यच्, टाप् । शक्नोतीति शका[१] । समर्था राजपत्नी गृहपत्नी वा । **पुष्यत** । पोषयत । **उत** । अपि च । **प्रजायध्वम्** । प्रजया प्रवर्धध्वम् । **मयि** । गोरक्षके । **संज्ञानम्** । सम्यग् ज्ञानम् । प्रीतिभावः । **वः** । युष्माकम् ॥

---

१ 'शका' यहाँ प्रत्यय मे स्थित ककार न होने से प्रत्ययस्थात्कात्० (पा० ७ । ३ । ४४) से इत्व नही होता ॥ सम्पा० ॥

शिवः । वः । गोऽस्थः । भवतु । शारिशाकाऽइव । पुष्यत । इह ।
एव । उत । प्र । जायध्वम् । मया । वः । सम् । सृजामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थः---(व) तुम्हारी (गोष्ठ) गोशाला (शिव) मङ्गलदायक (भवतु) होवे । (शारिशाका इव) शालि [साठी चावल] की शाखा [उपज] के समान (पुष्यत) पोषण करो । (उत) और (इह एव) यहा ही (प्रजायध्वम्) बच्चो से बढो । (मया=अस्माभि) अपने साथ (व) तुमको (स सृजामसि=०—म) हम मिलाकर रखते है ॥ ५ ॥

भावार्थः---जैसे 'शारि, शालि' साठी चावल की शाखा 'शाका' थोडे प्रयत्न से साठ दिन मे ही पक जाती है, वैसे ही मनुष्य यत्न पूर्वक थोडे परिश्रम से पालन करके गौओ से दूध, घी, और खेती के लिये बैल आदि पाकर बहुत लाभ उठाते है ॥ ५ ॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

मया । गावः । गोऽपतिना । सचध्वम् । अयम् । वः । गोऽस्थः । इह । पोषयिष्णुः । रायः । पोषेण । बहुलाः । भवन्तीः । जीवाः । जीवन्तीः । उप । वः । सदेम ॥ ६ ॥

५—**शिवः** । सुखकर । **वः** । युष्माकम् । **गोष्ठः** । गोशाला । **शारिशाका** । **जनिघसिभ्यामिण्** (उ० ४ । १३०) इति शल गतौ—इण् । लस्य रत्वम् । शल्यते प्राप्यतेऽसौ शालि । षष्टिकादिधान्यम् । शक्लृ शक्तौ—घञ्, टाप् । शक्नोति कर्षको यया सा शाका, साखा, इति भाषा । अन्नोत्पत्ति । **पुष्यत** । पोषयत । **मया** । एकवचन बहुवचने । अस्माभि । अन्यद् व्याख्यात म० ४, ॥

भाषार्थः—(गाव) हे गौओ ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति से (सचध्वम्) मिली रहो। (इह) यहाँ (अयम्) यह (पोषयिष्णु) पोषण करने वाली (वः) तुम्हारी (गोष्ठ) गोशाला है। (राय) धन (पोषेण) पुष्टि से (बहुल) बहुत पदार्थ देने वाली अथवा वृद्धि करने वाली (भवन्ती) होती हुई और (जीवन्ती) जीती हुई (व) तुमको (जीवा) जीते हुये हम लोग (उप) आदर से (सदेम) प्राप्त करते रहे ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य गौओ की सेवा से दुग्ध, घृत, कृषि आदि की उन्नति करके बहुत काल तक जीते और सुख भोगते रहे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता। १--६, त्रिष्टुप्, ७ अनुष्टुप्, ८ पूर्वार्धो-नुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप् ॥

व्यापारलाभायोपदेश—व्यापार के लाभ का उपदेश ॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥१॥

इन्द्रम् । अहम् । वणिजम् । चोदयामि । सः । नः । आ । एतु । पुरःऽएता ।

६—**गावः** । हे धेनव । **गोपतिना** । गोरक्षकेण । **सचध्वम्** । षच समवाये । समवेता भवत । सगच्छध्वम् । **पोषयिष्णुः** । **णेश्छन्दसि** (पा० ३।२।१३७) इति पोषयते—इष्णुच् । पोषक । **बहुलाः** । बहु+ला आदाने क, टाप् । यद्वा । **हृषेरुलच्** (उ० १। ९६) इति बाहुलकात् बहि वृद्धौ—उलच् । नलोप । यद्वा, वह प्रापणे—उलच् । टाप । बहुपदार्थदात्रीः । वृद्धिशीला । **भवन्तीः** । भू सत्तायाम्-शतृ, ङीप् । वर्त्तमाना । **जीवाः** । चिरजीविनो वयम् । **जीवन्तीः** । बहुकालजीवनोपेता । **उप** । आदरेण । **वः** । युष्मान् । **सदेम** । सदेराशीर्लिङि । गच्छेम प्राप्नुयाम । अन्यद् गतम् ॥

नः । अस्तु । नुदन् । अरातिम् । परिऽपन्थिनम् । मृगम् । सः । ईशानः । धनऽदाः । अस्तु । मह्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अहम्) मै (इन्द्रम्) बडे ऐश्वर्य वाले (वणिजम्) वणिक् को (चोदयामि) आगे बढाता हूँ, (स) वह (न) हम मे (एतु) आवे, और (न) हमारा (पुरएता) अगुआ (अस्तु) होवे। (अरातिम्) बैरी, (परिपन्थिनम्) डाकू और (मृगम्) बनैले पशु को (नुदन्) रगेदता हुआ (स) वह (ईशान) समर्थ पुरुष (मह्यम्) मुझे (धनदा) धन देने वाला (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य व्यापारकुशल पुरुष को अपना मुखिया बनाकर वाणिज्य और मार्ग की ऊँच नीच समझकर वाणिज्य मे धन लगाने से लाभ उठाते है ॥१॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

१—**इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्त पुरुषम् । **वणिजम्** । **पणेरिज्यादेश्च वः** (उ० २।७०) इति पण व्यवहारे—इजि , पस्य व । व्यापारिणम् । **चोदयामि** । प्रेरयामि । प्रवर्त्तयामि । **नः** । अस्मान् । **ऐतु** । आगच्छतु । **पुरएता** । पुरस्+इण् गतौ—तृच् । पुरोगन्ता । अग्रगामी । **नः** । अस्माकम् । **नुदन्** । णुद प्रेरणे-शतृ । प्रेरयन् । अपगमयन् । **अरातिम्** अ० १ । १८ । १ । शत्रुम् । **परिपन्थिनम्** । अ० १ । २७ । १ । पर्यवस्थातार मार्गनिरोधक चौरम् । **मृगम्** । मृग अन्वेषणे—क । मृगयते अन्वेषयति तृणादिकम् पशुम् । वन्यपशुम् । **ईशानः** । ईश ऐश्वर्ये—शानच् । ईश्वर । नियन्ता । **धनदाः** । **आतो मनिन्क्वनि०** (पा० ३ । २ । ७४) इति धन+दा—विच् । वाणिज्यलाभरूपधनप्रदाता । **मह्यम्** । वणिजे ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देवऽयानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । समऽचरन्ति । ते । मा । जुषन्ताम् । पयसा । घृतेन । यथा । क्रीत्वा । धनम् । आऽहराणि ॥ २ ॥

भाषार्थः—(ये) जो (देवयाना) विद्वान् व्यापारियो के यानो रथादिको के योग्य (बहव) बहुत से (पन्थान) मार्ग (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (सचरन्ति) चलते रहते है, (ते) वे [मार्ग] (पयसा) दूध से और (घृतेन) घी से (मा) मुझको (जुषन्ताम्) तृप्त करे, (यथा) जिससे (क्रीत्वा) मोल लेकर [व्यापार करके] (धनम्) धन (आहराणि) मै लाऊँ ॥ २ ॥

भावार्थः—व्यापारी लोग विमान, रथ, नौकादि द्वारा आकाश भूमि समुद्र, पर्वत, आदि से देश देशान्तरो मे जाकर अनेक प्रकार व्यापार करके मूलधन बढावे और धनाढ्य होकर घर आवे ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥३॥

२—पन्थानः । मार्गा । **बहवः** । बहुदेशसबन्धिन । **देवयानाः** । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यहारादिषु–अच् । या गतौ–ल्युट् । देवाना विदुषा व्यवहारिणा यानानि गमनसाधनानि विमानरथादीनि चरन्ति येषु ते तथाभूता । **अन्तरा** । **अन्तरान्तरेण युक्ते** (पा० २ । ३ । ४) इति द्वितीया । मध्ये । **द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमी । तयोर्मध्य इत्यर्थ । **सचरन्ति** । वर्त्तन्ते । **ते** । पन्थान । **मा** । मा वणिजम् । **जुषन्ताम्** । जुषी प्रीतिसेवनयो । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु । **पयसा** । दुग्धेन । **घृतेन** । आज्येन । **यथा** । येन प्रकारेण । **क्रीत्वा** । डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । विनिमयेन गृहीत्वा । **धनम्** । लाभसहित मूलधनम् । **आहराणि** । स्वगृह प्रापयाणि ॥

इ॒ध्मेन॑ । अ॒ग्ने॒ । इ॒च्छमा॑नः । घृ॒तेन॑ । जु॒होमि॑ । ह॒व्यम् । तर॑से । बला॑य । याव॑त् । ईशे॑ । ब्रह्म॑णा । वन्द॑मानः । इ॒माम् । धिय॑म् । श॒त॒ऽसेया॑य । दे॒वीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (इच्छमान) [लाभ की] इच्छा करता हुआ मै (इध्मेन) इन्धन और (घृतेन) घृत से (तरसे) तराने वाले वा जिताने वाले (बलाय) बल के लिए (हव्यम्) हवन सामग्री का (जुहोमि) होम करता हू, (यावत्) जहाँ तक (ब्रह्मणा) ब्रह्मा द्वारा [दी हुई] (इमाम्) इस (देवीम्) व्यवहार कुशल (धियम्) निश्चल बुद्धि की (वन्दमान) वन्दना करता हुआ मै (शतसेयाय) सैकडो उद्यम के लिए (ईशे) समर्थ हूँ ॥३॥

भावार्थः—जैसे समिधा और घृतादि से अग्नि का तेज बढ कर अन्धकार हटाता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोत्तम वेदविद्या को प्रीति पूर्वक ग्रहण करके

३—**इध्मेन** । **इषियुधीन्धि०** (उ० १ । १४५) इति ञिइन्धी दीप्तौ-मक् । इन्धनेन । **अग्ने** । हे अग्निवत् तेजस्विन् । विद्वन् । **इच्छमानः** । इषु इच्छायाम्—शानच् । वाणिज्यलाभ कामयमान । **जुहोमि** । हु दानादनयो —लट् । ददामि । **हव्यम्** । हु दानादनयोः—यत् देवयोग्यान्नम् । हवनीयद्रव्यम् । **तरसे** । तॄ तरणे, प्लवने, अभिभवे च-असुन् । तारकाय । जयसाधनाय । वेगाय । **बलाय** । पराक्रमाय । **यावत्** । **यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्** (पा० ५।२।३९) इति यत्-शब्दात् वतुप् । **आ सर्वनाम्नः** (पा० ६।३।९१) इति आत्वम् । यत्परिमाणम् । **ईशे** । ईश्वर शक्तो भवामि । **ब्रह्मणा** । वेदद्वारा दत्ताम् । **वन्दमानः** । स्तुवन् । **इमाम्** । उपस्थिताम् । **धियम्** । अ० २ । ५ । ४ । धृञ् यद्वा, डुधाञ् धारणे-क्विप् । **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (पा० ६ । ४ । ६६) इति ईत्वम्, क्विब्लोपश्च । यद्वा ध्यै चिन्तने-क्विप् सप्रसारण च । वेदोक्त कर्म । धारणावती बुद्धिम् । **शतसेयाय** । **अचो यत्** (पा० ३ । १ । ९७) इति षो अन्तकर्मणि—यत् । **आदेच उपदेशेऽशिति** (पा० ६ । १ । ४५) इति आत्वम्

सामर्थ्य भर वाणिज्य मे उद्योग करके प्रभूत धन पावे और दरिद्रतादि को मिटावे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद म० ३ सू० १८ म० ३ मे है ॥

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् । शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु । इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥

इमाम् । अग्ने । शरणिम् । मीमृषः । नः । यम् । अध्वानम् । अगाम । दूरम् । शुनम् । नः । अस्तु । प्रऽपणः । विऽक्रयः । च । प्रतिऽपणः । फलिनम् । मा । कृणोतु । इदम् । हव्यम् । सम्ऽविदानौ । जुषेथाम् । शुनम् । नः । अस्तु । चरितम् । उत्थितम् । च ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (नः) हमारी (इमाम्) इस (शरणिम्) पीडा को [उस मार्ग मे] (मीमृष) तूने सहा है (यम् दूरम् अध्वानम्) जिस दूर मार्ग को (अगाम) हम चले गये है ।

ईयति (पा० ६ । ४ । ६५) इति ईत्वम् आर्धधातुकत्वे गुण । शतादिसख्यापरिमितव्यवसायाय बहूद्यमाय । **देवीम्** । व्यवहारकुशलाम् ॥

४—अग्ने । म० ३ । **शरणिम्** । **अर्त्तिसृधृ०** (उ० २ । १०२) इति शृ हिंसायाम्–अनि । हिंसाम् । प्रमादरूपा पीडाम् । **मीमृषः** । मृष तितिक्षायाम् लुङ् अडभाव । स्वार्थिको णिच् । त्व क्षमितवानसि । **नः** । अस्माकम् । **अध्वानम्** । **अदेर्ध च** (उ० ४ । ११६) इति अद भक्षणे । यद्वा, अदि बन्धने क्वनिप्, दस्य ध· । मार्गम् । **अगाम** । इण् गतौ—लुङ । वय गतवन्त । **दूरम्** । अ० ३ । ३ । २ । विप्रकृष्टदेशम् । **शुनम्** । अव्ययम् । **गेहे कः**

(न) हमारा (प्रपण) क्रय [मोल लेना] (च) और (विक्रय) बिक्री (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (प्रतिपण) वस्तुओ का लौट फेर (मा) मुझ को (फलिनम्) बहुत लाभ वाला (कृणोतु) करे ।

(सविदानौ) एक मत होते हुये तुम दोनो [हम और तुम] (इदम् हव्यम्) इस भेट को (जुषेथाम्) सेवे । (न) हमारा (चरितम्) व्यापार (च) और (उत्थितम्) उठान [लाभ] (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विनय पूर्वक अपनी चूक मानकर विद्वानो की सम्मति से अपना सुधार करते है, वे व्यापार मे अधिक लाभ उठाकर आनन्द पाते है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र की प्रथम पक्ति कुछ भेद से ऋ० म० १ सू० ३१ म० १६ मे है ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥ ५ ॥

येन । धनेन । प्रऽपणम् । चरामि । धनेन । देवाः । धनम् । इच्छमानः । तत् । मे । भूयः । भवतु । मा । कनीयः । अग्ने । सातऽघ्नः । देवान् । हविषा । नि । सेध ॥ ५ ॥

(पा० ३ । १ । १४४) इति शुन गतौ—क । सुखनाम—निघ० ३ । ६ । सुखप्रद । **प्रपणः** । पण व्यवहारे—अच् । क्रय । व्यापार । **विक्रयः** । **एरच्** (पा० ३ । ३ । ५६) इति वि+डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये—अच् । विक्रयणम् । विपणनम् । **प्रतिपणः** । पण—अच् । सलाभमूल्यस्वीकारेण परेभ्य प्रदानम् । **फलिनम्** । बहुलाभयुक्तम् । **मा** । माम् । **कृणोतु** । करोतु । **हव्यम्** । हवि । **सविदानौ** । अ० २ । २८ । २ । सगच्छमानौ । ऐकमत्य प्राप्तौ । अह च त्व च । **जुषेथाम्** । युवा सेवेथाम् । **चरितम्** । चर—क्त । अनुष्ठानम् । विक्रयादिकर्म । **उत्थितम्**[1] । उद्+ष्ठा—क्त । सलाभ धनम् ॥

---

१ उद स्थास्तम्भो० (पा० ८ । ४ । ६१) से यहाँ मकार को पूर्वसवर्णादेश हुआ है ॥ सम्पा० ॥

भाषार्थः—(देवा) हे व्यवहार कुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमान) चाहने वाला मै (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हू, (तत्) वह धन (मे) मेरे लिये (भूय) अधिक २ (भवतु) होवे, (कनीय) थोडा (मा) न [होवे] । (अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (सातघ्न) लाभ नाश करने वाले (देवान्) मूर्खो को (हविष) हमारी भक्ति द्वारा (निषेध) रोक दे ॥ ५ ॥

भावार्थः—नवशिक्षित व्यापारी बडे बडे व्यापारियो से लाभ हानि की रीते समझकर अपने मूल धन को बढाते रहे और कुव्यवहारियो के फदे मे न पडे ॥५॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

येन । धनेन । प्रऽपणम् । चरामि । धनेन । देवाः धनम् । इच्छमानः । तस्मिन् । मे । इन्द्रः । रुचिम् । आ ।

५—**प्रपणम्** । म० ४ । व्यापारम् । **चरामि** । करोमि । **धनेन** । मूलधनेन । **धनम्** । सलाभ धनम् । **इच्छमानः** । कामयमानः । **तत्** । धनम् । **मे** । मह्यम् । **भूयः** । **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (पा० ५ । ३ । ५७) इति बहु—ईयसुन् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** (पा० ६ । ४ । १५८) इति ईलोपो भू च बहो । बहुतरम् । **मा** । न । **कनीयः** । **युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्** (पा० ५ । ३ । ६४) इति अल्प—ईयसुन् कनादेश । अल्पतरम् । **अग्ने** । म० ३ । **सातघ्नः** । षणु दाने—क्त भावे । सात लाभ । हन हिसागत्यो च—क्विप् । शसि रूपम् । लाभहन्तॄन् । लाभनाशकान् । **देवान्** । दिवु क्रीडास्तुतिमोद-मदादिषु, अत्र मदे—अच् । मत्तान् मूर्खान् । **हविषा** । भक्त्या । **निषेध** । षिधु गत्याम् । **उपसर्गात् सुनोति०** (पा० ८ । ३ । ६५) इति षत्वम् । निवारय ॥

दधातु । प्रजाऽपतिः । सविता । सोमः । अग्निः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(देवा) हे व्यवहारकुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमान) चाहता हुआ मै (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हू (तस्मिन्) उस [धन] मे (मे) मुझे (प्रजापति) प्रजापालक (सविता) ऐश्वर्यवान् (सोम) चन्द्र [समान शान्त स्वभाव] (अग्नि) अग्नि [समान तेजस्वी], (इन्द्र) बडा समर्थ प्रधान पुरुष (रुचिम्) रुचि (आदधातु) देवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य उत्तम स्वभाव वाले अनुभवी पुरुषो की सम्मति से व्यापार मे मन लगाकर लाभ के साथ मूल धन को बढावे ॥ ६ ॥

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

उप । त्वा । नमसा । वयम् । होतः । वैश्वानर । स्तुमः ।
सः । नः । प्रऽजासु । आत्मऽसु । गोषु । प्राणेषु । जागृहि ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(होत) हे दानशील ! (वैश्वानर) हे सब नरो के हितकारक,

६—तस्मिन् । पूर्वोक्ते धने । मे । मह्यम् । इन्द्रः । प्रधान पुरुष । रुचिम् । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—कि । अभिप्रीतिम् । आ दधातु । स्थापयतु । ददातु । प्रजापतिः । पुत्रभृत्यादीना पालक । सविता । परमैश्वर्यवान् । सोमः । चन्द्रसमानशान्तस्वभाव । अग्निः । म० ३ । अन्यद् यथा म० ५ ॥

७—उप । पूजायाम् । त्वा । त्वाम् । इन्द्रम् । नमसा । नमस्कारेण । वयम् । व्यापारिण । होतः । हु दाने—तृच् । हे दात । वैश्वानर । अ० १ । १० । ४ । हे सर्वनरहित ! हे सर्वनायक ! स्तुमः । प्रशसाम । सः ।

वा सब के नायकपुरुष ! (वयम्) हम लोग (नमसा) नमस्कार के साथ (त्वा) तुझको (उप) आदर से (स्तुम) सराहते हैं। (स = स त्वम्) सो तू (न) हमारी (प्रजासु) प्रजाओ पर, (आत्मसु) आत्माओ वा शरीरो पर (गोषु) गौओ पर और (प्राणेषु) प्राणो वा जीवनो पर (जागृहि) जागता रह ॥ ७ ॥

भावार्थः—व्यापारी लोग सर्वहितकारी, कर्मकुशल पुरुष को प्रधान बना कर अपने धनादि की रक्षा करे ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सदमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥८॥

विश्वाहा । ते । सदम् । इत् । भरेम । अश्वायऽइव । तिष्ठते । जातऽवेदः । रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रतिऽवेशाः । रिषाम ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(जातवेद) हे उत्तम धन वाले पुरुष ! (विश्वाहा = ०—हानि) सब दिनो (ते) तेरे [उद्देश्य के] लिये (इत्) ही (सदम्) समाज को (भरेम) भरते रहे, (इव) जैसे (तिष्ठते) थान पर ठहरे हुए (अश्वाय) घोडे को [घास अन्नादि भरते है]। (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् ! (राय) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे प्रकार

सत्वम् । **नः** । अस्माकम् । **प्रजासु** । पुत्रपौत्रभृत्यादिषु । **आत्मसु** । अ० १ । १८ । ३ । जीवेषु । शरीरेषु । **गोषु** । धेनुषु । प्राणेषु । जीवनेषु जागृहि । बुध्यस्व । सावधानो वर्त्तस्व ॥

८—**विश्वाहा** । सर्वाण्यहानि । **ते** । तुभ्यम् । **सदम्** । षद्लृ गतौ-अच् । समाजम् । वणिक्मण्डलीम् । **इत्** । एव । **भरेम** । भृञ्-विधिलिङ् । पोषयेम । **अश्वाय, इव** । घोटकाय यथा । **तिष्ठते** । ष्ठा-शतृ । स्वस्थाने

(मदन्त) आनन्द करते हुये (ते) तेरे (प्रतिवेशा) मन्मुख रहने वाले हम लोग (मा रिषाम) न दु खी होवे ॥ ८ ॥

भावार्थः—जैसे मार्ग से आये घोडे को अन्न घासादि से पुष्ट करते है, इसी प्रकार सब व्यापारी बडी बडी वणिक् मडली बना कर प्रधान पुरुष की शक्ति बढावे, जिससे सब लोग बहुतसा धन और अन्नादि पाकर आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुवाक. ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१–७ । वसिष्ठर्षिः । १ लिङ्गोक्तदेवताः, २–६ भगः, ७ उषाः । १ जगतीछन्दः । २, ३, ५—७ त्रिष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ॥

बुद्धिवर्धनाय प्रभातगीति·—बुद्धि बढाने के लिये प्रभाती गीत ॥

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑ ।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं ह॑वामहे ॥१॥

प्रा॒तः । अ॒ग्निम् । प्रा॒तः । इन्द्र॑म् । ह॒वा॒म॒हे॒ । प्रा॒तः । मि॒त्रा-वरु॑णा । प्रा॒तः । अ॒श्विना॑ । प्रा॒तः । भग॑म् । पू॒षण॑म् । ब्रह्म॑णः ।

वर्त्तमानाय । **जातवेदः** । अ० १ । ७ । २ । जातानि प्रशस्तानि वेदासि धनानि यस्य स जातवेदा । तत्सबुद्धौ । **रायः** । धनस्य । **पोषेण** । वर्धनेन **सम्** । सम्यक् । **मदन्तः** । मदी हर्षग्लेपनयो —शतृ । हृष्टा भवन्त· । **अग्ने** । म० ३ । **प्रतिवेशाः** । प्रति+विश-घञ् । आसन्नवर्त्तिन । **मा रिषाम** । रिष हिंसायाम् कर्मणि कर्तृप्रयोग. । हिंसिता विनष्टा मा भूम ॥

पतिम् । प्रातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हुवामहे ॥ १ ॥

भाषार्थः—(प्रात.) प्रात काल (अग्निम्) [पार्थिव] अग्नि को, (प्रात) प्रात काल (इन्द्रम्) बिजुली वा सूर्य को, (प्रात) प्रातःकाल (मित्रावरुणा =०—णौ) प्राण और अपान को, (प्रात) प्रात काल (अश्विना) कामो मे व्याप्ति रखने वाले माता पिता को (हवामहे) हम बुलाते है। (प्रात) प्रात काल (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (पूषणम्) पोषण करने वाले (ब्रह्मण) वेद, ब्रह्माण्ड, अन्न वा धन के (पतिम्) पति, परमेश्वर को, (प्रात) प्रात काल (सोमम्) ऐश्वर्य कराने वाले वा मथन किये हुये पदार्थ वा आत्मा [अपने बल] वा अमृत [मोक्ष, वा अन्न, दुग्ध, घृतादि] को (उत) और (रुद्रम्) दु ख नाशक वा ज्ञान दाता आचार्य को (हवामहे) हम बुलाते है ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य प्रात काल [सूर्य निकलने से छ घडी पहिले] परमेश्वर का ध्यान करता हुआ, मन्त्र मे वर्णित पार्थिव और सौर अग्नि के प्रयोग आदि अन्य आवश्यक कर्मो का विचार करके आत्मा को बढाता हुआ अपने कर्त्तव्य मे लगे ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद ७।४१।१-७ और यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ३४-४० मे है।

१—**प्रातः** । **प्राततेररन्** (उ० ५ । ५९) इति प्र+अत सातत्यगमने-अरन् । सूर्योदयादधित्रिमुहूर्त्तकाले । प्रभातकाले । **अग्निम्** । पर्थिवाग्निम् । **इन्द्रम्** । विद्युत सूर्य वा । **हवामहे** । आह्वयाम । **मित्रावरुणा** । अ० १ । २०।३ । प्राणापानौ । **अश्विना** । अ० २ । २९। ६। अश्वो व्या प्त —इनि । कार्येषु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ । **भगम्** । अ० १ । १४ । १ । भगो धनम्, ततो अर्श-आद्यच् । ऐश्वर्यवन्तम् । **पूषणम्** । अ० १ । ६ । १ । सर्वपोषकम् । **ब्रह्मणः** । अ० १। ८ । ४ । वेदस्य । ब्रह्माण्डस्य । अन्नस्य—निघ० २ । ७ । धनस्य-निघ० २ । १० । **पतिम्** । रक्षकम् । स्वामिनम् । **सोमम्** । अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययो , यद्वा, षुञ् अभिषवे-मन् । सोम. सूर्य प्रसवनात् . सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणा जनितेत्यर्थ.—निरु० १४ । १२ । ऐश्वर्यवन्तम् । अभिषुत मथितम् । आत्मानम् । अमृतम् । **उत** । अपि च । **रुद्रम्** । अ० २ । २७ । ६ । रुत्+र दुःखनाशक ज्ञानदातार वाचार्यम् ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता । आध्रश्चिद्
यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥

प्रातःऽजितम् । भगम् । उग्रम् । हवामहे । वयम् । पुत्रम् । अदितेः ।
यः । विऽधर्ता । आध्रः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः । चित् । राजा ।
चित् । यम् । भगम् । भक्षि । इति । आह ॥ २ ॥

भाषार्थः—(वयम्) हम (प्रातर्जितम्) प्रात काल मे [अन्धकारादि को] जीतने वाले (भगम्) सूर्य [समान] (उग्रम्) तेजस्वी (पुत्रम्) पवित्र, अथवा बहुविधिसे रक्षा करने वाले, अथवा नरक से बचाने वाले [परमेश्वर] को (हवामहे) बुलाते है, (य) जो [परमेश्वर] (अदिते) प्रकृति वा भूमि का (विधर्त्ता) धारण करनेवाला और (यम्) जिस [परमेश्वर] को (मन्यमान) पूजता हुआ (आध्र) सब प्रकार धारण योग्य कगाल, (चित्) भी, और (तुर) शीघ्रकारी बलवान् (चित्) भी, और (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा

२—**प्रातर्जितम्** । सत्सूद्विष० (पा० ३ । २ । ६१) इति प्रातर्+जि जये-क्विप्, तुक् । प्रात काले जयशीलम् अन्धकारादिकस्य । **भगम्** । सूर्य यथा । **उग्रम्** । तेजस्विनम् **हवामहे** । म० १ । **पुत्रम्** । अ० १।११।५। पूङ पवने क्त्र । यद्वा । पुरु यद्वा, पुत्+त्रैङ् पालने-ड । पवित्र बहुत्रातार पुतो नरकात् त्रातार वा परमेश्वरम् । **अदितेः** ।अ०२।२८।४। प्रकृते पृथिव्या वा । **विधर्ता** । विविध धारक पोषक । **आध्रः** । आङ्+धृङ्-क । आधारयितव्यो दरिद्र । **चित्** । अपि च । **यम्** । परमेश्वरम् । **मन्यमानः** । मन्यते अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । अर्चन् । पूजयन् । स्तुवन् । **तुरः** । तुर वेगे,इगुपधलक्षण क । त्वरमाण बलवान् । **राजा** । अ०१।१०।२ । ऐश्वर्यवान् पुरुष । **यम्** । या प्रापणे यज देवपूजने, वा, यम परिवेषणे-ड. यश । कीर्तिम् । **भगम्** । धनम्, निघ० २ । १० । **भक्षि** । भज सेवायाम्, आत्मनेपदस्य आशीर्लिङि उत्तमैकवचने छान्दसं रूपम् । अह भक्षीय ।

(चित्) भी (इति) इस प्रकार (आह) कहता है, "(यम्) यश और (भगम्) धन को (भक्षि=अहं भक्षीय) मैं सेवूं " ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य प्रात काल अन्धकार, आलस्यादि मिटाकर जीवो मे नयी शक्ति देता है, ऐसे ही सब छोटे बडे जीव और पृथिवी आदि लोक भी परमात्मा की शक्ति से अपनी २ शक्ति बढाते है, उसी का धन्यवाद हम सब पिता पुत्रादि मिलकर गावे ॥ २ ॥

'हवामहे' के स्थान पर ऋग्वेद और यजुर्वेद मे 'हुवेम' पद है ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

भग । प्रऽनेतः । भग । सत्यऽराधः । भग । इमाम् । धियम् । उत् । अव । ददत् । नः । भग । प्र । नः । जनय । गोभिः । अश्वैः । भग । प्र । नृऽभिः । नृऽवन्तः । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(भग) हे भगवान् ! (प्रणेत.) हे बडे नेता ! (भग) हे सेवनीय ! (सत्यराध) हे सत्य धनी ! (भग) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इमाम्) इस [वेदोक्त] (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देता हुआ तू (न) हमारी (उत्) उत्तमता से (अवा) रक्षा कर । (भग) हे ज्योति स्वरूप ! (न) हम को (गोभि) गौओ से और (अश्वै) घोडो से (प्र जनय) अच्छे प्रकार

सेवेय । **इति** । अनेन प्रकारेण । **आह** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट । ब्रवीति । प्रार्थयते, आध्रादीना प्रत्येकम् ॥

३—भग । भज सेवायाम्—घञ् । हे विभाजक । सेवनीय । ऐश्वर्यवन् ! ज्ञानस्वरूप । प्रकाशस्वरूप । शिव । आदिकारण । **प्रणेतः** । णीञ् प्रापणे तृच् । हे प्रकृष्टनायक । **सत्यराधः** । राध समिद्धौ—असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेन—निरु० ४ । ४ । सत्यानि अनश्वराणि राधासि धनानि यस्य स सत्यराधा । तत्सम्बुद्धौ । इमाम् । धियम् । प्रज्ञाम् । **उत् अव** । उत्तमतया रक्ष, सफलां कुरु । **ददत्** । डु दाने—शतृ । प्रयच्छन् । **नः** ।

बढा । (भग) हे शिव (नृभि) नेता पुरुषो के साथ हम (नृवन्तः) नेता पुरुषो वाले होकर (प्र स्याम) समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना और आज्ञा पालन करते और नेता वा वीर पुरुषो को अपनाते है, वे ससार मे उन्नति करके यशस्वी और ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

उत । इदानीम् । भगऽवन्तः । स्याम । उत । प्रऽपित्वे । उत । मध्ये । अह्नाम् । उत । उत्ऽइतौ । मघऽवन् । सूर्यस्य । वयम् । देवानाम् । सुऽमतौ । स्याम ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(उत) और (इदानीम्) इस समय (उत उत) और भी (अह्नाम्) दिनो के (मध्ये) मध्य (प्रपित्वे) पाये हुये [ऐश्वर्य] मे हम (भगवन्त) बडे ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवे । (उत) और (मघवन्) हे

अस्मान् । **प्र जनय** । प्रादुर्भावय । प्रवर्धय । **गोभिः** । धेनुभि । **अश्वैः** । अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गै । **नृभिः** । **नयतेर्डिच्च** (उ० २ । १००) इति णीञ् प्रापणे—ऋप्रत्यय , डित्त्वाट् टिलोप । नेतृभि । वीरै । **नृवन्तः** । प्रशस्तशूरोपेताः । **प्र स्याम** । प्रभवेम ॥

४ - **उत** । समुच्चये । **इदानीम्** । इदम्–दानीम् । **इदम इश्** (पा०५ । ३ । ३) इति इदम इश्आदेश **दानीं च** (पा० ५ । ३ । १८) इति वर्तमाने दानीम् प्रत्यय । अस्मिन् काले । **भगवन्तः** । सकलैश्वर्ययुक्ता । **स्याम** । भवेम । **उत, उत** । **नित्यवीप्सयोः** (पा० ८ । १ । ४) इति द्विर्वचनम् । अपि च । **प्रपित्वे** **अन्येऽपि दृश्यन्ते** (उ० ४ । १०५) प्र+आप्लृ व्याप्तौ–इत्वन्, आकारलोपः ।

महाधनी ईश्वर ! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय मे (देवानाम्) विद्वानो की (सुमतौ) सुमति मे (वयम्) हम (स्याम) रहे ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र ३ के अनुसार पाये हुये ऐश्वर्य को हम सब और आगे भी बढावे, और जैसे सूर्य के उदय मे प्रकाश बढता जाता है वैसे ही देवताओ के अनुकरण से हम अपनी धार्मिक बुद्धि का अभ्युदय करे ॥ ४ ॥

'उदितौ' के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद मे 'उदिता' है ।

भग॑ ए॒व भग॑वाँ अस्तु दे॒वस्तेना॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीमि॒ स नो॑ भग पुरए॒ता भ॑वे॒ह ॥५॥

भगः॑ । ए॒व । भग॑ऽवान् । अ॒स्तु॒ । दे॒वः । तेन॑ । व॒यम् । भग॑ऽवन्तः । स्या॒म॒ । तम् । त्वा॒ । भग॒ । सर्वः॑ । इत् । जो॒ह॒वी॒मि॒ । सः । नः॒ । भग॒ । पु॒रः॒ऽए॒ता । भ॒व॒ । इ॒ह ॥ ५ ॥

भाषार्थः—"(भग) सेवनीय (देव) विद्वान् विजयी पुरुष (एव) ही (भगवान्) भगवान् [भाग्यवान्, बडे ऐश्वर्य वाला] (अस्तु) होवे" (तेन) इसी [कारण] से (वयम्) हम (भगवन्त) भाग्यवान् (स्याम) होवे । (तम् त्वा) उस तुझ को, (भग) हे ईश्वर ! (सर्वं =सर्वं अहम्) मै सब

प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य प्रपित्वे प्राप्ते—निरु० ३ । २० । प्राप्ते सौभाग्ये । **अह्नाम् मध्ये** । दिनाना मध्ये । भविष्यत्काले । । **उदितौ** । उद्+इण् गतौ—क्तिन् । उदये । उद्गमने । **मघवन्** । अ० २ । ५ । ७ । महि वृद्धौ, दाने च-घञर्थे क, मतुप् । मघमिति धननामधेय महतेर्दानकर्मण —निरु० १ । ७ । हे प्रशस्त-धनवन् । **सूर्यस्य** । आदित्यस्य । **देवानाम्** । आप्तविदुषाम् । **सुमतौ** । कल्याण्या बुद्धौ ॥

५—**भग** । सेवनीय श्रेष्ठः पुरुष । **भगवान्** । ऐश्वर्यवान् । **देवः** । विद्वान् । विजयी । **तेन** । तेन कारणेन । **तम्** । तादृशम् । **सर्वः** । सर्वा—

(इत्) ही (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ। (स = स त्वम्) सो तू, (भग) हे शिव ! (इह) यहाँ पर (न) हमारा (पुरएता) अगुआ (भव) हो ॥५॥

भावार्थः—"सुकर्मी पुरुषार्थी पुरुष ही भाग्यवान् होवे" यह ईश्वर आज्ञा है, इस से सब लोग धार्मिक पुरुषार्थी होकर भाग्यवान् बनें। ईश्वर ही अपने ध्यानी आज्ञापालकों का मार्गदर्शक होता है ॥ ५ ॥

'देव , जोहवीमि' के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद मे 'देवा, जोहवीति' पद है ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६॥

सम्। अध्वराय। उषसः। नमन्त। दधिक्रावाऽइव। शुचये। पदाय। अर्वाचीनम्। वसुऽविदम्। भगम्। मे। रथम्ऽइव। अश्वाः। वाजिनः। आ। वहन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(उषस) उषायें [प्रभात बेलायें] (अध्वराय मार्ग देने के लिये, अथवा हिंसारहित यज्ञ के लिये (सम् नमन्त = ०—न्ते) झुकती है, (दधिक्रावा इव) जैसे चढाकर चलने वाला, वा हींसने वाला घोडा (शुचये)

त्मना सहितोऽहम्। **जोहवीमि** । अ० २। १२। ३। पुन पुनराह्वयामि। स। स त्वम्। **पुरएता** । अ० ३। १५। १। अग्रगामी। अन्यद् गतम् ॥

६—**अध्वराय** । अ०१।४।१। अध्वन् + रा—क । यद्वा, न + ध्वृ हूर्छने—अच्। अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेध —निरु० । ८। मार्गदानाय। अहिंसामयाय व्यवहाराय यज्ञाय। **उषसः** । प्रभाता । **समनमन्त** । छान्दसो लङ्। सनमन्ते। प्रह्वीभवन्ति। **दधिक्रावा** । **आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च** (पा० ३। २। १७१) इति डुधाञ् धारणपोषणयो —कि , स च लिड्वत्। इति दधि । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३। २। ७५) इति दधि + क्रमु, पादविक्षेपे क्रदि आह्वाने, क्रन्द सातत्ये वा-वनिप्। **विड्वनोरनुनासिकस्यात्** (पा०६।४।४१)

शुद्ध [अचूक] (पदाय) पद रखने के लिये । वाजिन) अन्नवान् वा बलवान वा ज्ञानवान् (अर्वाचीनम्) नवीन २ और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने वाले (भगम्) ऐश्वर्य को (मे) मेरे लिये (आ वहन्तु) लावे (अश्वा इव) जैसे घोडे (रथम्) रथ को [लाते है] ॥ ६ ॥

भावार्थः—जैसे उषा देवी अन्धकार हटाकर मार्ग खोलती चलती है अथवा, जैसे बली और वेगवान् घोडा अपने अश्ववार वा रथको मार्ग चलकर ठिकाने पर शीघ्र पहुचाता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष बडे बडे महात्माओ के सत्सङ्ग और अनुकरण से अपना ऐश्वर्य बढाते रहे ॥ ६ ॥

'मे' के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद मे 'न' पद है ॥

अश्वा॑वतो॒र्गोम॑तीर्न॑ उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः॒ सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥७॥

अश्व॑ऽवतीः । गोऽम॑तीः । नः॒ । उ॒षसः॑ । वी॒रऽव॑तीः । सद॑म् । उ॒च्छ॒न्तु॒ । भ॒द्राः ।
घृ॒तम् । दुहा॑नाः । वि॒श्वतः॑ । प्रऽपी॑ताः । यू॒यम् । पा॒त॒ । स्व॒स्तिऽभिः॑ ।
सदा॑ । नः॒ ॥ ७ ॥

इत्यात्त्वम् । दधिक्रावा=अश्व —निघ० १ । १४ । दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा दधिक्रावा । दधिक्रा । अश्व । **शुचये** । शुद्धाय । प्रमादशून्याय । **पदाय** । गमनाय । **अर्वाचीनम्** । अर्वाच्[१]—ख । इदानीन्तनम् । नूतनम् । **वसुविदम्** । **इगुपध०** (पा० ३।१।१३५) इति वसु+विद्ऌ लाभे-क । धनाना लम्भक प्रापकम् । **भगम्** । ऐश्वर्यम् । **मे** । मह्यम् । **रथमिव** । **हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्** (उ० २ । २) इति रमु क्रीडायाम्-क्थन् । यान यथा । **अश्वाः** । घोटा । **वाजिनः** । वज गतौ—घञ । वाज =अन्नम्, निघ० २ । ७ । बलम्, निघ० २ । ९ । **अत इनिठनौ** (पा० ५ । २ । ११५) इति इनि । अन्नवन्त । बलवन्त । ज्ञानवन्त । **आ वहन्तु** । आगमयन्तु ॥

---

१ अवरे काले देशे वा अञ्चतीति अर्वाच् । पृषोदरादिनि० (पा० ६ । ३ । १०९) से यहाँ अवर को अर्व आदेश हुआ है ॥ सम्पा० ॥

भाषार्थः—(अश्ववती =०-त्य) उत्तम २ घोडो वाली, (गोमती) उत्तम २ गौओ वाली, (वीरवती) बहुत वीर पुरुषो वाली और (भद्राः) मङ्गल करने वाली (उषास =उषस) उषाये (न सदम्) हमारे समाज पर (उच्छन्तु) चमकती रहे। (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] को (दुहाना) दुहते हुए और (विश्वत) सब प्रकार से (प्रपीता) भरे हुये (यूयम्) तुम [वीर पुरुषो !] (स्वस्तिभि) अनेक सुखो से (सदा) सदा (न.) हमारी (पात) रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थः– सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके अपने घरो को घोडो, गौओ और वीर पुरुषो से भरे रक्खे, और सब मिलकर तत्त्व ग्रहण करके सदा परस्पर रक्षा करे ॥ ७ ॥

'यूय पात स्वस्तिभि सदा न' यह पाद प्राय ऋग्वेद मण्डल ७ के सब सूक्तो के अन्त मे है ॥

सूक्तम् १७ ॥

१–९ ॥ कृषीवला देवताः। १ गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुप् ३ पङ्क्तिः, ४, ६, ८ अनुष्टुप्; ७ पुर उष्णिक्छन्दः ॥

कृषिविद्योपदेश —खेती की विद्या का उपदेश ॥

---

७ **अश्ववतीः**। प्रशस्ताश्ववत्य·। **गोमतीः**। प्रशस्तगोमत्य । **नः**। अस्माकम्। **उषासः**। उषस । प्रभाता । **वीरवतीः**। बहुवीरवत्य । **सदम्**। षद्लृ विशरणगत्यावसादनेषु–अच्। **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (पा० २।३।५) इति द्वितीया। समाज प्रति। **उच्छन्तु**। उच्छी विवासे, अकर्मक·। अत्र दीप्तौ। समाप्ता व्युष्टा प्रदीप्ता भवन्तु। **भद्राः**। मङ्गलकारिण्य.। **घृतम्**। सारपदार्थम्। **दुहानाः**। दुह प्रपूरणे–शानच्। प्रपूरयन्त·। **विश्वतः**। सर्वत । **प्रपीताः**। **प्यायः पी** (पा· ६। १। २८) इति ओप्यायी वृद्धौ–क्त, पी आदेश.। प्रवृद्धा । **यूयम्**। वीरपुरुषा·। **पात**। रक्षत। **स्वस्तिभिः**। अनेकसुखैः। **सदा**। सर्वस्मिन् काले। **नः**। अस्मान ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥

सीरा । युञ्जन्ति । कवयः । युगा । वि । तन्वते । पृथक् ।
धीराः । देवेषु । सुम्नऽयौ ॥ १ ॥

भाषार्थः—(धीरा) धीर (कवय) बुद्धिमान् [किसान] लोग (देवेषु) व्यवहारी पुरुषो पर (सुम्नयौ) सुख पाने [की आशा] मे (सीरा=सीराणि) हलो को (युञ्जन्ति) जोडते है, और (युगा=युगानि) जुओ को (पृथक्) अलग अलग करके [दोनो ओर] (वि तन्वते) फैलाते है ॥ १ ॥

भावार्थः—जैसे किसान लोग खेती करके अन्य पुरुषो को सुख पहुचाते और आप सुखी रहते है, इसी प्रकार सब मनुष्यो को परस्पर उपकारी होकर सुख भोगना चाहिये ॥ १ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

१—**सीरा** । **शुसिचिमीनां दीर्घश्च** (उ० २ । २५) इति षिञ् बन्धने-क्रन् । दीर्घश्च । सीराणि लाङ्गलानि । **युञ्जन्ति** । योजयन्ति कर्षणार्थम् । **कवयः** । मेधाविन —निघ० ३ । १५ । कुशला कृषीवला । **युगा** । **उञ्छा-दीनां च** (पा० ६ । १ । १६०) इति युज सयमने, युतौ-घञ् । अगुणत्व निपात-नात् । युगानि । रथहलादेरङ्गभेदान् । **वि तन्वते** । प्रसारयन्ति । **पृथक्** । **प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च** (उ० १ । १३७) इति प्रथ ख्यातौ अजि । भिन्ने भिन्ने स्कन्धदेशे । **धीराः** । अ० २ । ३५ । ३ । ध्यानवन्त । **देवेषु** । विद्वत्सु । व्यवहारिषु पुरुषेषु । **सुम्नयौ** । **रास्नासास्ना०** (उ० ३ । १५) इति सु+म्ना अभ्यासे, मा माने वा—नप्रत्यय । निपातनात् सिद्धिः । सुम्न सुखम्–निघ० ३ । ६ । **मृगय्वादयश्च** (उ० १ । ३७) इति सुम्न+या प्रापणे भावे कु । सुखस्य गतौ प्राप्तौ प्रापणे वा ॥

विराजः श्नुष्टिः सभंरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ २ ॥

युनक्त । सीरा । वि । युगा । तनोत । कृते । योनौ । वपत । इह । बीजम् ।
विऽराजः । श्नुष्टिः । सऽभंराः । असत् । नः । नेदीयः । इत् । सृण्यः ।
पक्वम् । आ । यवन् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(विराज) हे शोभायमान [किसानो !] (सीरा = सीराणि) हलो को (युनक्त) जोडो, (युगा = युगानि) जूओ को (वितनोत) फैलाओ और (कृते) बने हुए (योनौ) खेत मे (इह) यहा पर (बीजम्) बीज (वपत) बोओ । (श्नुष्टि) [तुम्हारी] अन्न की उपज (न) हमारे लिये (सभरा) भरी पूरी (असत्) होवे, (सृण्य) हसुये वा दरात (इत्) भी (पक्वम्) पके अन्न को (नेदीय) अधिक निकट (आ यवन्) लावे ॥ २ ॥

२—**युनक्त** । योजयत । **सीरा** । म० १ । **वि तनोत** । विस्तारयत । **कृते** । सम्पादिते । कृष्टे । **योनौ** । क्षेत्रे । **वपत** । निक्षपत । **बीजम्** । **उपसर्गे च सज्ञायाम्** (पा० ३ । २ । ६६) इति वि+जन जनने—ड, उपसर्गस्य दीर्घ । यद्वा, वी प्रजनकान्त्यसनखादनेषु—क्विप् जनधातो ड इति शब्दकल्पद्रुमे । उत्पत्तिमूलम् । अपत्यम्—निघ०२।२। **इह** । अत्र । **विराज** । वि+राजृ दीप्तौ—क्विप् । हे विराजमाना शोभायमाना कृषीवला । **श्नुष्टिः** । ष्णुसु अदने, आदाने च—क्तिन् । छान्दस रूपम् । अन्नोत्पत्ति । उपलब्धि । **सभराः** । सह+भृञ्—असुन् । सभरा भरणेन सहिता । **नेदीयः** । भवेत् । **नः** । अस्मभ्यम् । **असत्** । अन्तिक—ईयसुन् । **अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ** (पा० ५ । ३ । ६३) इति नेदादेश । समीपतरम् । **इत्** । एव । **सृण्य** । **सृवृषिभ्यां कित्** (उ० ४ । ४६) इति सृ गतौ—नि , ङीष् । अङ्कुशा । लवणसाधनशस्त्राणि । **पक्वम्** । पच्—क्त । **पचो वः** (पा० ८ । २ । ५२) इति तस्य व । प्राप्तपाकम् अन्नम् । **आ यवन्** । यु मिश्रणामिश्रणयो —लेट् । आयुवन्तु । प्रापयन्तु ॥

भावार्थः—चतुर किसान यथाविधि खेत जोत कर उत्तम बीज आदि साधनो से उत्तम अन्न आदि पाते है, इसी सिद्धान्त पर विद्वान् बलवान् स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य सेवन से यथावत् क्रिया के साथ बलवान् बुद्धिमान् और आयुष्मान् सन्तान उत्पन्न करते है देखो—श्रीमद्दयानन्दकृत सस्कारविधि गर्भाधान प्रकरण ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ पद भेद से ऋ० १०। १०१। ३ और य० १२। ६८ मे है ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु। उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम्॥ ३ ॥

लाङ्गलम्। पवीरऽवत्। सुऽशीमम्। सोमसत्ऽसरु। उत्। इत्। वपतु। गाम्। अविम्। प्रस्थाऽवत्। रथऽवाहनम्। पीवरीम्। च। प्रऽफर्व्यम् ॥३॥

भाषार्थः—(पवीरवत्) अच्छे फाले वाला (सुशीमम्) बहुत सुख देने वाला, और (सोमसत्सरु = सोमसत् + सृ, यद्वा, स–ऊम, [1]उम वा, + स-त्सरु) ऐश्वर्य युक्त व अमृत युक्त मूठ वाला, अथवा रस्सी वाला और मूठ वाला (लाङ्गलम्) हल (इत्) ही (अविम्) रक्षा करने वाली, और (पीवरीम्) वृद्धि वाली (गाम्) भूमि को (च) और (प्रस्थावत्) प्रस्थान वा चढाई के

३—**लाङ्गलम्**। अ० २। ८। ४। हलम्। **पवीरवत्**। **कॄशॄपॄकटिपटि०** (उ० ४। ३०) इति पूङ् पवने–ईरन्। मतुप्। पवीर एव पविः, वज्र लाङ्गले प्रोत लोहमय शल्यम्। फालयुक्तम्। **सुशीमम्**। **इषियुधीन्धि०** (उ० १। १४५) इति सु + शीङ् स्वप्ने–मक्। शेवम् = सुखम्–निघ० ३। ६। सुशेवम्। बहु सुखकरम्। **सोमसत्सरु**। सोमसत् + सरु। सोमे ऐश्वर्ये अमृते वा सीदतीति सोमसत्। षद्लृ गतौ–क्विप्। सरतीति सरु। सृ गतौ–उन्। खड्गादिमुष्टि। ऐश्वर्यवन्मुष्टियुक्तम्। अमृतमयमुष्टियुक्तम्। यद्वा। स–ऊम, [1]उम वा + स–त्सरु। **अविसिवि०** (उ० १। १४४) इति अव रक्षणे—मन्। ऊम रक्षासाधनम्। रज्ज्वादिक तेन सह सोमम्। **भृमृशीङ्तॄच-**

---

१ दशपादी उणादि (द्र० दश० उ० ७। ३) मे इस सूत्र का उदाहरण 'उम' ह्रस्वान्त है जो कि बाहुलक से 'ऊठ्' को ह्रस्व होकर बनेगा, तथा कुछ वृत्तिकार 'ऊम' दीर्घान्त ही पढते हैं, अत यहाँ दोनो ही दर्शाये है ॥ सम्पा० ॥

योग्य और (प्रफर्व्यम्) शीघ्र गति वाले (रथवाहनम्) रथयान [गाडी] को (उत्) उत्तमता से (वपतु) उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थः—उत्तम साधनो से खेती मे अधिक धान्य उत्पन्न होता है, उस से राज्य की और अश्व, बैल आदि की वृद्धि से राजा और प्रजा सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ शब्द भेद से यजुर्वेद १२ । ७१ मे है ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

इन्द्रः । सीताम् । नि । गृह्णातु । ताम् । पूषा । अभि । रक्षतु ।
सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) भूमि जोतने वाला (सीताम्) हल की रेखा [जुती धरती] को (नि) नीचे (गृह्णातु) दबावे, (पूषा) पोषण करने वाला [किसान] (ताम्) उस [जुती धरती] की (अभिरक्षतु) सब ओर से रखवाली करे । (सा)

रित्सरि० (उ० १।७) इति त्सर छद्मगतौ, कौटिल्ये-उ , त्सरु , मुष्टि । तेन सह सत्सरु । सोम च सत्सरु च सोमसत्सरु[१] । रज्ज्वादिकेन मुष्टिना च सहितम् । **उत्** । उत्तमतया । **इत** । एव । **वपतु** । डुवप बीजसन्ताने, उत्पादयतु । **गाम्** । भूमिम् । **अविम्** । **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४ । ११८) इति अव रक्षादिषु–इन् । रक्षिकाम् । **प्रस्थावत्** । प्रस्थानस्य, विजिगीषो प्रयाणस्य योग्यम् । **रथवाहनम्** । वह णिच्-ल्युट् । रथयानम् । **पीवरीम्** । **श्याप्योः सम्प्रसारणं च** (उ०४।११५) इति प्यैङ् वृद्धौ—क्वनिप् । **वनो र च** (पा० ४ । १ । ७) इति डीब्रेफौ । वृद्धिशालाम् । **प्रफर्व्यम्** । फर्व गतौ—अच् । **तस्मै हितम्** (पा० ५ । १ । ५) इति यत् । शीघ्रगमनयोग्यम् । फर्वतिर्गतिकर्मा–इति महीधर य० १२ । ७१ । प्रफर्व्यं, प्रफर्वितु गमयितु योग्यम् इति—तत्रैव दयानन्दभाष्ये ॥

४—**इन्द्रः** । **ऋज्रेन्द्राग्रवज्र** (उ० २।२८) इति इरा+दॄ विदारणे रक् । इन्द्र , इरा दृणातीति वा–निरु०१०।८ । इराया भूमेर्विदारकः । कर्षक । **सीताम्** ।

---

१ सोमसत्+उपपद रहते सृ से 'उ' करने पर 'सोमसत्ऽसरु' यह ऐसा ऊपरि प्रदर्शित पदपाठ ठीक है किन्तु त्सर धातु से उ करने पर 'सोमऽसत्सरु' ऐसा पदपाठ होगा, सोमसत्ऽसरु ऐसा नही, जो कि विचारणीय है ॥ सम्पा० ॥

वह (पयस्वती) पानी से भरी [जुती धरती] (नः) हमको (उत्तराम्—उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) अनुकूल क्रिया से (दुहाम्) भरती रहे ॥ ४ ॥

भावार्थः—किसान बीज बोने के पीछे जुती धरती को पटेले से चौरस करके रक्षा करे और यथा समय पानी देता रहे जिससे खेतो मे ठीक ठीक उपज होवे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ७ में है और इसका उत्तरार्ध अ० ३ । १० । १ । मे आ चुका है ॥ ४ ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

शुनम् । सुऽफालाः । वि । तुदन्तु । भूमिम् । शुनम् । कीनाशाः । अनु । यन्तु । वाहान् । शुनासीरा । हविषा । तोशमाना । सुऽपिप्पलाः । ओषधीः । कर्तम् । अस्मै ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(सुफाला) सुन्दर फाले (शुनम्) सुख से (भूमिम्) भूमि को (वि तुदन्तु) जोते । (कीनाशा) क्लेश सहने वाले किसान (वाहान्अनु) बैलादि वाहनो के पीछे पीछे (शुनम्) सुख से (यन्तु) चले । (हविषा) जल से (तोशमाना = तोषमानौ) सन्तुष्ट करने वाले (शुनासीरा = ० रौ) हे पवन

दुतनिभ्यां दीर्घश्च (उ० ३।९०) इति बाहुलकात् षिञ् बन्धने-क्त [1] । क्षेत्रे हलेन कृता रेखा । कर्षितभूमिरित्यर्थः । **नि** । नीचैः । **गृह्णातु** । सम्पादयतु । **पूषा** । पोषक कृषीवल । **अभि** । सर्वत । **रक्षतु** । पालयतु । **पयस्वती** । उदकवती सती । **नः** । अस्मान् । **दुहाम्** । द्विकर्मक । दुग्धाम् । प्रपूरयतु । **उत्तराम्, उत्तराम्** । अतिशयेनोत्कृष्टाम् । **समाम्** । अ० ३ । १० । १ । समक्रियाम् । अनुकूलक्रियाम् ॥

५—शुनम् । सुखेन । **सुफालाः** । फल निष्पत्तौ—घञ् । फल्यते निष्पाद्यते कृषिरनेन । शोभना फला लाङ्गलस्थलौहभेदा । **वि तुदन्तु** । तुद व्यथने । वि-

१ पृषोदरादीनि० (पा० ६ । ३ । १०९) से 'सि' को दीर्घ हुआ है ॥ सम्पा० ॥

और सूर्य तुम दोनो ! (अस्मै) इस पुरुष के लिए (सुपिप्पला) सुन्दर फल वाली (ओषधीः) जौ, चावल आदि औषधिया (कर्तम्) करो ॥ ५ ॥

भावार्थः—चतुर किसान लोग उत्तम कृषिशस्त्रो, उत्तम बैल आदिको, और पानी आदि की सुधि रखने से उत्तम अन्नादि पदार्थ उत्पन्न करते है, इसी प्रकार विद्वान् लोग विद्याबल से अनेक शिल्पो का आविष्कार करके ससार को सुख पहुँचाते और आप सुख भोगते है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ८ और य० १२ । ६९ मे है ॥

यजुर्वेद अ० २२ म० २२ मे वर्णन है—

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ॥

कामना के अनुसार ही हमारे लिये मेह बरसे, हमारे लिये उत्तम फलवाली जौ आदि ओषधियाँ पके ॥

दारयन्तु । विकृषन्तु । **भूमिम्** । पृथिवीम् । **कीनाशाः** । **क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्चलो नाम् च** (उ० ५ । ५६) इति क्लिशू विबाधने, बधे वा—कन्, उपधाया ईत्व ललोपो नामागमश्च । क्लेशसहनशीला । कर्षका । **अनु** । अनुसृत्य । **यन्तु** । गच्छन्तु । **वाहान्** । वहनशीलान् बलीवर्दादीन् । **शुनासीरा** । **इगुपधज्ञा०** (पा० ३ । १ । १३५) इति शुन गतौ—क । **कृशपकटिपटि०** (उ० ४ । ३०) इति सृ गतौ—ईरन्, टिलोप । शुनश्च सीरश्च । **देवताद्वन्द्वे च** (पा० ६ । ३ । २६) इति पूर्वपददीर्घ । शुनासीरौ शुनो वायु शु एत्यन्तरिक्षे, सीर आदित्य सरणात् । निरु० ९ । ४० । हे वाय्वादित्यौ । **हविषा** । अ० १ । ४ । ३ । उदकेन—निघ० १ । १२ । **तोशमाना** । षस्य श । तोषमाणौ । सन्तोषकौ । **सुपिप्पलाः** । **कलस्तृपश्च** (उ० १ । १०४) इति पॄ पालनपूरणयो—कलप्रत्यय । पृषोदरादित्वात् साधु । पिप्पलम्, उदकम्—निघ० १ । १२ । पिप्पल पालक ससारत उद्धारक ज्ञानम् इति सायण —ऋग्वेदभाष्ये म० १।१६४।२२ । शोभनफलोपेता । **ओषधीः** । अ० १ । २३ । १ । व्रीहियवाद्या । **कर्तम्** । युवा कुरुतम् । **अस्मै** । उद्योगिने पुरुषाय ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनम् । वाहाः । शुनम् । नरः । शुनम् । कृषतु । लाङ्गलम् ।
शुनम् । वरत्राः । बध्यन्ताम् । शुनम् । अष्ट्राम् । उत् । इङ्गय ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(वाहा) बैल आदि पशु (शुनम्) सुख से रहे। (नर) हाकने वाले किसान (शुनम्) सुख से रहे। (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुख से (कृषतु) जोते। (वरत्रा) हल की रस्सिया (शुनम्) सुख से (बध्यन्ताम्) बाधी जावे। (अष्ट्राम्) पैना [आर वा काटे] को (शुनम्) सुख से (उत् इङ्गय) ऊपर चला ॥ ६ ॥

भावार्थः—किसान लोग सब सामग्री उत्तम रीति से बनाकर रखने से अपने सब काम सुख से चलावे ॥ ६ ॥

मन्त्र ६–८ कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ४—६ मे है।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

शुनासीरा । इह । स्म । मे । जुषेथाम् । यत् । दिवि । चक्रथुः । पयः । तेन । इमाम् । उप । सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

६—**शुनम्** । सुखेन । **वाहाः** । वृषभादय । **नरः** । अ० ३ । १६ । ३ । नयतीति ना । नेतार । कर्षका । **कृषतु** । विलिखतु । **लाङ्गलम्** । हलम् । **वरत्राः** । **वृञश्चित्** (उ० ३ । १०७) इति वृञ् वरणे–अत्रन् । टाप् । बन्धन-रज्जव । **बध्यन्ताम्** । बद्धा भवन्तु । **अष्ट्राम्** । **अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः** (उ० ४ । १६४) इति अशूङ् व्याप्तौ–क्त्रः, टाप् । प्रतोदम् । ताडनीयम् । **उत् इङ्गय** । उपरि गमय । प्रेरय ॥

भाषार्थः—(शुनासीरा=०-रौ) हे वायु और सूर्य तुम दोनो ! (इह स्म) यहा पर ही (मे) मेरी [विनय] (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (यत् पय) जो जल (दिवि) आकाश मे (चक्रथु) तुम दोनो ने बनाया है, (तेन) उससे (इमाम्) इस [भूमि] को (उप सिञ्चतम्) सीचते रहो ।। ७ ।।

भावार्थः—पवन और सूर्य के द्वारा पृथिवी का जल आकाश मे जाकर फिर पृथिवी पर बरसता है, वह खेती के लिये बहुत उपयोगी होता है ।। ७ ।।

यह मन्त्र कुछ भेद से निरु० ६ । ४१ मे भी है ।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

सीते । वन्दामहे । त्वा । अर्वाची । सुऽभगे । भव । यथा । नः । सुऽमनाः । असः । यथा । नः । सुऽफला । भुवः ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(सीते) हे जुती धरती ! [लक्ष्मी खेती] (त्वा) तेरी (वन्दामहे) हम वन्दना करते है, (सुभगे) हे सौभाग्यवती [बडे ऐश्वर्य वाली] (अर्वाची) हमारे सन्मुख (भव) रह, (यथा) जिससे तू (न) हमारे लिये

७—**शुनासीरा** । म० ५ । हे पवनादित्यौ । **इह स्म** । अत्रैव । **जुषेथाम्** । युवा सेवेथाम् । स्वीकुरुतम् । **दिवि** । आकाशे । **चक्रथुः** । डुकृञ् करणे, लिट् । युवा कृतवन्तौ । **पयः** । उदकम्—निघ० १ । १२ । **इमाम्** । दृश्यमाना भूमिम् । **उप सिञ्चतम्** । व्याप्य आर्द्रीकुरुतम् ।।

८ **सीते** । म० ४ । लाङ्गलपद्धतिरूपा कृषिक्रिया लक्ष्मी । तत्सम्बुद्धौ । **वन्दामहे** । वदि अभिवादनस्तुत्यो । अभिवादयाम । स्तुम । **त्वा** । त्वाम् । **अर्वाची** । अवर+अञ्चु गतिपूजनयो —क्विन्, ङीप् । अर्वादेश । निकटस्था । अभिमुखी । **सुभगे** । हे सौभाग्ययुक्ते । ऐश्वर्यवति । **नः** । अस्मभ्यम् । **सुमनाः** । प्रसन्नमनस्का । **असः** । लेट् । त्व स्या । **सुफला** । शोभनफलोपेता । **भुवः** । लेट् । त्व भवे ।।

(सुमना) प्रसन्न मन वाली (अस) होवे, और (यथा) जिससे (नः) हमारे लिये (सुफला) सुन्दर फल वाली (भुवत्) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्य खेती को मन लगा करके चौकसी रक्खे जिससे अन्नवान् और धनवान् होकर सदा आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः । सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम्ऽअक्ता । विश्वैः । देवैः । अनुऽमता । मरुत्ऽभिः । सा । नः । सीते । पयसा । अभिऽआववृत्स्व । ऊर्जस्वती । घृतऽवत् । पिन्वमाना ॥ ९ ॥

भाषार्थः—(घृतेन) घी से और (मधुना) मधु [शहद] से (समक्ता) यथाविधि सानी हुई (सीता) जुती धरती (विश्वैः) सब (देवैः) व्यवहार कुशल (मरुद्भिः) विद्वान् देवताओं करके (अनुमता) अङ्गीकृत है । (सीते) हे जुती धरती ! (सा) सो (ऊर्जस्वती) बलवती और (घृतवत्) घृतयुक्त [अन्न आदि] से (पिन्वमाना) सींचती हुई तू (पयसा) दूध के साथ (नः) हमारे (अभ्याववृत्स्व) सब ओर से सन्मुख वर्तमान हो ॥ ९ ॥

९—**घृतेन** । आज्येन । **सीता** । म० ४ । कृष्टा भूमिः । **मधुना** । क्षौद्रेण । **समक्ता** । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । सम्यक् मिश्रिता । **विश्वैः** । सर्वैः । **देवैः** दिवु व्यवहारे—अच् । व्यवहारकुशलैः । **अनुमता** । अङ्गीकृता । **मरुद्भिः** । अ० १।२०।१ । देवैः । ऋत्विग्भिः, निघ० ३ । १८ । **सा** । सा त्वम् । **नः** । अस्मान् । **पयसा** । दुग्धेन । **अभ्याववृत्स्व** । **बहुलं छन्दसि** (पा० २ । ४ । ७६) इति वृते । शपः श्लुः । अभितः आगत्य वर्त्तस्व **ऊर्जस्वती** । बलवती । **घृतवत्** । यथा तथा घृतयुक्तेन अन्नेन । **पिन्वमाना** । पिवि सेचने—शानच् । आत्मनेपदं छान्दसम् । सिञ्चन्ती । वर्धयन्ती ॥

सूक्तम् १८ ॥

१--६ ॥ ऋषिः--इन्द्राणी । देवता–उपनिषत्सपत्नीबाधनम् । १--५ अनुष्टुप्, ६ पङ्क्तिः ॥

उपनिषत्सपत्नीबाधनोपदेश –ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या के नाश का उपदेश ॥

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

इमाम् । खनामि । ओषधिम् । वीरुधाम् । बलवत्ऽतमाम् ।
यया । सुऽपत्नीम् । बाधते । यया । सम्ऽविन्दते । पतिम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(वीरुधाम्) उगती हुई लताओ [सृष्टि के पदार्थों] मे (इमाम्) इस (बलवत्तमाम्) बडी बल वाली (ओषधिम्) रोग नाशक ओषधि [ब्रह्मविद्या] को (खनामि) मैं खोदता हूँ, (यया) जिस [ओषधि] से [प्राणी] (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (बाधते) हटाता है, और (यया)

१—**इमाम्** । प्रत्यक्षाम् । **खनामि** । खनु अवदारणे । खननेन अन्वेषणेन सपादयामि । **ओषधिम्** । अ० १ । २३ । १ । रोगनाशिका ब्रह्मविद्याम् । **वीरुधाम्** । अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीलाना लतारूपाना प्रजाना मध्ये । **बलवत्तमाम्** । बलवत्–तमप्, टाप् । अतिशयेन बलवतीम् । **यया** । ओषध्या । **सपत्नीम्** । पाति रक्षतीति पति । **पातेर्डतिः** (उ० ४ । ५७) समान पति यस्या सा सपत्नी । **नित्यं सपत्न्यादिषु** (पा० ४ । १ । ३५) इति ङीप् नकारान्तादेशश्च । ब्रह्मविद्याविरोधिनी अविद्याम् । **बाधते** । विहन्ति ।

---

१ सपत्नी से अभिप्राय यहाँ सपत्नी के समान दु ख देने वाली है । स्वामी जी महाराज ने ऋग्वेदभाष्य मे सपत्नी इव वर्त्तमाने (ऋ०, द० भा० ३ । ६ । ४) यथा अनेका पत्न्य समानमेकपति दु खयन्ति (ऋ०, द० भा० १ । १०५ । ८) ऐसा ही अर्थ किया है, सो यहाँ लुप्तोपमालङ्कार से अर्थ होगा-सपत्नी के समान कष्ट देने वाली जो ब्रह्मविद्या विरोधिनी अविद्या ॥ सम्पा० ॥

जिससे (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को (सविन्दते) यथावत् पाता है ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य ब्रह्मविद्या परिश्रम पूर्वक प्राप्त करे । ईश्वर ज्ञान से ही विज्ञान बढकर मिथ्याज्ञान का नाश होकर परम ऐश्वर्य वा मोक्ष मिलता है ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद म० १० । १४५ । १–६ मे है । अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋग्वेदसहिता, मोहमयी [मुम्बई] की शाकलऋक्सहिता, और ऋग्वेदीय सायणभाष्य मे "उपनिषत्सपत्नीबाधनम्" इस सूक्त का देवता लिखा है, इससे इस सूक्त मे ब्रह्मविद्या का ही उपदेश है ॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

उत्तानऽपर्णे । सुऽभगे । देवऽजूते । सहस्वति । सुऽपत्नीम् । मे । परा । नुद । पतिम् । मे । केवलम् । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थः—(उत्तानपर्णे) हे विस्तृत पालन वाली ! (सुभगे) हे बडे ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) हे विद्वानो करके प्राप्त की हुई ! (सहस्वति) हे बलवती [ब्रह्मविद्या] ! (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (परा नुद) दूर हटा दे और (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर

सविन्दते । सम्यक् लभते । **पतिम्** । **पातेर्डतिः** (उ० ४ । ५७) इति पा रक्षणे डति । यद्वा । **सर्वधातुभ्य इन्** (उ० ४ । ११८) इति पत गतौ–इन् सर्वरक्षकम् । ऐश्वर्यवन्त परमेश्वरम् ॥

२—**उत्तानपर्णे** । उत्+तनु विस्तारे–घञ् । **धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः** (उ० ३ । ६) इति पॄ पालनपूरणयो –न । हे उत्तमतया विस्तृतपालनयुक्ते । **सुभगे** । हे सौभाग्यहेतुभूते । **देवजूते** । जु[1] गतौ–क्त । विद्वद्भि प्राप्ते । **सहस्वति** । हे बलवति ब्रह्मविद्ये । **सपत्नीम्** । म० १ । विरोधिनीम् । अविद्याम् । **मे** । मम । **परा णुद** । पराङ्मुखी गमय । **पतिम्** । म० १ । **केवलम्** । **वृषादिभ्यश्चित्** (उ० १ । १०६) इति केवृ सेवने–कलच् । निर्णीतम् । सेवनीयम् ।

---

१. जु सौत्र पाठ की धातु है । द्र० काशि० ३ । २ । १५० ॥ सम्पा० ॥

को (मे) मेरा (केवलम्) सेवनीय (कृधि) कर ॥ २ ॥

भावार्थः—अनन्यवृत्ति पुरुष ब्रह्मविद्या से अविद्या को हटाकर आनन्द स्वरूप जगदीश्वर को जानकर आनन्द भोगता है ॥ २ ॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

नहि । ते । नाम । जग्राह । नो इति । अस्मिन् । रमसे । पतौ । पराम् । एव । पराऽवतम् । सऽपत्नीम् । गमयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे सपत्नी अविद्या] (ते) तेरा (नाम) नाम (नहि) कभी नही (जग्राह) मैने लिया है, (अस्मिन्) इस (पतौ) जगत् पति परमेश्वर मे (नो) कभी नही (रमसे) तू रमण करती है। (पराम्) बैरिनि (सपत्नीम्) विरोध डालने वाली [अविद्या] को (परावतम् एव) बहुत दूर ही (गमयामसि) हम पहुँचाते है ॥ ३ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग अविद्या का मान न करके अविद्या रहित सर्वविद्यायुक्त परमात्मा का ध्यान करते, और अविद्या को हटाकर सत्यज्ञान पाते है ॥३॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

कृधि । कुरु ॥

३—**नहि** । न । **ते** । तव । **नाम** । **नामन्सीमन्व्योमन्०** (उ० ४ । १५१) इति म्ना अभ्यासे- मनिन् । नामधेयम् । **जग्राह** । अहं गृहीतवान् । **नो** । नैव । **अस्मिन्** । प्रसिद्धे । **रमसे** । त्वं क्रीडसि । **पतौ** । म० १ । छान्दसी घिसंज्ञा । पत्यौ । परमेश्वरे । **पराम्** । **ऋदोरप्** (पा० ३ । ३ । ५७) इति पॄ पालनपूरणयो —अपादाने अप् । टाप् । शत्रुम् । वैरिणीम् । **एव** । अवश्यम् । **परावतम्** । अ० ३ । ४ । ५ । दूरदेशगतम् । **सपत्नीम्** । म० १ । विरोधिनीम् । **गमयामसि** । गमयाम । प्रापयाम ॥

उत्ऽतरा । अहम् । उत्ऽतरे । उत्ऽतरा । इत् । उत्ऽतराभ्यः ।
अधः । सुऽपत्नी । या । मम । अधरा । सा । अधराभ्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(उत्तरे) हे अति उत्तम [ब्रह्मविद्या] (अहम्) मै [प्रजा] (उत्तरा) अधिक उत्तम [भूयासम्=हो जाऊँ], (उत्तराभ्य) अन्य उत्तम [पशु आदि प्रजाओ] से (इत्) तो (उत्तरा) अधिक उत्तम [प्रजा अस्मि= प्रजा हूँ] (मम) मेरी (या) जो (अधरा) नीच (सपत्नी) विरोधिनी [अविद्या है], (सा) वह (अधराभ्य) नीच [विपत्तियो] से (अध) नीची है ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्य सब पशु आदि प्राणियो से उत्तम है, इससे वह सब उत्तम विद्याओ मे परम उत्तम ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सर्वोत्कृष्ट होवे, और सब विपत्तियो वा क्लेशो के मूल अविद्या को निकालता रहे ॥ ४ ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनूविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ यो०द० २ । ३, ४ ॥

१—(अविद्या) मिथ्याज्ञान २—(अस्मिता) अहङ्कार, ३—(राग) राग, वा तृष्णा, ४—(द्वेष) द्वेष वा घृणा, और ५—(अभिनिवेश) शरीर से प्रीति वा मरण से भय, यह पाच क्लेश है ॥

अविद्या पिछले चार [अस्मिता आदि] का खेत है, चाहे वे १—सोते हुए २—सूक्ष्म, ३—दबे हुये, वा ४—फैले हुये हो ॥

४—**उत्तरा** । उत्कृष्टतरा । **अहम्** । मनुष्यरूपी प्रजा । **उत्तरे** । हे उत्कृष्टतरे ब्रह्मविद्ये । **उत्तराभ्यः** । अन्यपश्वादिप्रजाभ्य उत्कृष्टतराभ्य । **अधः** । अधस्तात् । **सपत्नी** । म० १ । विरोधिनी । अविद्या । **अधरा** । अन्यनिकृष्टाभ्यो विपत्तिभ्य ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

अहम् । अस्मि । सहमाना । अथो इति । त्वम् । असि । ससहिः[1] ।
उभे इति । सहस्वती इति । भूत्वा । सऽपत्नीम् । मे । सहावहै ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे विद्या] (अहम्) मै (सहमाना) जयशील [प्रजा] (अस्मि) हूँ, (अथो) और (त्वम्) तू भी (सासहिः = ससहि) जयशील (असि) है। (उभे) दोनो हम [तू और मै] (सहस्वती = ०–त्यौ) जयशील (भूत्वा) होकर (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (सहावहै) जीत ले ॥ ५ ॥

भावार्थः—योगी जन ब्रह्मविद्या मे एकवृत्ति होकर अविद्या को जीतकर आनन्द भोगते है ॥ ५ ॥

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् । मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अभि । ते । अधाम् । सहमानाम् । उप । ते । अधाम् । सहीयसीम् । माम् । अनु । प्र । ते । मनः । वत्सम् । गौःऽइव । धावतु । पथा । वाःऽइव । धावतु ॥ ६ ॥

५—**सहमाना** । षह मर्षणे—शानच् । अभिभवित्री प्रजा । **अथो** । अपि च । **सासहिः** । **सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ** (वा० पा० ३ । २ । १७१) इति यङन्तात् षहधातो किप्रत्यय । अभिभवित्री । **उभे** । त्व च अह च, आवाम् । **सहस्वती** । **सुपां सुलुक्०** (पा० ७ । १ । ३९) इति विभक्ते. पूर्वसवर्णदीर्घ । अभिभवनवत्यौ । जयशीले । **सपत्नीम्** । म० १ । विरोधिनीम्, अविद्याम् । **सहावहै** । षह अभिभवे लोट् । आवाम् अभिभवाव ॥

---

१ यङन्त षह धातु से 'सासहि' बनाने पर इसका पदपाठ सासहि ही होना चाहिये, ससहि नही । सायणानुसारी कतिपय पुस्तको मे 'सासहि' ही पदपाठ दिखाया है । ऋग्वेद सायणभाष्य मे वावहि (ऋ० ६ । ६ । ६) का पदपाठ भी दीर्घ ही रखा है, अत यहाँ 'ससहि' ह्रस्व पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ॥ सम्पा० ॥

भाषार्थः—[हे जीव !] (ते) तेरे लिये (सहमानाम्) प्रबल [अविद्या] को (अभि=अभिभूय) हराकर (अधाम्) मैंने रक्खा है, और (ते) तेरे लिये (सहीयसीम्) अधिक प्रबल [ब्रह्मविद्या] को (उप) आदर से (अधाम्) मैंने रक्खा है, सो (ते मनः) तेरा मन (माम् अनु) मेरे पीछे पीछे [योगी के स्वरूप में] (प्रधावतु) दौड़ता रहे और (धावतु) दौड़ता रहे, (गौः इव) जैसे गौ (वत्सम्) अपने बछड़े के पीछे, और (वाः इव) जैसे जल (पथा) अपने मार्ग से [दौड़ता है] ॥ ६ ॥

भावार्थः—योगी वृत्तियों के निरोध से अविद्या को जीतकर स्वरूप अर्थात् अपनी और परमात्मा की शक्ति को जानकर परोपकार में आगे बढ़ता है, जैसे स्वभाव से गौ अपने छोटे बच्चे के पीछे दौड़ती फिरती है और पानी नीचे मार्ग से समुद्र को चला जाता है ॥ ६ ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ यो० द० १ । २, ३ ॥

योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है ॥ १ ॥

तब देखने वाले को अपने रूप में चित्त का ठहराव होता है ॥ २ ॥

सूक्तम् १९ ॥

१—८ ॥ **पुरोहितो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, द्वितीयोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप् ६, उद्धर्षन्तां मघवन् इति त्रिष्टुप्, पृथग् घोषा-**

६—**अभि** । अभिभूय । जित्वा । **ते** । तव हिताय । **अधाम्** । डुधाञ् धारणपोषणयोः—लुङ् । अहम् अधार्षम । **सहमानाम्** । म० ५ । प्रबलाम् अविद्याम् । **उप** । पूजायाम् । **सहीयसीम्** । सोढृ—ईयसुन् । सोढृतराम् । बलवत्तरां ब्रह्मविद्याम् । **माम्** । योगिनम् । **अनु** । अनुसृत्य । **ते** । तव । **मनः** । चित्तम् । **वत्सम्** । गोशिशुम् । **गौः इव** । धेनुर्यथा । **प्रधावतु** । प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छतु । **पथा** । मार्गेण । **वाः** । अ० ३ । १३ । ३ । जलम् ॥

इत्यनुष्टुप्, ७ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयस्त्रिष्टुप्, ८ पङ्क्तिः ॥

युद्धविद्याया उपदेश —युद्धविद्या का उपदेश ॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

सम्ऽशितम् । मे । इदम् । ब्रह्म । सम्ऽशितम् । वीर्यम् । बलम् ।
सम्ऽशितम् । क्षत्रम् । अजरम् । अस्तु । जिष्णुः । येषाम् । अस्मि ।
पुरःऽहितः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये [इन वीरो को] (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदज्ञान वा अन्न वा धन (सशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, और (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल (सशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, (सशितम्) यथाविधि सिद्ध किया हुआ (क्षत्रम्) राज्य (अजरम्) अटल (अस्तु) होवे, (येषाम्) जिनका मै (जिष्णु) विजयी (पुरोहित) पुरोहित अर्थात् प्रधान (अस्मि) हूँ ॥ १ ॥

१—सशितम । सम्+शो तनूकरणे–क्त । सम्यक् सम्पादित साधितम् । **मे** । मदर्थम् । **इदम्** । प्रसिद्धम् । **ब्रह्म** । प्रवृद्ध वेदज्ञानम् । अन्नम्, निघ० २ । ७ । धनम्, निघ० २ । १० । **वीर्यम्** । वीर—भावे यत् । वीरता । **बलम्** । सैन्यम् । **क्षत्रम्** । अ० २ । १५ । ४ । क्षत्रियकुलम् । राज्यम् । **अजरम्** । जरारहितम् । **जिष्णुः** । **ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः** (पा० ३ । २ । १३९) इति जि जये–ग्स्नु । विजयी । **येषाम्** । योद्धॄणाम् । **पुरोहितः** । पुरस्+ डुधाञ् धारणपोषणयो —क्त । **पूर्वाधरावराणामसि०** (पा० ५ । ३ । ३९) इति पूर्व असि , पुर् आदेश । **दधातेर्हिः** (पा० ७ । ४ । ४२) इति हि । पुरोहित पुर एन दधति । होत्राय वृत कृपायमाणोऽन्वध्यायत्–निरु० २ । १२ । पूर्वम् अग्रे कर्मसु धीयते, आरोप्यते य । प्रधान । अग्रसर. ॥

भावार्थः—सेनापति राजा विद्या, अन्न, और धन आदि की यथावत् वृद्धि करके अपने वीरो और सेना का उत्साह बढाता रहे, जिससे राज्य चिरस्थायी हो ॥ १ ॥

सम॒हमे॑षां रा॒ष्ट्रं स्या॑मि॒ समोजो॑ वी॒र्यं१॒ बलं॑म् ।
वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेनं॑ ह॒विषा॒हम् ॥ २ ॥

सम् । अ॒हम् । ए॒षाम् । रा॒ष्ट्रम् । स्या॒मि॒ । सम् । ओजः । वी॒र्य॑म् । बलं॑म् । वृ॒श्चामि॑ । शत्रू॑णाम् । बा॒हून् । अ॒नेनं॑ । ह॒विषा॑ । अ॒हम् ॥२॥

भाषार्थः (अहम्) मै (एषाम्) इन [अपने वीरो] के (राष्ट्रम्) राज्य (ओज) शारीरिक बल, (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल को (सम्) भले प्रकार (सस्यामि) जोडता हू । (अहम्) मै (शत्रूणाम्) शत्रुओ की (बाहून्) भुजाओ को (अनेन) इस (हविषा) अन्न वा आवाहन से (वृश्चामि) काटता हू ॥ २ ॥

भावार्थः—राजा सत्कार पूर्वक अपने वीरो को, सामाजिक शारीरिक और 'हविषा' आर्थिक दशा के सुधार से, सन्तुष्ट रखकर शत्रुओ का नाश करे ॥ २ ॥

नी॒चैः प॑द्यन्ता॒मध॑रे भवन्तु॒ ये नः॑ सू॒रिं म॒घवा॑नं पृत॒न्यान् ।
क्षि॒णामि॒ ब्रह्म॑णा॒मित्रा॒नुन्न॑यामि॒ स्वान॒हम् ॥ ३ ॥

२—**सम्** । सम्यक् प्रकारेण । **अहम्** । पुरोहित । राजा । **एषाम्** । स्ववीराणाम् । **राष्ट्रम्** । अ० ३ । ४ । १ । राज्यम् । **संस्यामि** । षो अन्तकर्मणि । सम्+षो सयोजने । सयोजयामि । वर्धयामि । दृढीकरोमि । **ओजः** । अ० १ । १२ । १ । शारीरिकबलम् । **वीर्यम्** । वीरताम् । **बलम्** । सैन्यम् । **वृश्चामि** । ओव्रश्चू छेदने । छिनद्मि । **बाहून्** । भुजान् । पराक्रमान् । **हविषा** अ० १ । ४ । ३ । अन्नेन आवाहनेन ॥

नीचैः । पद्यन्ताम् । अधरे । भवन्तु । ये । नः । सूरिम् । मघऽवानम् । पृतन्यान् । क्षिणामि । ब्रह्मणा । अमित्रान् । उत् । नयामि । स्वान् । अहम् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—वे [शत्रु] (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) गिरे और (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहे, (ये) जो (न) हमारे (मघवानम्) धनी (सूरिम्) सूरमा राजा पर (पृतन्यान्) सेना चढावे ।

(अहम्) मै (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अमित्रान्) शत्रुओ को (क्षिणामि) मारे डालता हूँ और (स्वान्) अपने लोगो को (उन्नयामि) ऊँचा करता हूँ ॥३॥

भावार्थः—सैनिक लोग ललकार कर वैरियो पर धावा करके मार गिरावे, और राजा उन अपने वीरो को ऊँची २ पदवी देवे ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

तीक्ष्णीयांसः । परशोः । अग्नेः । तीक्ष्णऽतराः । उत । इन्द्रस्य । वज्रात् । तीक्ष्णीयांसः । येषाम् । अस्मि । पुरःऽहितः ॥ ४ ॥

३—**नीचैः** । अवाङ्मुखाः । **पद्यन्ताम्** । पतन्तु । **अधरे** । निकृष्टा । पादाक्रान्ता । **नः** । अस्माकम् । **सूरिम्** । **सूङः क्रिः** (उ० ४ । ६४) इति षूङ प्राणिप्रसवे, षू प्रेरणे वा—क्रिः । सूते अर्थान् । सुवति शत्रून् । शूरम् । राजानम् । पण्डितम् । **मघवानम्** । मघम् = धनम् । निघ० २ । १० । मत्वर्थीयो वनिप् । प्रभूतधनवन्तम् । **पृतन्यान्** । **सुप आत्मनः क्यच्** (पा० ३।१।८) इति पृतना—क्यच् । **कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः** (पा० ७ । ४ । ३९) इति क्यचि पृतना-शब्दस्य अन्त्यलोपः । लेटि आडागम । पृतन्यन्तु पृतना सेनाम् आत्मन इच्छन्तु । **क्षिणामि** । क्षि हिसायाम् । नाशयामि । **ब्रह्मणा** । वेदज्ञानेन । शास्त्रबोधेन । **अमित्रान्** । अ० १ । १९ । २ । पीडकान् । **उत् नयामि** । उन्नतान् करोमि । **स्वान्** । स्वकीयान् वीरान् । **अहम्** । सेनापति ॥

भाषार्थः—वे वीर (परशो) परसे [कुल्हाडी] से (तीक्ष्णीयास) अधिक तीक्ष्ण, (अग्ने) अग्नि से (तीक्ष्णतरा) अधिक तीक्ष्ण (उत) और (इन्द्रस्य) मेघ के (वज्रात) वज्र [बिजुली] से (तीक्ष्णीयास) अधिक तीक्ष्ण है, (येषाम्) जिनका मै (पुरोहित) पुरोहित वा मुखिया (अस्मि) हू ॥ ४ ॥

भावार्थः—सेनापति अपनी सेना का आत्मबल बढावे। आत्मबल से अस्त्र शस्त्र आदि की अपेक्षा अधिक कार्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे ३ षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥५॥

एषाम् । अहम् । आयुधा । सम् । स्यामि । एषाम् । राष्ट्रम् । सुऽवीरम् । वर्धयामि । एषाम् । क्षत्रम् । अजरम् । अस्तु । जिष्णु । एषाम् । चित्तम् । विश्वे । अवन्तु । देवाः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अहम्) मै (एषाम्) इन [वीरो] के (आयुधा = ०—नि)

४—**तीक्ष्णीयांसः** । तीक्ष्ण—ईयसुन् । आत्मबले तीक्ष्णतरा । **परशोः** । **आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च** (उ० १।३३) इति शॄ हिंसायाम्-कु, स च डित । परान् शत्रून् शृणाति येन । अस्त्रविशेषात् । कुठारात् । **अग्नेः** । पावकात् । **तीक्ष्णतराः** । तीक्ष्ण—तरप । निशिततरा । **उत** । अपि च । **इन्द्रस्य** । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान —निरु० ७ । ५ । मेघस्य । **वज्रात्** । विद्युत । अन्यद्गतम्—म० १ ॥

५—**एषाम्** । स्ववीराणाम् । **अहम्** । पुरोहित , सेनापति । **आयुधा** । आङ्+युध सम्प्रहारे-करणे घञर्थे क । प्रहरणसाधनानि । बाणखड्गकुन्तादीनि । **संस्यामि**

हथियारो को (सस्यामि) जोडता हूँ [दृढ करता हूँ], (एषाम्) इनके (सुवीरम्) साहसी वीरो वाले (राष्ट्रम्) राज्य को (वर्धयामि) बढाता हूँ, (एषाम्) इनका (क्षत्रम्) क्षत्रियपन (अजरम्) अजर [अटल] और (जिष्णु) विजयी (अस्तु) होवे। (विश्वे) सब (देवा) दिव्य [विजयी, कमनीय, वा प्रशसनीय धार्मिक] गुण (एषाम्) इनके (चित्तम्) चित्त को (अवन्तु) तृप्त करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—चतुर सेनापति अपने योधाओ के बाण [तोप, तुपक, धनुषादि,] तरवारि, शक्ति, भाले आदि अस्त्र शस्त्र धनुर्वेद की रीति से दृढ बनवावे, और प्रसिद्ध वीरो का पद बढाकर उत्साह बढावे ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः। पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

उत्। हर्षन्ताम्। मघऽवन्। वाजिनानि। उत्। वीराणाम्। जयताम्। एतु। घोषः। पृथक्। घोषाः। उलुलयः। केतुऽमन्तः। उत्। ईरताम्। देवाः। इन्द्रऽज्येष्ठाः। मरुतः। यन्तु। सेनया ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे बडे धनी राजन्! (वाजिनानि) सेना दल

राष्ट्रम्। म० २। **सुवीरम्**। शोभनवीरयुक्तम्। **वर्धयामि**। समर्धयामि। **क्षत्रम्**। क्षतात् त्रायक क्षत्रियत्वम्। **अजरम्**। जरारहित सुदृढम्। **जिष्णु**। म० १। **चित्तम्**। अन्त करणम्। **विश्वे**। सर्वे। **अवन्तु**। तर्पयन्तु। **देवाः**। दिवु विजिगीषाकान्तिस्तुत्यादिषु-अच्। दिव्यानि विजयशीलानि, काम्यानि, स्तुत्यानि, धार्मिककर्माणि ॥

६—**उत् हर्षन्ताम्**। उत्कर्षेण हर्षयुक्तानि भवन्तु। **मघवन्**। म० ३। हे

(उत् हर्षन्ताम्) मन को ऊचा उठावे और (जयताम्) जीतते हुये (वीराणाम्) वीरो का (घोष) जयजयकार वा सिंहनाद (उत् एतु) ऊचा उठे।

(उलुलय) जलाने वालो के जलाने वाले, (केतुमन्त) ऊचे झण्डा वाले (घोषा) जयजयकार शब्द (पृथक्) नाना रूप मे (उत् ईरताम्) ऊपर चढे ।

(इन्द्रज्येष्ठा) इन्द्र प्रतापी पुरुष को ज्येष्ठ वा स्वामी रखने वाले (मरुत) शूर (देवा) जय चाहने वाले देवता लोग (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चले ॥ ६ ॥

भावार्थः—समस्त सेनादल बडी उमग से व्यूह बनाकर नानारूप मे मारू बाजे गाजे के साथ 'जय जय" करते हुए आगे बढे और सब दलपति लोग प्रधान सेनापति की आज्ञानुसार अपनी २ टुकरी लेकर धावा करे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद १० । १०३ । १० और यजुर्वेद १७।४२ । मे है ॥

प्रेता जयंता नर उग्रा वंः सन्तु बाहवंः । तीक्ष्णेषंवोऽबलधंन्वनो हतोग्रायुंधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

प्र । इत । जयंत । नरः । उग्राः । वः । सन्तु । बाहवंः ।

बहुधनवत् । **वाजिनानि** । **महेरिनण् च** (उ० २ । ५६) इति वज गतौ—इनण् । बलानि हस्त्यश्वरथादीनि । वाज =बलम् । निघ० २ । ६ । **वीराणाम्** । शूराणाम् । **जयताम्** । जि—शतृ । जय प्राप्नुवताम् । **उत् एतु** । उद्गच्छतु । **घोषः** । जयजयकार । सिंहनाद । **पृथक्** । नानारूपे । **उलुलयः** । उल् + उलय । उल दाहे—क्विप् । **इगुपधात् कित्** (उ० ४ । १२०) इति उल दाहे—इन्, स च कित् । इति उलुलि । उला दाहकानाम् उलयो दाहका शत्रुनाशका । **केतुमन्तः** । पताकायुक्ता । **उत् ईरताम्** । ईर गतौ अदादि, उद्गच्छन्तु । **देवाः** । विजिगीषव । **इन्द्रज्येष्ठाः** । इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुरुषो ज्येष्ठ श्रेष्ठो वृद्धो वा स्वामी येषा ते तथाविधा । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । मारयन्ति दुष्टान् शूरा देवाः । **यन्तु** । गच्छन्तु । **सेनया** । स्वस्वसेनया सार्धम् ॥

तीक्ष्णऽइषवः । अबलऽधन्वनः । हत । उग्रऽआयुधाः । अबलान् । उग्रऽबाहवः ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(नर) हे नरो (प्र इत) धावा करो, (जयत) जीतो । (व) तुम्हारी (बाहव) भुजाये (उग्रा) प्रचण्ड [कट्टर] (सन्तु) होवे । (तीक्ष्णेषव) हे तीखे बाण वाले ! (उग्रायुधा) हे कट्टर हथियारो वाले (उग्रबाहव) हे कट्टर भुजाओ वाले वीरो ! (अबलधन्वन) निर्बल धनुष वाले (अबलान्) निर्बल [शत्रुओ] को (हत) मारो ॥ ७ ॥

भावार्थः—'प्रेता जयता' पदो मे दीर्घत्त्व उत्साह के लिये है । सेनापति की आज्ञा से सब सैनिक लोग उमग के साथ मारू बजाते गाते धावा करके तुच्छ बैरियो को मारे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद १० । १०३ । १३ । और यजुर्वेद १७।४६ मे है ।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥

अवऽसृष्टा । परा । पत । शरव्ये । ब्रह्मऽसशिते । जय । अमित्रान् । प्र । पद्यस्व । जहि । एषाम् । वरम्ऽवरम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥ ८ ॥

७—**प्र इत** । प्रक्रम्य रणक्षेत्र गच्छत । **जयत** । अभिभवत । उभयत्र बलवर्धनाय साहितिको दोर्घ । **नरः** । अ० ३ । १७ । ६ । हे नेतारः । **उग्राः** । प्रचण्डा । **वः** । युष्माकम् । **बाहवः** । भुजा । **तीक्ष्णेषवः** । निशितबाणाद्यायुधयुक्ताः । **अबलधन्वनः** । निर्बलधनुराद्यायुधोपेतान् । **हत** । नाशयत । **उग्रायुधाः** । निशिततरवारिशक्त्याद्यायुधयुक्ता । **अबलान्** । निर्बलान् । **उग्रबाहवः** । दृढभुजा. ॥

भाषार्थः—(ब्रह्मसंशिते) हे ब्रह्माओ, वेदवेत्ताओं से प्रशंसित वा यथावत् तीक्ष्ण की हुई (शरव्ये) बाण विद्या में चतुर सेना ! (अवसृष्टा) छोडी हुई तू (परा) पराक्रम के साथ (पत) झपट। (अमित्रान्) बैरियों को (जय) जीत, (प्र पद्यस्व) आगे बढ, (एषाम्) इनमें से (वरंवरम्) एक एक बडे वीर को (जहि) मार डाल, (अमीषाम्) इनमें से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूटे ।। ८ ।।

भावार्थः—धर्मज्ञ और युद्ध विद्या में कुशल आचार्यों से शिक्षा पाकर सेना के स्त्री पुरुष सेनापति की आज्ञा पाते ही उमंग से धावा करके शत्रुओं को मार गिरावें ।। ८ ।।

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६।७५।१६। और यजुर्वेद १७। ४१। में है ।।

सूक्तम् २० ।।

१–१० ।। १, २, ५, अग्निर्देवता, अन्यत्र मन्त्रोक्ता देवताः । १–५, ७, ९, १० अनुष्टुप्, ६ पङ्क्तिः, ८ जगती ।।

ब्रह्मज्ञानोपदेश —ब्रह्मविद्या का उपदेश ।।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः ।

८—**अवसृष्टा** । सृज्–क्त । प्रेरिता । **परा** । पराक्रमेण । **पत** । शीघ्रं गच्छ । **शरव्ये** । अ० १ । १९ । १ । शरु–यत् । हे शरौ बाणविद्यायां कुशले सेने । **ब्रह्मसंशिते** । ब्रह्मभिर्वेदवेत्तृभिः प्रशंसिते वा सम्यक् शिते तीक्ष्णीकृते सुशिक्षिते । **एषाम्** । शत्रूणां मध्ये । **वरंवरम्** । अभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्ते– निरु० १० । ४२ । प्रत्येकं श्रेष्ठं वीरम् । **अमीषाम्** । दूरे दृश्यमानानां वैरिणां मध्ये । **कश्चन** । कोऽपि । **मा मोचि** । मुच्लृ मोचने–कर्मणि माङि लुङि रूपम् । मुक्तो मा भूत् । अन्यत् सुगमम् ।।

तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अर्ध । नः । वर्धय । रयिम् ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [सर्वव्यापी परमेश्वर] (ते) तेरा (ऋत्विय) सब ऋतुओ [कालो] मे मिलने वाला (योनि) कारण है, (यत) जिससे (जात) प्रकट होकर (अरोचथा) तू प्रकाशमान हुआ है, (तम्) उस [योनि] को (जानन्) पहिचान कर (आ रोह) ऊचा चढ, (अथ) और (न) हमारे लिये (रयिम्) धन (वर्धय) बढा ॥ १ ॥

भावार्थः—परमात्मा ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता से हमे बडा समर्थ और उपकारी मनुष्य देह दिया है । ऐसा जानकर हम अपना ऐश्वर्य बढावे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ३ । २९ । १० । और यजुवद ३ । १४ और १२ । ५२ एव १५ । ५६ । मे है ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

अग्ने । अच्छं । वद । इह । नः । प्रत्यङ् । नः । सुऽमनाः । भव ।
प्र । नः । यच्छ । विशाम् । पते । धनऽदाः । असि । नः । त्वम् ॥ २ ॥

१—**अयम्** । सर्वत्र दृश्यमान । **ते** । तव । **योनिः** । अ० १ । ११ । ३ । कारणम् । **ऋत्वियः** । **अर्त्तेश्च तुः** (उ०१।७२) ऋ गतौ-तु , चकारात् कित् । **छन्दसि घस्** (पा० ५ । १ । १०६) इति ऋतुशब्दात् तदस्य प्राप्तमित्यर्थे घस् । इयादेश. । सर्वेषु ऋतुषु कालेषु प्राप्त । **यतः** । यस्माद् योने । **जातः** । उत्पन्न । प्रकट सन् । **अरोचथाः** । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च लङ् । त्वम् अदीप्यथा । दीप्तोऽभव' । **तम्** । योनिम् । **जानन्** । अवगच्छन् । **अग्ने** । अगि गतौ—नि । हे विद्वन् । **आ रोह** । उन्नति प्राप्नुहि । **अथ** । अनन्तरम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **वर्धय** । समर्धय । **रयिम्** । धनम् । ऐश्वर्यम् ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अच्छ) अच्छे प्रकार से (इह) यहा पर (न) हमसे (वद) बोल, और (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (न) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न मन (भव) हो। (विशाम् पते) हे प्रजाओ के रक्षक ! (न) हमे (प्र यच्छ) दान दे, (त्वम्) तू (नः) हमारा (धनदा) धन दाता (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थः—सब मनुष्य विद्वानो से विद्या ग्रहण करके ससार मे ऐश्वर्य प्राप्त करे ॥ २ ॥

मन्त्र २७ ऋग्वेद म० १० सू० १४१ म० १-५ मे कुछ भेद से है। यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० २८ मे है ॥

प्र णो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र भग॒ः प्र बृह॒स्पति॑ः ।
प्र दे॒वीः प्रोत सू॒नृता॑ र॒यिं दे॒वो द॑धातु मे ॥ ३ ॥

प्र । न॒ः । य॒च्छ॒तु । अ॒र्य॒मा । प्र । भग॑ः । प्र । बृह॒स्पति॑ः ।
प्र । दे॒वीः । प्र । उ॒त । सू॒नृता॑ । र॒यिम् । दे॒वी । द॒धा॒तु । मे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अर्यमा) बैरियो का नियन्ता वीर पुरुष, (प्र) अच्छे प्रकार (भग) ऐश्वर्यवान् धनी पुरुष (प्र) अच्छे प्रकार, और (बृहस्पति) बडी बडी विद्याओ का स्वामी, प्रधान आचार्य (प्र) अच्छे प्रकार (नः) हमे (देवीः)

२—**अग्ने** । हे विद्वन् । **अच्छ** । सम्यक् । **वद** । ब्रूहि । उपदिश । **इह** । अत्र समाजे । **प्रत्यङ्** । प्रत्यञ्चन् अभिमुख गच्छन् । **नः** । अस्मान् । अस्मभ्यम् । **सुमनाः** । प्रीतिमना । **प्र यच्छ** । दान कुरु । **विशांपते** । हे प्रजाना पालक । **धनदाः** । धन+दा—विच् । ऐश्वर्यस्य दाता । अन्यत् सुगमम् ॥

३—**नः** । अस्मभ्यम् । **प्र यच्छतु** । ददातु । **अर्यमा** । अ० १ । ११ । १ । अ० ३ । १४ । २ । शत्रुनियन्ता । **प्र** । प्रकर्षेण । **भगः** । ऐश्वर्यवान् पुरुष । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । बृहता बोधाना पालक । आचार्य । **देवीः** ।

दिव्य शक्तियाँ (प्र यच्छतु) प्रदान करे। (उत) और (सूनृता) प्रिय सत्य वाणी (देवी) देवी [दिव्य गुण वाली] (मे) मुझे (रयिम्) ऐश्वर्य (प्र) अच्छे प्रकार (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य, विशेष गुणी आचार्यो से विशेष शिक्षाये पाकर, सत्यवादी सत्यकर्मी होकर ऐश्वर्यवान् होवे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ६। २६। मे है ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्निम् । गीःऽभिः । हवामहे ।
आदित्यम् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्माणम् । च । बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अवसे) रक्षा के लिये (गीर्भि) स्तुतियो से (सोमम्) ऐश्वर्य के कारण, (राजानम्) सबके शासक (अग्निम्) विद्वान् (आदित्यम्) बडे दीप्यमान, (विष्णुम्) सबमे व्यापक (सूर्यम्) सबके चलाने वाले, (ब्रह्माणम्) सबमे बडे वेद प्रकाशक ब्रह्मा (च) और (बृहस्पतिम्) बडे बडो के

व्यावहारिका शक्ती । **सूनृता** । अ० ३। १२। २। सत्यप्रियात्मिका वाक् । सरस्वती । **रयिम्** । ऐश्वर्यम् । **देवी** । शोभनगुणवती । **दधातु** । ददातु । **मे** । मह्यम् ॥

४—**सोमम्** । अ० १। ६। २। ऐश्वर्यहेतुम् । **राजानम्** । अ० १। १०। १। सर्वशासकम् । **अवसे** । रक्षाय । **अग्निम्** । विद्वांसम् । **गीर्भिः** । वाणीभिः। स्तुतिभि । **हवामहे** । आह्वयाम । **आदित्यम्** । अ० १। ६। १। आदीप्यमानम् । **विष्णुम्** । **विषेः किच्च** (उ० ३। ६) इति विष्लृ व्याप्तौ–णु । विष्णु, यज्ञ । निघ० ३। १७। पदनाम, निघ० ४।२। यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा । व्यश्नोतेर्वा–निरु० १२। १८। व्यापकम् । **सूर्यम्** । अ० १। ३। ५। सर्वप्रेरकम् । **ब्रह्माणम्** । अ० २। ६। २ सर्ववृद्धम् । वेदप्रका-

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा न सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

इन्द्रवायू इति । उभौ । इह । सुऽहवा । इह । हवामहे । यथा । नः । सर्वः । इत् । जनः । सम्ऽगत्याम् । सुऽमनाः । असत् । दानऽकामः । च । नः । भुवत् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(उभौ) दोनो (सुहवा=०—वौ) सुख से बुलाने योग्य (इन्द्रवायू) सूर्य और पवन [के समान स्त्री पुरुष] को (इह इह) यहाँ पर ही (हवामहे) हम बुलाते है, (यथा) जिससे (सर्व इत्) सभी (जन) जने (न) हमारी (सगत्याम्) सगति मे (सुमना) प्रसन्न चित्त वाले (असत्) होवे, (च) और (न) हमारी (दानकाम) दान के लिये कामना (भुवत्) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके घर मे और सभा मे परस्पर परोपकारी, प्रसन्न चित्त, धार्मिक और धर्मकार्यो में दानशील हो, जैसे सूर्य अपने प्रकाश और वृष्टि आदि से और पवन अपने चेष्टादान और शीघ्रगमन आदि से असख्य लाभ पहुँचाते है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ३३ । ६ मे है ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

६—**इन्द्रवायू । ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** (पा० १ । १ । ११) इति उभौ परे प्रकृतिभाव । सूर्यपवनसदृशौ स्त्रीपुरुषौ । **उभौ** । द्वौ । **इह इह** । अस्मिन्नेव गृहे समाजे वा । **सुहवा** । **ईषद्दुःसुषु०** (पा० ३ । ३ । १२६) सु+ह्वयते—खल् । सुहवौ सुखेन ह्वातु शक्यौ । **हवामहे** । आह्वयाम । **यथा** । यस्मात् । **नः** । अस्माकम् । **इत्** । एव । **जनः** । लोक । **संगत्याम्** । समितौ । सभायाम् । **सुमनाः** । प्रसन्नचित्त. । **असत्, भुवत्** । लेटि रूपम् । भवेत् । **दानकामः** । दानाय कामः, अभिलाष ॥

अर्यमणम् । बृहस्पतिम् । इन्द्रम् । दानाय । चोदय । वातम् । विष्णुम् । सरस्वतीम् । सवितारम् । च । वाजिनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] (अर्यमणम्) बैरियो के रोकने वाले राजा, (बृहस्पतिम्) बडे बडो के रक्षक गुरु और (इन्द्रम्) बडे ऐश्वर्य वाले पुरुष और (वातम्) पवन, (विष्णुम्) यज्ञ (च) और (वाजिनम्) वेग वाले, वा अन्नवाले, वा बलवाले (सवितारम्) लोको के चलाने वाले सूर्य से (सरस्वतीम्) विज्ञानो के भडार सरस्वती, वेद विद्या को (दानाय) दान के लिये (चोदय) प्रवृत्त कर ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर भक्त (अर्यमा) राजा वा सेनापति, (बृहस्पति) प्रधान आचार्य और (इन्द्र) दण्डनेता वा कोषाध्यक्ष आदि अधिकारी अपने २ पदो पर दृढ रह कर, पवन, सूर्य, अग्नि, जल, पृथिवी आदि अद्भुत पदार्थों द्वारा वेद-विज्ञान फैलावे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६ म० २७ मे है ॥

मनु महाराज ने लिखा है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु० १२ । १०८ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के पद, राजा के पद, और दण्ड दाताके पद और सब लोगोपर आधिपत्य [चक्रवर्त्ति राज्य] के योग्य होता है ॥७॥

७—**अर्यमणम्** । म० ३ । अरिनियन्तारम् । **बृहस्पतिम्** । म० ४ । बृहता पालकम् । **इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्त पुरुषम् । **दानाय** । त्यागाय । **चोदय** । नय । प्रवर्त्तय । अस्य धातो –णीञ् इत्येनेन सह अर्थनिबन्धनाया द्विकर्मकत्वम् । **अकथितं च** (पा० १ । ४ । ५१) इति अर्यमणमादीना सप्तपदानाम् अपादाने कर्मत्वम् । **वातम्** । पवनम् । **विष्णुम्** । म० ४ । यज्ञम् । **सरस्वतीम्** । सरोभिर्विज्ञानैर्युक्ता वेदविद्याम् । **सवितारम्** । अ० १ । १८ । २ । लोकाना प्रेरकम् । **वाजिनम्** । अ० १ । ४ । ४ । वाज—इनि । वेगवन्तम् । अन्नवन्तम् । बलवन्तम् ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः । उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

वाजस्य । नु । प्रऽसवे । सम् । बभूविम । इमा । च । विश्वा । भुवनानि । अन्तः । उत । अदित्सन्तम् । दापयतु । प्रऽजानन् । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छ ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(वाजस्य) बल के (प्रसवे) उत्पत्ति मे (नु) ही (सबभूविम) हम समर्थ हुए है, (च) और (इमा = इमानि) यह (विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोक (अन्त) [उसी के] भीतर है। (प्रजानन्) ज्ञानवान् ईश्वर (अदित्सन्तम्) देने की इच्छा न करने वाले से (उत) भी (दापयतु) दिलावे । (च) और [हे ईश्वर] (न , हमे (सर्ववीरम्) सर्ववीरो से युक्त (रयिम्) धन (नि) नित्य (यच्छ) दे ॥ ८ ॥

भावार्थः—सब चराचर जगत् अन्न के आश्रित ठहरा है। सर्वज्ञ परमेश्वर अदानी पुरुषो को भी सुपात्रो के लिये दान शक्ति देवे, और हमे और हमारे वीरो को धनी बनावे ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १९ । २५ व २४ मे है ॥

८—**वाजस्य** । बलस्य । **नु** । एव । **प्रसवे** । **ऋदोरप** (पा० ३ । ३ । ५७) इति प्र + षू प्रेरणे, यद्वा, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—अप् । उत्पत्तौ । **संबभूविम** । भू सत्तायाम्—लिट् । वय समर्था बभूविम । **इमा** । इमानि । परिदृश्यमानानि । **विश्वा** । सर्वाणि । **भुवनानि** । अ० २ । १ । ४ । भू—क्युन् । लोका । **अन्तः** । वाजप्रसवस्य मध्ये वर्त्तन्ते । **उत** । अपि । **अदित्सन्तम्** । नञ् + दा, सन्—शतृ. । **सनि मीमाघुरभ०** (पा० ७ । ४ । ५४) इति इसादेश । **सः स्यार्धधातुके** (पा० ७ । ४ । ४९) इति सस्य तकार । दातुमनिच्छन्तम् । **दापयतु** । दानाय प्रवर्तयतु । **प्रजानन्** । अवगच्छन् परमेश्वर । **रयिम्** । धनम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **सर्ववीरम्** । सर्ववीरोपेतम् । **नि** । नियमेन । नित्यम् । **यच्छतु** । **पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०** (पा० ७ । ३।७८) इति दाण् दाने यच्छादेश. । ददातु ॥

दुह्नां मे पञ्च प्रदिशो दुह्नामुर्वीर्यथाबलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

दुह्नाम् । मे । पञ्च । प्रऽदिशः । दुह्नाम् । उर्वीः । यथाऽबलम् । प्र । आपेयम् । सर्वाः । आऽकूतीः । मनसा । हृदयेन । च ॥ ९ ॥

भाषार्थः—(पञ्च) फैली हुई [वा पाच] (प्रदिश) उत्तम दान क्रियाये [वा प्रधान दिशाये] (मे) मेरे लिये (उर्वी) फैली हुई शक्तियो को (यथाबलम्) यथाशक्ति (दुह्नाम्) भरती रहे (दुह्नाम्) भरती रहे । (मनसा) मन [मनन शक्ति] से (च) और (हृदयेन) हृदय [ग्रहण शक्ति] से (सर्वा) सब (आकूती) सकल्पो को (प्र, आपेयम्) मै पाता रहू ॥ ९ ॥

भावार्थः—मनुष्य विद्या आदि के दान से अपना सामर्थ्य बढावे और सब दिशाओ से उत्तम गुण प्राप्त करे तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन [ध्यान देकर विचार] से अपने मनोरथ सिद्ध करे ॥ ॥

९—**दुह्नाम् दुह्नाम्** । दुह प्रपूरणे—लोट् । आत्मनेपदम् । **बहुलं छन्दसि** (पा० ७ । १ । ८) इति झप्रत्ययस्य अनो रुडागम । **लोपस्त आत्मनेपदेषु** (पा० ७ । १ । ४१) इति तलोप । **नित्यवीप्सयोः** (पा० ८ । १ । ४) इति द्विर्वचनम् । अभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । नित्य दुहताम् । प्रपूरयन्तु । **पञ्च** । अ० १ । ३० । ४ । पचि विस्तारवचने—कनिन् । विस्तृता । सख्यावाची वा । **प्रदिशः** । अ० १ । ३० । ४ । दिश दाने—क्विप् । प्रकृष्टा दानक्रिया । अथवा । प्राच्याद्याश्चतस्र. शिरोबिन्दुश्चेति पञ्च प्रदिश । **उर्वीः** । **वोतो गुणवचनात्** (पा० ४ । १ । ४४) इति उरु—ङीष् । विस्तीर्णा शक्ती । **यथाबलम्** । यथाशक्ति । **प्र, आपेयम्** । आप्लृ व्याप्तौ—आशिषि लिङि । अह प्राप्नवानि । **सर्वाः** । समस्ता । **आकूतीः** । अ० ३ । २ । ३ । सकल्पान् **मनसा** । मननेन । **हृदयेन** । अ० २ । २६ । ६ । हृञ् हरणे—कयन् दुक् च । ग्रहणेन । निदिध्यासनेनेत्यर्थ ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

गोऽसनिम् । वाचम् । उदेयम् । वर्चसा । मा । अभिऽउदिहि ।
आ । रुन्धाम् । सर्वतः । वायुः । त्वष्टा । पोषम् । दधातु । मे ॥ १० ॥

भाषार्थः—(गोसनिम्) गोलोक [गौओ वा स्वर्ग] की देने वाली (वाचम्) वाणी को (उदेयम्) मै बोलूं । [हे ईश्वर !] (वर्चसा) तेज के साथ (मा = माम्) मेरे ऊपर (अभ्युदिहि) सब ओर से उदय हो । (वायु) प्राण वायु [मुझको] (सर्वत) सब प्रकार से (आ रुन्धाम्) घेरे रहे । (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर वा सूर्य (मे) मेरे लिये (पोषम्) पोषण (दधातु) देता रहे ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर के ध्यान से सत्यवादी और सत्यकर्मी होकर अपने प्राणो को वश मे रक्खे और पुरुषार्थी होकर सूर्य से वृष्टि द्वारा अपना पोषण प्राप्त करे ॥ १० ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाक ॥

॥ *अथ पञ्चमोऽनुवाकः* ॥

सूक्तम् २१ ॥

१--१० ॥ १-७ अग्नयो देवताः, ८-१० मन्त्रोक्तादेवताः ॥ १-४,

१०--गोसनिम् । **छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्** (पा० ३ । २ । २७) इति षणु दाने-इन् । गा धेनु स्वर्ग वा सनोति ददातीति गोसनि । गोलोकस्य धेनुसमूहस्य स्वर्गलोकस्य वा दात्रीम् । **वाचम्** । वाणीम् । **उदेयम्** । **लिङ्याशिष्यङ्** (पा० ३ । १ । ८६) इति वद व्यक्ताया वाचि-अङ् । उद्यासम् । **वर्चसा** । तेजसा । अन्नेन-निघ० २ । ७ । **मा** । माम् । **अभ्युदिहि** । अभित उद्गच्छ । प्राप्नुहि । **आ रुन्धाम** । रुधिर् आवरणे-लोट् । आवृणोतु । आच्छादयतु । **सर्वतः** । सर्वाभ्यो दिग्भ्य । **वायुः** । सूत्रात्मा । प्राणः । **त्वष्टा** । अ० २ । ५ । ६ । सूक्ष्मकर्ता । विश्वकर्मा परमेश्वर. । सूर्य । **पोषम्** । पुष्टिम् । **दधातु** । धारयतु । ददातु । **मे** । मह्यम् ॥

७, ८ त्रिष्टुप्, ५ जगती; ६, ९, १० अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेश —परमेश्वर के गुणो का उपदेश ॥

ये अ॒ग्नयो॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तर्ये वृ॒त्रे ये पुरु॑षे॒ ये अश्म॑सु । य आ॑वि॒वेशोष॑धी॒र्यो वन॒स्पती॑ँस्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥१॥

ये । अ॒ग्नयः॑ । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः । ये । वृ॒त्रे । ये । पुरु॑षे । ये । अश्म॑ऽसु । यः । आ॒ऽवि॒वेश॑ । ओष॑धीः । यः । वन॒स्पती॑न् । तेभ्यः॑ । अ॒ग्निऽभ्यः॑ । हु॒तम् । अ॒स्तु॒ । ए॒तत् ॥ १ ॥

भाषार्थः- (ये) जो (अग्नय) अग्नियाँ [ईश्वर के तेज] (अप्सुअन्त) जल के भीतर, (ये) जो (वृत्रे) मेघ मे, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष [मनुष्य शरीर] मे और (ये) जो (अश्मसु) शिलाओ मे है। (य) जिस [अग्नि] ने (ओषधी) औषधियो [अन्न, सोम लता आदि] मे, और (य) जिसने (वनस्पतीन्) वनस्पतियो [वृक्ष आदि] मे (आ विवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्य) उन (अग्निभ्य) अग्नियो [ईश्वर तेजो] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आतम समर्पण] (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—इस सूक्त मे गुणो के वर्णन से गुणी परमेश्वर का ग्रहण है, अर्थात् जिस परमेश्वर की शक्ति से समुद्र मे बडवानल, मेघ मे बिजुली, मनुष्य मे अन्न पाचक अग्नि और पत्थर मे चकमक, औषधियो मे फलपाक अग्नि आदि अद्भुत उपकारी शक्तियाँ वर्त्तमान है, उनके प्रेरक परमेश्वर को हमारा प्रणाम है ॥ १ ॥

१—**अग्नयः** । ईश्वरतेजासि । **अप्सु** । उदकेषु । **अन्तः** । मध्ये । **वृत्रे** । अ० २ । ५ । ३ । वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्द्धतेर्वा--निरु० २ । १७ । मेघे निघ० १।१० । **पुरुषे** । अ० १ । १६ । ४ । मानुषशरीरे । **अश्मसु** । अ० १ । २ । २ । पाषाणशिलासु । **आविवेश** । प्रविष्टवान् । **ओषधीः** । व्रीहियवादिरूपा । **वनस्पतीन्** । अ० १ । १२ । ३ । सेवकरक्षकान् । वृक्षान् । **हुतम्** । हु दाने क्त । हवि । आत्मसमर्पणम् ॥

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु । य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥

यः । सोमे । अन्तः । यः । गोषु । अन्तः । यः । आऽविष्टः । वयःऽसु । यः । मृगेषु । यः । आऽविवेश । द्विऽपदः । यः । चतुःऽपदः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(यः) जो [अग्नि] (सोमे) सोम [चन्द्र अमृत वा दूध, घी, आदि] के (अन्तः) भीतर, (यः) जो (गोषु अन्तः) गौ आदि पालतू पशुओं में, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में और (यः) जो (मृगेषु) बनैले जीवों में (आविष्टः) प्रविष्ट है, और (यः) जिसने (द्विपदः) दोपायों, और (यः) जिसने (चतुष्पदः) चौपायों में (आविवेश) प्रवेश किया है (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थः—जो अग्नि चन्द्रमा में सूर्य से है और जो सोमलता वा दूध आदि में रस पकाकर पौष्टिक बनाता है, और जो प्राणियों में वेग, बलवत्ता जंगलीपन, और अन्य विशेषता का कारण है, उस अग्नि के संयोजक, वियोजक परमात्मा को हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः । यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥

२—**यः** । अग्निः । **सोमे** । चन्द्रे । अमृते । सोमलतादुग्धघृतादौ । **अन्तः** । मध्ये । **गोषु** । ग्राम्यपशुषु । **आविष्टः** । प्रविष्टः । **वयःसु** । पक्षिषु । **मृगेषु** । अ० २ । ३६ । ४ । आरण्यपशुषु । **आविवेश** । म० १ । **द्विपदः** । अ० २ । ३४ । १ । पादद्वययुक्तान् मनुष्यादीन् । **चतुष्पदः** । अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेतान् प्राणिनः । अन्यद् गतम् ॥

यः । इन्द्रेण । सऽरथम् । याति । देवः । वैश्वानरः । उत । विश्वऽदाव्यः । यम् । जोहवीमि । पृतनासु । ससहिम् । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(य) जो (देव) प्रकाशमान वा जय चाहने वाला [अग्नि] (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् शूर के साथ (सरथम्) एक रथ पर चढकर (याति) चलता है, और [जो हमारे] (वैश्वानर) सब नरो का हितकारी, (उत) और [जो शत्रु का] (विश्वदाव्य) सब कुछ जलाने वाला है, और (यम्) जिस (सासहिम) विजयी [अग्नि] को (पृतनासु) सग्रामो मे (जोहवीमि) बार-बार आवाहन करता हूँ, (तेभ्य) उन (अग्निभ्य) अग्नियो [ईश्वर तेजो] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—जिस परमात्मा के तेज को हृदय मे धारण करके साहसी शूर आग्नेय अस्त्र शस्त्रधारी सेना के द्वारा शत्रुओ को शीघ्र जीत लेता है, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु कामंमाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तंमाहुः ।
यो धीरः शक्रःपरिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥४॥

३—**यः** । अग्नि । **इन्द्रेण** । ऐश्वर्यवता शूरेण । **सरथम्** । समान-रथम् । एकरथमारुह्य । **याति** । गच्छति । **देवः** । दीप्यमान । विजिगीषु । **वैश्वानरः** । अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहित । **विश्वदाव्यः** । **दुन्योरनुपसर्गे** (पा० ३ । १ । १४२) इति टुदु उपतापे—ण । दाव = उपताप । **तत्र साधुः** (पा० ४ । ४ । ९८) इति यत् । शत्रूणा सर्वोपतापने साधु । सर्वदाहकुशल । **जोहवीमि** । अ० २ । १२ । ३ । पुन पुनराह्वयामि । **पृतनासु** । **विपतिभ्यां तनन्** (उ० ३ । १५०) इति पृङ् व्यायामे-तनन्, स च कित् । टाप् । सग्रामेषु—निघ० २ । १७ । **सासहिम्** । अ० ३ । १८ । ५ । ससहिम् । अभिभवितारम् । अन्यद् गतम् ॥

यः । देवः । विश्वऽअत् । यम् । ऊँ इति । कामम् । आहुः । यम् । दातारम् । प्रतिऽगृह्णन्तम् । आहुः । यः । धीरः । शक्रः । परिऽभूः । अदाभ्यः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(यः) जो (देव) प्रकाशमान अग्नि, [बैरियो मे] (विश्वात्) सबका खाने वाला है, (यम्) जिसको (उ) ही (कामम्) कमनीय वा कामना पूरी करने वाला (आहु) लोग कहते है, (यम्) जिसको (दातारम्) देने वाला और (प्रतिगृह्णन्तम्) लेने वाला (आहु) बताते है। (य) जो (धीर) पुष्टि करने वाला, (शक्र.) शक्तिमान् (परिभू) सर्वव्यापक और (अदाभ्य) न दबने योग्य है, (तेभ्य) उन (अग्निभ्य) अग्नियो [ईश्वर तेजो] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—जिस परमात्मा को विद्वान् लोग आनन्द दाता और प्रार्थना का मानने वाला जानते है, और जिसके ध्यान से पुरुषार्थी लोग शत्रुओ को जीतते है, उसको हमारा प्रणाम है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः । वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

४—**देवः** । प्रकाशमानोऽग्नि । **विश्वात्** । **अदोऽनन्ने** (पा० ३ । २ । ६८) इति विश्व+अद भक्षणे—विट् । शत्रूणा सर्वभक्षक । **कामम्** । कमु इच्छायाम्—घञ् । कमनीयम् । कामयितारम् । **आहुः** । ब्रूञ्—लट् । ब्रुवन्ति । **दातारम्** । इष्टफलस्य प्रदातारम् । **प्रतिगृह्णन्तम्** । ग्रह—शतृ । प्रार्थनाया स्वीकर्तारम् । **धीरः** । अ० २ । ३५ । ३ । धाञ्—क्रन्, ईत्वम् । दधाति पोषयतीति । धारक । पोषक । **शक्रः** । अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमान् । **परिभूः** । परि+भू सत्तायाम्, प्राप्तौ—क्विप् । सर्वव्यापक । **अदाभ्यः** । **ऋहलोर्ण्यत्** (पा० ३ । १ । १२४) इति दम्भु दम्भने-ण्यत् । दभ्नोतिर्वधकर्मा—निघ० २।१९ । अहिंस्य. । अजेयः ॥

यम् । त्वा । होतारम् । मनसा । अभि । सम्ऽविदुः । त्रयःऽदश । भौवनाः । पञ्च । मानवाः । वर्चःऽधसे । यशसे । सूनृताऽवते । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(त्रयोदश) तेरह [दो कान, दो नथने, दो आखे और एक मुख यह सात शिर के, और दो हाथ, दो पद, एक उपस्थेन्द्रिय, और एक गुदास्थान, यह छ शिर के नीचे] (भौवना·) भुवनो से सबन्ध वाले प्राणी, और (पञ्च) पाच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाच तत्त्व] से सबन्ध वाले (मानवा) मनुष्य (मनसा) मनन शक्ति से (वर्चोधसे) तेज धारण कराने वाले और (सूनृतावते प्रिय सत्य वाणी वाले (यशसे) यश के लिये (यम्) जिस (त्वा) तुझ [अग्नि] को (होतारम्) दानी (अभि) सब प्रकार (सविदु) ठीक ठीक जानते हैं, (तेभ्य) उन (अग्निभ्य) अग्नियो [ईश्वर तेजो] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ५ ॥

५—**यम्** । **त्वा** । अग्निम् । **होतारम्** । दातारम् । **मनसा** । मननेन । चित्तेन । **अभि** । अभित । सर्वत । **संविदुः** । विद ज्ञाने-लट् । सम्यग् विदन्ति जानन्ति । **त्रयोदश** । त्रयश्च दश च । सप्त शीर्षण्या षड् अधोभागस्था । पाणिपादोपस्थगुदावयवा । **भौवनाः** । भू सत्तायाम्—क्युन् , इति भुवनम् । अ० २ । १ । ३ । भुवन—अण् । भुवनानि भवनानि गृहाणि इन्द्रियाणि येषा ते भौवना· प्राणिन । **पञ्च, मानवाः** । **तस्येदम्** (पा० ४ । ३ । १२०) इति मनु—अण् । मनुर्मनन येषा ते मानवा । पञ्चभूतसम्बन्धिनो मनुष्या । अथवा, पञ्च—मानवा एव पञ्चजना । पञ्चजना·, मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । पञ्चजना गन्धर्वा पितरो देवा असुरा रक्षासीत्येके चत्वारो वर्णा निषाद पञ्चम इत्यौपमन्यव । निषाद. कस्मान्निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता—निरु० ३ । ८ । **वर्चोधसे** । दधातेरसुन् । तेजसा दात्रे । **यशसे** । **अशेर्देवने युट् च** (उ० ४।१९१) इति अशूङ् व्याप्तौ—असुन्, युडागमश्च, देवन स्तुति· । यश·प्राप्तये । **सूनृतावते** । अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृता, तद्वते । एवभूताय यशसे । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थः---सब शरीरधारी उस परमपिता की महिमा विचार पूर्वक गाकर तेजस्वी, सत्यवादी और यशस्वी होते है, उसको यह हमारा नमस्कार है ॥ ५ ॥

'पञ्च मानवा' शब्द 'पञ्चजना' शब्द का पर्यायवाची है जिसका अर्थ "मनुष्य" है–निघ० २ । ३ । उसकी व्याख्या, निरु० ३ । ८ मे इस प्रकार की है "पञ्चजना गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, ऐसा कोई २ मानते है, चारो वर्ण और निषाद पाँचवा, यह औपमन्यव ऋषि का मत है निषाद किस लिये, इसमे पाप स्थित है ॥

उ॒क्षान्ना॑य व॒शान्ना॑य॒ सोम॑पृष्ठाय वे॒धसे॑ ।
वै॒श्वा॒न॒रज्ये॑ष्ठेभ्य॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ ६ ॥

उ॒क्षऽअ॑न्नाय । व॒शाऽअ॑न्नाय । सोम॑ऽपृष्ठाय । वे॒धसे॑ । वै॒श्वा॒न॒रऽज्ये॑ष्ठेभ्यः । तेभ्यः॑ । अ॒ग्निऽभ्यः॑ । हु॒तम् । अ॒स्तु॒ । ए॒तत् ॥ ६ ॥

भाषार्थः–(उक्षान्नाय) प्रबलो के अन्नदाता, (वशान्नाय) वशीभूत निर्बल प्रजाओ के अन्नदाता, (सोमपृष्ठाय) अमृत सीचने वाले और (वेधसे) उत्पन्न करने वाले, (तेभ्य) उन [चार प्रकार के] (वैश्वानरज्येष्ठेभ्य) सब नरो के हितकारी [परमेश्वर] को प्रधान रखने वाले (अग्निभ्य) अग्नियो [ईश्वर तेजो] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥६॥

६---**उक्षान्नाय** । **श्वनुक्षन्पूषन्**० (उ० १ । १५) इति उक्ष सेचने वृद्धौ च–कनिन् । उक्षा महन्नाम-निघ० ३ । ३ । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मण । निरु० १२ । ६ । **कृवृजसिद्रुपन्यनि**० (उ०३ ।१० ।) इति अन प्राणने-न । इति अन्नम् । उक्षाभ्यो महद्भ्य प्रबलेभ्योऽन्न यस्मात् तस्मै । प्रबलाना भोजनदात्रे । **वशान्नाय** । **वशिरण्योरुपसख्यानम्** (वा०पा० ३ । ३ । ५८) इति वश कान्तौ---अप्, टाप् । वशाभ्यो वशीभूताभ्य प्रजाभ्योऽन्न यस्मात् तस्मै । निर्बलप्रजाना भोजनदात्रे । **सोमपृष्ठाय** । **तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः** (उ० २ । १२) इति पृषु सेचने-थक् । अमृतसेचकाय । **वेधसे** । अ० १ । ११ । १ । विधात्रे । विधानकर्त्रे । **वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः** । वैश्वानर इति व्याख्यातम् । अ० १ । १० । ४ । विश्वनरहित परमेश्वरो ज्येष्ठो वृद्ध प्रधानो येषा तेभ्य. । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थः—जिस (वैश्वानर) सब मनुष्य आदि के हितकारी परमेश्वर की शक्ति से सब प्राणी पुष्ट होते हैं, उसको हमारा नमस्कार है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद ८ । ४३ । ११ मे है ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

दिवम् । पृथिवीम् । अनु । अन्तरिक्षम् । ये । विऽद्युतम् । अनुऽसंचरन्ति । ये । दिक्षु । अन्तः । ये । वाते । अन्तः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(ये) जो [तेज] (दिवम्) सूर्य लोक मे, (पृथिवीम्) पृथिवी मे और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष मे (अनु) लगातार और (विद्युतम्) बिजुली मे (अनुसचरन्ति) लगातार चलते रहते हैं, (ये) जो (दिक्षु अन्त) दिशाओ के भीतर और (ये) जो (वाते अन्त) पवन के भीतर है, (तेभ्य) उन (अग्निभि) अग्नियो [ईश्वर तेजो] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थः—जिस परमात्मा के तेज सब लोको, सब पदार्थों और सब दिशाओ मे है, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८॥

हिरण्यऽपाणिम् । सवितारम् । इन्द्रम् । बृहस्पतिम् । वरुणम् । मित्रम् ।

७—**दिवम्** । सूर्यलोकम् । **पृथिवीम्** । भूमिम् । **अनु** । अनुप्रविश्य । **ये** । अग्नय । **विद्युतम्** । अ० १ । १३ । १ । विद्योतमान तडितम् । **अनुसंचरन्ति** । अनुप्रविश्य सम्यग् गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति । अन्यद् गतम् ॥

अग्निम् । विश्वान् । देवान् । अङ्गिरसः । हवामहे । इमम् । क्रव्यऽअदम् । शमयन्तु । अग्निम् ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(हिरण्यपाणिम्) सूर्य आदि तेजो से स्तुति किये हुए (सवितारम्) सबके प्रेरक (इन्द्रम्) बडे ऐश्वर्य वाले (बृहस्पतिम्) बडे लोको के रक्षक (वरुणम्) सबमे श्रेष्ठ, (मित्रम्) हितकारी (अग्निम्) ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर से (विश्वान्) सब (देवान्) विजय कराने वाले (अङ्गिरस) ज्ञानो वा पुरुषार्थो को (हवामहे) हम मागते है (इमम्) इस (क्रव्यादम्) मास खाने वाले (अग्निम्) अग्नि [समान दु ख] को (शमयन्तु) वे शान्त कर दे ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर के अनुपम गुणो का अनुभव करके पुरुषार्थी बने और अग्नि समान तापकारी और शरीर शोषक दु खो का नाश करे ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

शान्तः । अग्निः । क्रव्यऽअत् । शान्तः । पुरुषऽरेषणः । अथो इति । यः । विश्वऽदाव्यः । तम् । क्रव्यऽअदम् । अशीशमम् ॥ ९ ॥

८—**हिरण्यपाणिम्** । हिरण्यम्–इति व्याख्यातम् । अ० १ । ९ । २ । **अशिपणाय्योरुडायलुकौ च** (उ० ४ । १३३) इति पण व्यवहारे, पन स्तुतौ च—इण् । इति पाणि । हिरण्यपाणिम्—हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजासि पाणौ स्तवने यस्य तम्–इति दयानन्दभाष्ये य० २२ । १० । **सवितारम्** । सर्वप्रेरकम् । **इन्द्रम्** । परमैश्वर्यवन्तम् । **बृहस्पतिम्** । बृहता लोकाना रक्षकम् । **वरुणम्** । वरणीयम् । **मित्रम्** । स्नेहिनम् । **अग्निम्** । ज्ञानस्वरूप परमेश्वरम् । **देवान्** । विजिगीषून् । **अङ्गिरसः** । अ० २ । १२ । ४ । अगि गतौ–भावे असि, रुट् च । ज्ञानानि । पुरुषार्थान् । **हवामहे** । आह्वयाम । याचामहे । द्विकर्मकत्वात् अग्निम्—इत्यस्य, अङ्गिरस. इत्यस्य च कर्मत्वम् । **क्रव्यादम्** । **क्रव्ये च** (पा० ३ । २ । ६९) इति अदेर्विट् । मासभक्षकम् । **शमयन्तु** । शान्त कुर्वन्तु । **अग्निम्** । अग्निवत्तापक दु खम् ॥

भाषार्थः—(क्रव्यात्) मास खाने वाला (अग्नि) अग्नि [समान तापकारी दु ख] (शान्त·) शान्त हो, (पुरुषरेषण) पुरुषो का सताने वाला [कष्ट] (शान्त·) शान्त हो । (अथो) और भी (य) जो (विश्वदाव्य) सब [सुखो] का जलाने वाला है (तम्) उस (क्रव्यादम्) मास खाने वाले [अग्निरूप दु ख] को (अशीशमम्) मैंने शान्त कर दिया है ॥ ९ ॥

भावार्थः—दूरदर्शी पुरुष विघ्नो को हटाकर आप सुखी रहते और सब को सुखी रखते है ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

ये । पर्वताः । सोमऽपृष्ठाः । आपः । उत्तानऽशीवरीः । वातः । पर्जन्यः । आत् । अग्निः । ते । क्रव्यऽअदम् । अशीशमन् ॥ १० ॥

भाषार्थः-(ये) जो (पर्वता) पहाड (सोमपृष्ठा) सोम [अमृत-अर्थात् ओषधि वा जल] को पीठ पर रखने वाले है, [उन्होने और] (उत्तानशीवरी —०—वर्य] ऊपर को मुख करके सोने वाले [सूर्य की ओर चढने वाले] (आप.) जल, (वात) पवन, (पर्जन्य) मेघ, (आत्) और (अग्नि)

९---**शान्तः** । सुखकर । **अग्निः** । अग्निवत्तापकर दु खम् । **क्रव्यात्** । म० ८ । मासभक्षक । **पुरुषरेषणः** । रिष बधे-ल्युट् । पुरुषहिंसक । **विश्वदाव्यः** । म० ३ । सर्वसुखनाशनसमर्थ । **अशीशमम्** । शमु उपशमे—ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अह शान्त कृतवान् । अन्यद् गतम् ॥

१०---**पर्वताः** । पर्व पूरणे—अतच् । शैला । **सोमपृष्ठाः** । सोम , अमृतम् ओषधिर्जल वा पृष्ठे उपरिभागे येषा ते तथाभूता । **आपः** । जलानि । **उत्तानशीवरीः** । उत् + तनु विस्तारे—घञ् । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा०३।२।७५) इति शीङ क्वनिप् । **वनो र च** (पा० ४ । १ । ७) इति ङीब्रेफौ । **वा**

अग्नि, (ते) उन सब ने (क्रव्यादम्) मास भक्षक [अग्नि रूप दु ख] को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है ॥ १० ॥

भावार्थः---मनुष्य प्रयत्न करे कि सोमलता आदि औषध उत्पन्न करने वाले पर्वत, जल, वायु, मेघ, अग्नि आदि सब पदार्थ शुद्ध रहकर सुखदायक होवे ॥ १० ॥

सूक्तम् २२ ॥

१--६ ॥ विश्वेदेवा देवताः । १, ३ त्रिष्टुप्, २, ४-६ अनुष्टुप् ॥

कीर्तिप्राप्त्युपदेश --कीर्ति पाने के लिये उपदेश ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव । तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

हस्तिऽवर्चसम् । प्रथताम् । बृहत् । यशः । अदित्याः । यत् । तन्वः । सम्ऽबभूव । तत् । सर्वे । सम् । अदुः । मह्यम् । एतत् । विश्वे । देवाः । अदितिः । सऽजोषाः ॥ १ ॥

भाषार्थः---(हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल से युक्त (बृहत्) बडा (यश) यश (प्रथताम्) फैले, (यत्) जो (अदित्या) अदीन वेद वाणी वा प्रकृति के

छन्दसि (पा० ६ । १ । १०६) इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घ । ऊर्ध्वमुखशया । सूर्याभिमुखवर्त्तमाना. । **वातः** । वायु । **पर्जन्यः** । सेचको मेघ । **आत्** । अपि च । **अग्निः** । पावक । **क्रव्यादम्** । मासभक्षक रोगम् । **अशीशमन्** । शमु णिच्, लुङि । शान्त कृतवन्त ॥

१- -**हस्तिवर्चसम्** । **हस्ताज्जातौ** (पा० ५ । २ । १३३) इति हस्त-इनि । **अर्श आदिभ्योऽच्** (पा० ५ ।२।१२७) इति वर्चस्—अच् मत्वर्थे । गजस्य बलयुक्तम् । **प्रथताम्** । प्रथ प्रख्याने--लोट् । प्रख्यात भवतु । **बृहत्** । महत् । **यशः** । कीर्त्ति । **अदित्याः** । अ० २।२८।४। अदितिः, वाक्—निघ० १।११ ।

(तन्व) विस्तार से (सबभूव) उत्पन्न हुआ है, (तत्) सो (एतत्) यह [यश] (मह्यम्) मुझको (सजोषा) समान प्रीति वाली (अदिति) अखण्ड वेदवाणी वा प्रकृति और (विश्वे) सब (देवा) प्रकाशमान गुणो ने (सर्वे) सर्वव्यापक विष्णु भगवान् मे (सम्) ठीक प्रकार से (अदु) दिया है ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य वेद विद्या और प्रकृति के यथावत् ज्ञान से (जिस सब का केन्द्र परमेश्वर है) हाथी आदि का सामर्थ्य पाकर यशस्वी होता है। म० ६ देखो ॥ १ ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ यो० द० ३ । २३ ॥

बलो मे [सयम करने से] हाथी के से बल हो जाते है ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

मित्रः । च । वरुणः । च । इन्द्रः । रुद्रः । च । चेततु ।
देवासः । विश्वऽधायसः । ते । मा । अञ्जन्तु । वर्चसा ॥२॥

भाषार्थः—(मित्र) सबका मित्र, (च) और (वरुण) अति श्रेष्ठ, (च) और (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् (च) और (रुद्र) ज्ञान दाता वा दुःखनाशक

अदीनाया वेदवाण्या प्रकृतेर्वा। **यत्** । यश । **तन्वः** । अ० १ । १ । १। शरीरात् । विस्तृते । **संबभूव** । उत्पन्नमभवत् । **सर्वे** । **सर्वनिघृष्व०** (उ० १ । १५३) इति सृ गतौ-वन्, सरति गच्छति व्याप्नोतीति सर्व, शिव, विष्णुः। तस्मिन् व्यापके परमेश्वरे। **सम्** । सम्यक् । **अदुः** । दाञो लुङ्। दत्तवन्त । **मह्यम्** । मदर्थम् । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । दिव्यगुणा । **अदितिः** । अदीना, अखण्डिता वा वेदवाणी प्रकृतिर्वा। **सजोषाः** । समान+जुषी प्रीति-सेवनयो —असुन्। समानप्रीति. ॥

२—**मित्रः** । सर्वप्रेरक. । सर्वहितकारी । **वरुणः** । वरणीयः। श्रेष्ठ । **इन्द्रः** । परमैश्वर्यवान् । **रुद्रः** । अ० २ । २७ । ६ । रुत्-र. । ज्ञानदाता । **दुःख-**

परमेश्वर (चेततु) चेताता रहे, और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वधायसः) सब जगत् के पोषण करने वाले (देवासः=देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि] (मा) मुझको (वर्चसा) तेज वा बल से (अञ्जन्तु) कान्ति वाला करें ॥ २ ॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की महिमा को जानें और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेकर तेजस्वी ओर यशस्वी होवें ॥ २ ॥

येन॑ हुस्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये॑ष्व॒प्स्व॑-१॒न्तः येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॑ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॑-साग्ने॑ वर्च॒स्विन॑ कृणु ॥ ३ ॥

येन॑ । हुस्ती । वर्च॑सा । सम्ऽब॒भूव॑ । येन॑ । राजा॑ । म॒नु॒ष्ये॑षु । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः । येन॑ । दे॒वाः । दे॒वता॑म् । अग्रे॑ । आय॑न् । तेन॑ । माम् । अ॒द्य । वर्च॑सा । अग्ने॑ । व॒र्च॒स्विन॑म् । कृ॒णु ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(येन) जिस (वर्चसा) तेज से (हस्ती) हाथी, और (येन) जिस [तेज] से (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा (मनुष्येषु) मनुष्यों और (अप्सु अन्तः) जल और अन्तरिक्ष के भीतर (संबभूव) पराक्रमी हुआ है, और

नाशक परमेश्वर । **चेततु** । चिती संज्ञाने । चेतयतु । **देवासः** । असुगागम । पृथिव्यादिदेवाः । **विश्वधायसः** । **वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि** (उ० ४ । २२१) इति विश्व + दधातेरसुन् । **आतो युक् चिण्कृतोः** (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक् । सर्वस्य जगतो धातारः पोषयितारः । **ते** । प्रसिद्धाः । **अञ्जन्तु** । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । प्रकाशयन्तु । संयोजयन्तु । **वर्चसा** । तेजसा । बलेन ॥

३—हस्ती । म० १ । गजः । **वर्चसा** । तेजसा । **संबभूव** । समर्थो बभूव । **राजा** । राजति ईष्टे स राजा । ऐश्वर्यवान् पुरुषः । **मनुष्येषु** । अ० ३ । ४ । ६ । मनु-यत्, षुगागमः । मननशीलेषु । स्थलप्राणिषु इत्यर्थः । **अप्सु** । उदकेषु—निघ० १ । १२ । अन्तरिक्षे-निघ० १ । ३ । **अन्तः** । मध्ये । **देवाः** ।

(येन) जिस [तेज] से (देवा) देवताओ [महात्मा पुरुषो] ने (अग्रे) पहिले काल मे (देवताम्) देवतापन (आयन्) पाया है, (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (माम्) मुझको (अद्य) आज (वर्चस्विनम्) तेजस्वी (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष हाथी आदि पशुओ, और पूर्वज शूर वीर ऋषि महात्माओ के बुद्धिबल का अनुभव करके (अद्य) आज अर्थात् शीघ्र उपाय से जल, थल और आकाश मे, (अग्नि) परमेश्वर की भक्ति के साथ, अपनी गति बढावे और अग्नि के समान तेजस्वी होकर ससार मे कीर्त्तिमान् होवे ॥३॥

योगेश्वर पतञ्जलि का वचन है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ यो. द. १ । २१ ॥

[समाधि लाभ] उग्र अच्छे वेग वालो के समीप होता है ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

यत् । ते । वर्चः । जातऽवेदः । बृहत् । भवति । आऽहुतेः । यावत् । सूर्यस्य । वर्चः । आसुरस्य । च । हस्तिनः । तावत् । मे । अश्विना । वर्चः । आ । धत्ताम् । पुष्करऽस्रजा ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(यत्) जिस कारण से (जातवेद) उत्पन्न ससार के

विजिगीषवो महात्मान । **देवताम्** । देवत्वम् । माहात्म्यम् । **अग्रे** । पूर्वकाले । **आयन्** । इण् गतौ—लङ् । प्राप्नुवन् । **माम्** । उपासकम् । **अद्य** । अ० १ । १ । १ । अस्मिन् दिने । तत्कालम् । **अग्ने** । हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । **वर्चस्विनम्** । तेजस्विनम् । **कृणु** । कुरु ॥

४—**यत्** । यस्मात् कारणात् । **ते** । तुभ्यम् । **वर्चः** । तेज । बलम् । **जात-**

ज्ञान वाले परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (आहुते) आहुति [आत्मदान] से [हमारा] (वर्चः) तेज (बृहत्) बड़ा (भवति) होता है, (यावत्) जितना (वर्चः) तेज वा बल (आसुरस्य) प्राणियों वा मेघों के हितकारक (सूर्यस्य) सूर्य का (च) और (हस्तिनः) हाथी का है (तावत्) उतना (वर्चः) तेज वा बल (मे) मेरे लिये (पुष्करस्रजा--०--जौ) पोषण देने वाले (अश्विना=०--नौ) माता पिता वा सूर्य्य चन्द्रमा (आधत्ताम्) सब प्रकार देवे ॥ ४ ॥

भावार्थः---सब स्त्री पुरुष माता पिता की सुशिक्षा और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से परमेश्वर की आज्ञा पालनमे मन लगाकर अपना बल बढावे और सूर्य आदि दूरस्थ और हाथी आदि पृथिवीस्थ पदार्थों का बल, विज्ञान द्वारा जानकर उन्नति करे ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

यावत् । चतस्रः । प्रऽदिशः । चक्षुः । यावत् । समऽअश्नुते ।
तावत् । समऽऐतु । इन्द्रियम् । मयि । तत् । हस्तिऽवर्चसम् ॥ ५ ॥

वेदः । अ० १ । ७ । २ । हे जातस्य उत्पन्नस्य ससारस्य ज्ञातः परमेश्वर ! **बृहत्** । महत् । **आहुतेः** । दानात् । आत्मसमर्पणात् । **यावत्** । अ० ३ । १५ । ३ । यत्परिमाणम् । **सूर्यस्य** । आदित्यस्य । **आसुरस्य** । असुर इति व्याख्यातम् अ० १ । १० । १ । असु प्राण —रो मत्वर्थीय । असुर प्राणी, ततो अण्प्रत्यय । प्राणिभ्यो हितस्य । यद्वा, असुरो मेघ —निघ० १।१० । तेभ्यो हितस्य । **हस्तिनः** । गजस्य । **तावत्** । तत्परिमाणम् । **मे** । मह्यम् । **अश्विना** । अ० २ । २९ । ६ । मातापितरौ । सूर्याचन्द्रमसौ । **आ धत्ताम्** । समन्तात् स्थापयताम् । प्रयच्छताम् । **पुष्करस्रजा** । **पुषः कित्** (उ० ४ । ४) इति पुष पुष्टौ—करन् । पुष्णातीति पुष्करम् । **ऋत्विग्दधृक्स्रग्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति सृज विसर्गे =दाने क्विन् । पोषणदातारौ ॥

भाषार्थः—(यावत्) जितनी दूर (चतस्र) चारो (प्रदिश) महादिशाये है और (यावत्) जितनी दूर (चक्षु) आख [दर्शन शक्ति] (समश्नुते) फैलती है, (तावत्) वहा तक (मयि) मुझमे (तत्) वह (हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल वाला (इन्द्रियम) परम ऐश्वर्य (समैतु) आकर मिले ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्य सब पार्थिव और दिव्य पदार्थों के यथावत् ज्ञान से सामर्थ्य बढाकर उन्नति करे ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

हस्ती । मृगाणाम् । सुऽसदाम् । अतिस्थाऽवान् । बभूव । हि ।
तस्य । भगेन । वर्चसा । अभि । सिञ्चामि । माम् । अहम् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(हि) क्योकि (सुषदाम्) सुख से चढने योग्य (मृगाणाम्) पशुओ मे (हस्ती) हाथी (अतिष्ठावान्) प्रतिष्ठा वाला (बभूव) हुआ है, (तस्य) उसके (भगेन) सेवनीय (वर्चसा) कान्ति से (अहम्) मै (माम्) अपने को (अभिषिञ्चामि) भले प्रकार सींचूँ [शुद्ध करू] ॥ ६ ॥

५—**चतस्रः** । चतु सख्याका । **प्रदिशः** । महादिश । **चक्षुः** । अ० १ । ३३ । ४ । नेत्रम् । दर्शनसामर्थ्यम् । **समश्नुते** । सम्यग् व्याप्नोति । **समैतु** । सम्+आ एतु । सम्यग् आगच्छतु । **इन्द्रियम्** । अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्र-घच् । इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य लिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । **मयि** । ईश्वरभक्ते । **तत्** । प्रसिद्धम् । **हस्तिवर्चसम्** । म० १ । गजस्य बलयुक्तम् ॥

६—**हस्ती** । गज । **मृगाणाम्** । पशूना मध्ये । **सुषदाम्** । अ० ३ । १४ । १ । सुखेन सदनयोग्यानाम् । **अतिष्ठावान्** । **आतश्चोपसर्गे** (पा० ३ । १ । १३६) इति अति+ष्ठा—अङ्, टाप्, मतुप् । प्रतिष्ठावान् । **हि** । यस्मात् कारणात् । **तस्य** । गजस्य । **भगेन** । भजनीयेन । सेवनीयेन । **वर्चसा** । तेजसा । **अभि** । सर्वत । **सिञ्चामि** । शोधयामि । **माम्** । आत्मानम् । **अहम्** । उपासक ॥

भावार्थः—जैसे हाथी मे अन्य पशुओ से अधिक बुद्धि बल होता है, वैसे ही प्रधान पुरुष अन्य पुरुषो से अधिक बुद्धिबल वाला होवे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—६ ॥ माता देवता । १—४ अनुष्टुप्, ५ पङ्क्तिः, ६ पूर्वार्ध-त्रिष्टुप्, उत्तरार्धोऽनुष्टुप् ।

वीरसन्तानोत्पादनोपदेशः—वीर सन्तान उत्पन्न करने के उपदेश ॥

येन॑ वे॒हद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॒ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

येन॑ । वे॒हत् । ब॒भूवि॑थ । ना॒शया॑मसि । तत् । त्वत् ।
इ॒दम् । तत् । अ॒न्यत्र॑ । त्वत् । अप॑ । दू॒रे । नि । द॒ध्म॒सि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे स्त्री] (येन) जिस कारण से तू (वेहत्) बन्ध्या [बाझ] (बभूविथ) हुई है, (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझसे (नाशयामसि) हम नष्ट करते है । (इदम्=इदानीम्) अभी (तत्) उसको (त्वत्) तुझसे (अन्यत्र) और कही (दूरे) दूर (अप=अपहृत्य) हटाकर (नि दध्मसि=०—ध्म) हम रखते है ॥ १ ॥

भावार्थः—सद्वैद्य पुत्रेष्टि यज्ञ करके ओषधि द्वारा बाझपन मिटाकर वीर सन्तान उत्पन्न करते है, देखो—श्रीमद् दयानन्दकृत सस्कार विधि—गर्भाधान प्रकरण ॥ १ ॥

१—**येन** । येन पापजन्यरोगादिना । **वेहत्** । **संश्चत्तृपद्वेहत्** (उ० २।८५) इति वि+हन हिंसागत्यो -अति । इकारस्य एकारो नलोपश्च निपात्येते । विशेषेण हन्ति गर्भं या गर्भघातिनी । बन्ध्या । **नाशयामसि** । नाशयाम । चिकित्सया अपहन्म. । **त्वत्** । त्वत्त सकाशात् । **इदम्** । इदानीम् । **दूरे** । दूरदेशे । **अप नि दध्मसि** । अपहृत्य निक्षिपाम· ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

आ । ते । योनिम् । गर्भः । एतु । पुमान् । बाणःऽइव । इषुऽधिम् ।
आ । वीरः । अत्र । जायताम् । पुत्रः । ते । दशऽमास्यः ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे सुभगे] (पुमान्) रक्षा करने वाला, पराक्रमी (गर्भ) गर्भ (ते) तेरे (योनिम्) गर्भाशय मे (आ एतु) आवे, (बाण इव) जैसे बाण (इषुधिम्) तूणीर [तीरो के थैले] मे । (अत्र) इस घर मे (दशमास्यः) दश महीने तक पुष्ट हुआ, (ते) तेरा (वीर) वीर, पुत्र) कुलशोधक बालक (आ जायताम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न हो ॥ २ ॥

भावार्थः—वधू और वर यथाविधि ब्रह्मचारी रहकर युक्त आहार विहार करके सन्तान उत्पन्न करे, जिससे गर्भ अवश्य स्थिर रहे और पूर्ण रीति से पुष्ट होकर वीर सन्तान उत्पन्न हो ॥ २ ॥

यहा पर अथर्ववेद का० १ सू० ११ मन्त्र ६ का मिलान करो ।

ऋग्वेद मे ऐसा वर्णन है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥ ऋ० ५ । ७८ । ९ ॥

२—**योनिम्** । अ० १ । ११ । ३ । गर्भाशयम् । **गर्भः** । अ० १ । ११ । २ । भ्रूण । उदरस्थबालक । **आ, एतु** । आगच्छतु । **पुमान्** । अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे—डुमसुन् । रक्षणसमर्थ सन्तान । **बाणः** । बण शब्दे गतौ वा—घञ् । शरः । नाराच । **इषुधिम्** । **कर्मण्यधिकरणे च** (पा० ३ । ३ । ९३) इति इषु + धा—कि । निषङ्गम् । **वीरः** । शूर । **अत्र** । अस्मिन् कुले । **जायताम्** । उत्पद्यताम् । **पुत्रः** । अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधक, पुरुत्राता । पुतो नरकात् त्राता सन्तान । यथा तनय, सूनु, इति अपत्यनामसु पठितम्—निघ० २ । २ । **दशमास्यः** । अ० १ । ११ । ६ । दशमासान् भृत ॥

(मातरि अधि) माता के गर्भ मे जो (कुमार) बालक (दश मासान्) दस महीनो तक (शशयान) सोता रहा है, वह (जीव) जीता हुआ (अक्षत) घाव से रहित (जीव) जीव (जीवन्त्या अधि) जीवती हुई माता से (निरैतु) बाहिर आवे ॥

सायणाचार्य ने यह मन्त्र इस प्रकार श्लोक मे लिखा है—

दश मासानुषित्वासौ जननीजठरे सुखम् ।
निर्गच्छतु सुखं जीवो जननी चापि जीवतु ॥ ऋ०/सा०भा० ५ । ७८ । ९ ॥

(जननीजठरे) माता के पेट मे (सुखम्) सुख से (दश मासान्) दस महीनो तक (उषित्वा) सोकर (असौ जीव) वह जीव (निर्गच्छतु) बाहिर आवे, (च) और (जननी अपि) माता भी (जीवतु) जीवित रहे ॥ २ ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ ३ ॥

पुमांसम् । पुत्रम् । जनय । तम् । पुमान् । अनु । जायताम् ।
भवासि । पुत्राणाम् । माता । जातानाम् । जनयाः । च । यान् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे वधू] (पुमासम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) बहुरक्षक, वीर सन्तान (जनय) उत्पन्न कर, (तम् अनु) उसके पीछे (पुमान्) रक्षा करने वाला वीर बालक (जायताम्) उत्पन्न होवे। (जातानाम्) उत्पन्न हुये (पुत्राणाम्) नरक से बचाने वाले सन्तानो की (माता) माननीय माता (भ-

---

३—**पुमांसम्** । म० २ । रक्षणसमर्थम् । **पुत्रम्** । म० २ । पुरुत्रातारम् । नरकात् त्रातारम् । सन्तानम् । **जनय** । उत्पादय । **तम् अनु** । तमनुसृत्य । तत्पश्चात् । **भवासि** । लेटि आडागम । त्व भूया । **माता** । अ० १ । २ । १ । माननीया । जननी । **जातानाम्** । उत्पन्नानाम् । **जनयाः** । जनेर्ण्यन्तात् लेटि

वासि) हो, (च) और [उनकी भी] (यान्) जिनको (जनया) तू उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थः—माता पिता ब्रह्मचर्य और इष्ट भोजन, छादन, व्यायाम आदि से प्रयत्न करे कि उनके सब पुत्र पुत्री सदैव पराक्रमी उत्पन्न होवे, और माता पिता तथा ससार की सेवा करके 'पुमान्' रक्षक बने रहे ॥ ३ ॥

यानि॑ भ॒द्राणि॒ बीजा॑न्यृष॒भा ज॒नय॑न्ति च ।
तैस्त्वं पु॒त्रं वि॑न्द॒स्व॒ सा प्र॒सूर्धे॑नु॑का भव ॥ ४ ॥

यानि॑ । भ॒द्राणि॑ । बीजा॑नि । ऋ॒ष॒भाः । ज॒नय॑न्ति । च॒ ।
तैः । त्वम् । पु॒त्रम् । वि॒न्द॒स्व॒ । सा । प्र॒ऽसूः । धे॒नु॑का । भ॒व॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(च) और (यानि) जैसे (भद्राणि) मङ्गल दायक (बीजानि) बालको को (ऋषभा) सूक्ष्मदर्शी ऋषि लोग, अथवा, ऋषभ ओषधि के रस (जनयन्ति) उत्पन्न करते है, (तै) वैसे ही [सन्तानो] के साथ (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक वा बहुरक्षक बालक को (विन्दस्व) प्राप्त कर, (सा = सा त्वम्) सो तू (प्रसू·) जनने वाली (धेनुका) दूध पिलाने वाली माता [अथवा दुधैल गौ के समान] (भव) हो ॥ ४ ॥

आडागम· । त्व जनये· । **यान्** । पुत्रान्, तेषामपि—इति शेष· । अन्यद् गतम् ॥

४—यानि । यादृशानि । **भद्राणि** । मङ्गलप्रदानि । अमोघवीर्याणि । **बीजानि** । अ० ३ । १७ । २ । अपत्यानि–निघ० २।२ । **ऋषभाः** । अ० ३ । ६ । ४ । सूक्ष्मदर्शिन । ऋषय । ऋषमौषधविशेषस्य रसा । तस्य गुणा । मधुरत्वम् । शीतत्वम् । रक्तपित्तविरेकनाशित्वम् । शुक्रश्लेष्मकारित्वम् । दाहक्षयज्वरहरत्व च इति शब्दकल्पद्रुमे । **जनयन्ति** । उत्पादयन्ति । **तैः** । तथाविधै । **विन्दस्व** । विद्लृ लाभे । लभस्व । **सा** । सा त्वम् । **प्रसूः** । **सत्सूद्विष०** (पा० ३ । २ । ६१) इति प्र+षूङ् प्राणिप्रसवे–क्विप् । सन्तानोत्पादिका । **धेनुका** । अ० ३ । १० । १ । धेनुरेव धेनुका । स्वार्थिक क· । दुग्धदात्री । तर्पयित्री । धेनुवत् पोषयित्री ॥

भावार्थः—मनुष्य बडे लोगो से ब्रह्मचर्य विद्या और ओषधि विद्या प्राप्त करके बली धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करे। और बलवती माता अपने बच्चो को अपना दूध पिला कर बलवान् करे, जैसे गौ दूध पिला कर बच्चे को पुष्ट बनाती है ॥ ४ ॥

शब्दकल्पद्रुम कोष मे ऋषभ औषध को मधुर, शीतल, रक्तपित्तविरेकनाशी, वीर्य श्लेष्मकारी, और दाहज्वरहारी लिखा है ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते । विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥

कृणोमि । ते । प्राजाऽपत्यम् । आ । योनिम् । गर्भः । एतु । ते । विन्दस्व । त्वम् । पुत्रम् । नारि । यः । तुभ्यम् । शम् । असत् । शम् । ऊँ इति । तस्मै । त्वम् । भव ॥ ५ ॥

भाषार्थः— (ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) सन्तान रक्षक कर्म [गर्भाधान, पुसवनादि सस्कार] (कृणोमि) मै करता हूँ, (ते) तेरा (गर्भ) गर्भ (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे। (नारि) हे नर की हितकारिणी ! (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (विन्दस्व) प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यम्) तुझको (शम्) सुखदायक (असत्) होवे, (उ) और (त्वम्) तू (तस्मै) उसको (शम्) सुख दायक (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—सब मनुष्य वैद्यक शास्त्र के अनुसार उचित काल मे उचित रीति से अमोघ गर्भाधानादि सस्कार करके सन्तान उत्पन्न करे, जिससे उस सन्तान का जन्म, आप उसको और माता पिता आदि सबको सुखदायक हो ॥ ५ ॥

५— **कृणोमि** । करोमि । **ते** । तुभ्यम् । **प्राजापत्यम्** । **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (पा० ४ । १ । ८५) इति प्रजापति—ण्य. । प्रजापतेर्गृहस्थस्य कर्म धर्म वा । गर्भाधानपुसवनादिसंस्कारम् । **नारि** । अ० १ । ११ । १ । हे नरस्य धर्म्ये । **शम्** । सुखहेतु । **उ** । अपि च । अन्यद् गतम्—म० २, ४ ॥

यासां द्यौःपिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।

तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरुधाम् ।

बभूव । ताः । त्वा । पुत्रऽविद्याय । दैवीः । प्र । अवन्तु । ओषधयः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली अन्नादि ओषधियो का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाली, और (समुद्र) समुद्र [जल] (मूलम्) जड (बभूव) हुआ है, (ताः) वे (देवी) दिव्य गुणवाली (ओषधयः) औषधे (पुत्रविद्याय) सन्तान पाने के लिये (त्वा) तेरी (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करे ॥ ६ ॥

भावार्थः—अन्न आदि अनेक ओषधिया सूर्य द्वारा वृष्टि और प्रकाश पाकर पृथिवी और जल के सयोग से उत्पन्न होती हैं, उनमे से उत्तम २ बलवर्धक औषधो के उचित खान पान से माता पिता उत्तम सन्तान उत्पन्न करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७ ॥ प्रजापतिर्देवता । १, ३-७ अनुष्टुप्, २ पङ्क्तिः ॥

धान्यसमृद्धिकर्मोपदेश —धान्य बढाने के कर्म का उपदेश ॥

६—**द्यौः** । अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः । **पिता** । अ० १ । २ । १ । वृष्टिदानेन रक्षको जनयिता । **पृथिवी** । अ० १ । २ । १ । विस्तृता भूमि । **माता** । अ० ३ । ६ । १ । निर्मात्री । जननी । **समुद्रः** । अ० १ । १३ । ३ । समुन्दनशीलः सागर । **मूलम्** । अ० २ । ७ । ३ । मुख्यकारणम् । **वीरुधाम्** । अ० १ । ३२ । १ । विरोहणस्वभावानाम् । ओषधीनाम् । **पुत्रविद्याय** । **संज्ञायां समजनिषदनिपत०** (पा० ३ । ३ । ९९) इति विद्लृ लाभे, छन्दसि भावे क्यप् । सन्तानलाभाय । **दैवीः** । अ० १ । १६ । २ । दैव्यः । दिव्याः । अन्यद् गतम् ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ।

अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

पयस्वतीः । ओषधयः । पयस्वत् । मामकम् । वचः । अथो इति ।
पयस्वतीनाम् । आ । भरे । अहम् । सहस्रऽशः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(ओषधय) ओषधियाँ, चावल जौ आदि वस्तुये (पयस्वती: =०—त्य·) सारवाली होवे, और (मामकम्) मेरा (वच) वचन (पयस्वत्) सार वाला होवे । (अथो) और भी (अहम्) मै (पयस्वतीनाम्) सारवाली [ओषधियो] का (सहस्रश) सहस्रो प्रकार से (आ) यथा विधि (भरे) धारण करूँ ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य विद्या पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को उत्तम बनावे और दृढ सत्य वचन बोले । ऐसा करने से शारीरिक और आत्मिक उन्नति होती है ॥ १ ॥

मनु महाराज का वचन है—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ मनु० १ । ४६ ॥

भूमि को फोडकर उपजने वाले, और बीज वा शाखा से उगने वाले सब वृक्ष है, फल पाक के साथ नष्ट होने वाली और बहुत फूल फल वाली ओषधिया [चावल, जौ आदि] है ॥ १ ॥

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु । संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥

१—**पयस्वतीः** । पयस्वत्य । सारवत्य· । **ओषधयः** । अ० १ । २३ । १ । व्रीहियवाद्या । **पयस्वत्** । सारयुक्तम् । **मामकम्** । मदीयम् । **वचः** । वचनम् । **अथो** । अपि च । **पयस्वतीनाम्** । कर्मणि षष्ठी । सारवतीनामोषधीनाम् । **आ** । समन्तात् । **भरे** । भरामि । **सहस्रशः** । **बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्** (पा० ५ । ४ । ४२) इति सहस्र—शस् । बहुप्रकारेण ॥

वेद॑ । अ॒हम् । पय॑स्वन्तम् । च॒कार॑ । धा॒न्यम्ऽ। ब॒हु । स॒म्ऽभृत्वा॑ । नाम॑ । यः । दे॒वः । तम् । व॒यम् । ह॒वा॒म॒हे॒ । यःऽयः॑ । अय॑ज्वनः । गृ॒हे ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (पयस्वन्तम्) सार वाले परमेश्वर को (वेद) जानता हूँ । (बहु) बहुत सा (धान्यम्) धान्य (चकार) उसने उत्पन्न किया है । (य) जो (देव) दानशील ईश्वर (सभृत्वा) यथावत् पोषक (नाम) नाम (अयज्वन.) यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर मे (योय = यस्-य) गति वाला है, (तम्) उस [परमात्मा] का (वयम्) हम (हवामहे) आवाहन करते है ॥ २ ॥

भावार्थः—प्रत्येक प्राणी उस उत्तम पदार्थो के भण्डार परमात्मा को जानता है जो अनेक अन्न उपजा कर [धर्मात्माओ का तो क्या कहना है] पापियो तक के घर भोजन पहुँचाता है । हम उसकी उपासना नित्य किया करे ॥ २ ॥

शेख सादी शीराजी ने अपनी पुस्तक पुष्पवाटिका [गुलिस्ताँ] मे इस मन्त्र का आशय इस प्रकार दिखलाया है—

२—**वेद** । वेद्मि । जानामि । **अहम्** । मनुष्य । **पयस्वन्तम्** । सारवन्त परमात्मानम् । **चकार** । स उत्पादयामास । **धान्यम्** । अ० २ । २६ । ५ । धारणसाधनम् । अन्नम् । **बहु** । अधिकम् । **संभृत्वा** । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३ । २ । ७५) इति सम्+भृञ् भरणे—क्वनिप् । **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (पा० ६ । १ । ७१) इति तुक् । सभरणशील । सम्यक् पोषक । **नाम** । एतत्सज्ञ. **देवः** । दानशील । **हवामहे** । आह्वयाम. । **योयः** । **सर्वधातुभ्योऽसुन्** (उ० ४ । १८९) इति या प्रापणे-असुन्=यस् । या—ड: । यस् गमन याति प्राप्नोतीति योयः । गतियुक्तः । **अयज्वनः** । **सुयजोर्ङ्वनिप्** (पा० ३ । २ ।१०३) इति यज—ङ्वनिप् । अकृतयागस्य । देवपूजासगतिकरणदानरहितस्य । **गृहे** । गेहे ॥

"ऐ करीमे कि अज खजानै गैब । गब्रो तर्सा वजीफा खुरदारी ।। १ ।।

दोस्ता रा कुजा कुनी महरूम् । तो कि बा दुश्मना नजरदारी ।। २ ।।"

हे ऐसे उदार कि तू गुप्त कोष से विरोधी और नास्तिक को पेटियाँ खिलाता है। मित्रो को तू कब निराश करे, जब कि तू द्वेषियो पर आँख रखता है ।।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

इमाः । याः । पञ्च । प्रऽदिशः । मानवीः । पञ्च । कृष्टयः ।
वृष्टे । शापम् । नदीःऽइव । इह । स्फातिम् । सम्ऽआवहान् ।। ३ ।।

उदुत्सं शतऽधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

उत् । उत्सम् । शतऽधारम् । सहस्रऽधारम् । अक्षितम् ।
एव । अस्माकं । इदम् । धान्यम् । सहस्रऽधारम् । अक्षितम् ।। ४ ।।

भाषार्थः—(इमाः) यह (याः) जो (मानवीः=०—व्य.) मानुषी (पञ्च) पाच भूत [पृथिवी आदि] से सबन्ध वाली (कृष्टय) प्रजायें (पञ्च प्रदिश.) पाच फैली हुई दिशाओ मे है, वे प्रजाये (शापम्) अनिष्ट वा मलिनता हटा कर (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढती को (समावहान्) यथावत् लावे,

---

३, ४—**इमाः** । परिदृश्यमाना । **याः** । **पञ्च** । पञ्चसख्याका । **प्रदिशः** । **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (पा० २ । ३ । ५) इति द्वितीया । चतस्र. प्राच्याद्या , पञ्चमी ध्रुवा दिग्, ऊर्ध्वा दिग् वा । **मानवीः** । अ० ३ । २१ । ५ । मानव—ङीप् । मानव्य. मानुष्य । **पञ्च** । पञ्चभूतसबन्धिन्य । **कृष्टयः** । **क्तिच्क्तौ च सज्ञायाम्** (पा० ३ । ३ । १७४) इति कृष विलेखने—**क्तिच्** ।

और (नदी इव नद्य इव) जैसे नदियाँ (वृष्टे) बरसने पर [अनिष्ट वा मलिनता हटा कर] (शतधारम्) सैकडो धाराओ वाले और (सहस्रधारम्) सहस्रो विधि से धारण करने वाले, (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सीचने के साधन [झरना कूप आदि] को (उत्=उदावहन्ति) निकालती है (एव=एवम्) ऐसे ही (अस्माक=अस्माकम्) हमारा (इदम्) यह (धान्यम्) धान्य (सहस्रधारम्) सहस्रो प्रकार से धारण करने वाला और (अक्षितम्) अक्षय [होवे] ।। ३, ४ ।।

भावार्थः—मनुष्य खेती व्यापार आदि द्वारा पूर्वादि चार दिशाओ और ऊपर नीचे की दिशा [वायु मण्डल वा पाताल] से बहुत धन प्राप्त करे और अनेक प्रयोगो से उसकी यथावत् वृद्धि करे, जैसे बरसा का जल नदियो मे एकत्र होकर और झरनो, कूपो नालियो से खेती आदि मे पहुँच कर दरिद्रता आदि मिटा कर ससार को लाभ पहुँचाता है ।। ३, ४ ।।

मन्त्र ३ व ४ युग्मक छन्द है ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥

प्रजा । मनुष्या—निघ० २ । ३ । **वृष्टे** । भावे—क्त । वर्षणे सति । **शापम् अकथितं च** (पा० १ । ४ । ५१) इति अपादाने द्वितीया । शापात् । शापम् अनिष्ट मल वा वर्जयित्वा । **नदीः इव** । नद्यो यथा । **इह** । अत्र । **स्फातिम्** । स्फायी वृद्धौ—क्तिन् । **लोपो व्योर्वलि** (पा० ६ । १ । ६६) इति यलोप । धनधान्यवृद्धिम् । **समावहान्** । सम्+आङ्+वहेर्लेटि आडागम । सम्यग् आनयन्तु । वहेर्द्विकर्मकत्वात्, शाप स्फातिम्, इत्येतयो कर्मत्वम् । **उत्** । तृतीयमन्त्रसबन्धात्, उत्+आङ्+वहन्तु । **उत्सम्** । अ० १ । १५ । ३ । सेचनसाधनम् । निर्झरम् । कूपम् । **शतधारम्** । बहुधारायुक्तम् । **सहस्रधारम्** । बहु प्रकारेण धारकम् । **अक्षितम्** । अक्षीणम् । अनश्वरम् । **एव** । एवम् । **अस्माक** । मलोपश्छान्दस । अस्माकम् । **इदम्** । परिदृश्यमानम् । अन्यद् गतम् ।।

शतऽहस्त । सम्ऽआहर । सहस्रऽहस्त । सम् । किर ।
कृतस्य । कार्यस्य । च । इह । स्फातिम् । सम्ऽआवह ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(शतहस्त) हे सैकडो हाथो वाले ! [मनुष्य !] [धान्य को—म० ४] (समाहर) बटोर कर ला, और (सहस्रहस्त) हे सहस्रो हाथो वाले (सम्) अच्छे प्रकार से (किर) फैला । (च) और (कृतस्य) किये हुये और (कार्यस्य) कर्तव्य कर्म की (स्फातिम्) बढती को (इह) यहाँ पर (समावह) मिलकर ला ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्य सैकडो तथा सहस्रो प्रकार से कर्मकुशल होकर, और सहस्रो कर्मकुशलो से मिल कर धन धान्य एकत्र करे और उत्तम कर्मो मे व्यय करके आगा पीछा सोच कर सदैव उन्नति करता रहे ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभिमृशामसि ॥ ६ ॥

तिस्रः । मात्राः । गन्धर्वाणाम् । चतस्रः । गृहऽपत्न्याः । तासाम् । या ।
स्फातिमत्ऽतमा । तया । त्वा । अभि । मृशामसि ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(तिस्र) तीन (मात्रा) मात्राये [भाग] (गन्धर्वाणाम्)

५—**शतहस्त** । हे बहुप्रकारेण हस्तक्रियाकुशल । हे बहुक्रियाकुशलपुरुषैर्युक्त मनुष्य ! **समाहर** समाहृत्य प्राप्नुहि । **सहस्रहस्त** । असंख्यहस्तक्रियाकुशल-पुरुषैर्युक्त ! **सम्** । सम्यक् । शोभनरीत्या । **किर** । कॄ विक्षेपे । **ऋत इद्धातोः** । (पा० ७ । १ । १००) इति इत्त्वम् । विक्षिप । प्रयच्छ । **कृतस्य** । निष्पन्नस्य । **कार्यस्य** । **ऋहलोर्ण्यत्** (पा० ३ । १ । १२४) इति कृञ्-ण्यत् । कर्त्तव्यस्य कर्मण । **स्फातिम्** । म० ४ । समृद्धिम् । **समावह** । सम्यग् आनय ॥

६—**तिस्रः** । त्रिसख्याका । **मात्राः** । **हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्** (उ० ४।१६८)

विद्या वा पृथिवी धारण करने वालो की, और (चतस्र) चार (गृहपत्न्या.) गृहपत्नी [घर की पालन शक्ति] की [होवे], (तासाम्) उन सब [मात्राओ] मे से (या) जो (स्फातिमत्तमा) अत्यन्त समृद्धि वाली है, (तया) उस [मात्रा] से (त्वा) तुझको (अभि) सब ओर से (मृशामसि=०--म) हम छूते [सयुक्त करते] हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—सब कुटुम्बी लोग जो धन धान्य कमावे, उसमे से उत्तम अधिकाश अनदेखे विपत्ति समय के लिये प्रधान पुरुष को सौपे, और शेष के सात भाग करके तीन भाग विद्यावृद्धि और राजप्रबध आदि और चार भाग सामान्य निर्वाह खान पान वस्त्र आदि मे व्यय करे । यह वैदिक शिक्षा सब मनुष्यो के सुख का मूल है ॥ ६ ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

उपऽऊहः । च । समऽऊहः । च । क्षत्तारौ । ते । प्रजाऽपते । तौ । इह । आ । वहताम् । स्फातिम् । बहुम् । भूमानम् । अक्षितम् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(प्रजापते) हे प्रजापालक गृहस्थ ! (उपोह:) योग [प्राप्ति] (च) और (समूह) सग्रह [क्षेम वा रक्षा] दोनो (च) निश्चय करके

इति माङ् माने—त्रन्, टाप् । परिमाणानि । **गन्धर्वाणाम्** । अ० २ ।१ । २ । गो+धृञ्—व । गोविद्याया पृथिव्या वा धारकाणाम् । **चतस्रः** । **गृहपत्न्याः** । गृहपालनशक्ते । **तासाम्** । सर्वमात्राणाम् । **स्फातिमत्तमा** । स्फाति+मतुप्+तमप्+टाप् । अतिशयेन समृद्धियुक्ता । **त्वा** । प्रधानम् । **अभि** । सर्वत । **मृशामसि** । मृशाम. । स्पृशाम । सयोजयाम ॥

७—**उपोहः** । उप+ऊह वितर्के—घञ् । योग । अलब्धलाभ: । **समूहः** । सम्+ऊह—घञ् । समुच्चय. । क्षेम । लब्धस्य रक्षणम् । **क्षत्तारौ** । क्षणु हिंसायाम्-

(क्षत्तारौ) क्षत्रिय [क्षति वा हानि से बचाने वाले] है। (तौ) वे) यहाँ पर (स्फातिम्) बढती और (बहुम्) बहुत (अक्षितम्) मानम्) अधिकाई (आ वहताम्) लावे ॥ ७ ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग पुरुषार्थ करके विद्या, धन, धान्य आदि जीवन सामग्री की १—प्राप्ति, २—रक्षा और ३—वृद्धि वा ऋद्धि सिद्धि करके आनन्द भोगे ॥ ७ ॥

यजुर्वेद मे आया है—

योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ य० २२ । २२ ॥

(न) हमारा (योगक्षम) योग-अप्राप्त वस्तु का लाभ, और क्षेम-प्राप्त पदार्थ की रक्षा (कल्पताम्) समर्थ अर्थात् पर्याप्त होवे ॥

सूक्तम् २५ ॥

१—६ ॥ कामो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

अविद्यानाशेन विद्यालाभायोपदेश —अविद्या के नाश से विद्या की प्राप्ति का उपदेश ।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

उत्ऽतुदः । त्वा । उत् । तुदतु । मा । धृथाः । शयने । स्वे । इषुः ।

क्विप् इति क्षत् । तॄ तरणे, णिच्—अच् । तारयतीति तार· । क्षत्त क्षतात् रक्षकौ । क्षत्रियौ । **ते** । तव । **प्रजापते** । हे सन्तानपालक गृहस्थ । **तौ** । तादृशौ । उपोहसमूहौ । **आ वहताम्** । आनयताम् । **स्फातिम्** । म० ४ । समृद्धिम् । **बहुम्** । विपुलम् । **भूमानम्** । बहु-इमनिच् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** (पा० ६।४। १५८) इति इमनिच् इकारलोपो बहोर्भूभावश्च । धनधान्यविषय बहुभावम् । **अक्षितम्** । क्षयरहितम् ॥

कामस्य । या । भीमा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे अविद्या !] (उत्तुद) तेरा उखाडने वाला [विद्वान्] (त्वा) तुझको (उत् तुदतु) उखाड दे । (स्वे शयने) अपने शयन स्थान [हृदय] मे (मा धृथा) मत ठहर । (कामस्य) सुकामना का (या) जो [तेरे लिये] (भीमा) भयानक (इषु) तीर है, (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय मे (विध्यामि) बेधता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्यादि तपोबल द्वारा अविद्या को हृदय से मिटावे, जैसे शूर वीर योद्धा शत्रु सेना को अस्त्र शस्त्रो से मार गिराता है ॥ १ ॥

इस सूक्त मे स्त्रीलिङ्ग शब्द अविद्या और विद्या के लिये आये है । पहले तीन मन्त्र अविद्यापरक, और पिछले तीन विद्यापरक है । अलङ्कार से अविद्या को दु ख दायिनी और विद्या को सुखदायिनी मानकर सबोधन किया है ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

आधीऽपर्णाम् । कामऽशल्याम् । इषुम् । संकल्पऽकुल्मलाम् ।

---

१ — **उत्तुदः** । उत्+तुद व्यथने—क । ऊर्ध्वमुख व्यथयिता । अविद्यायाः सर्वनाशको विद्वान् । **त्वा** । अविद्याम् । **उत् तुदतु** । उत्कृष्य व्यथयतु, नाशयतु । **मा धृथाः** । धृञ् धारणे—लुङ । माङ्योगे अडभाव । स्थिता मा भू । **शयने** । शीङ्—ल्युट् । निद्रास्थाने । ब्रह्मचारिहृदये—इत्यर्थ । **स्वे** । स्वकीये । **इषुः** । तीरम् । **कामस्य** । सुकामस्य । विद्याभिलाषस्य । **भीमा** । **भियःषुग् वा** (उ० १ । १४८) इति ञिभी—अपादाने मक्, टाप् । भयानका । **तया** । इष्वा । **विध्यामि** । व्यध ताडने । ताडयामि । **हृदि** । हृदये ॥

ताम् । सुऽसंनताम् । कृत्वा । कामः । विध्यतु । त्वा । हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थः—(आधीपर्णाम्) अधिष्ठान वा प्रतिष्ठा के पख वाले, (कामशल्याम्) वीर्य [तपोबल] की अणि वाले (सकल्पकुल्मलाम्) सकल्प के दड छिद्र वाले (ताम्) उस [प्रसिद्ध, बुद्धि रूपी] (इषुम्) तीर को (सुसनताम्) ठीक २ लक्ष्य पर सीधा (कृत्वा) करके (काम) सुन्दर मनोरथ (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय मे (विध्यतु) बेधे ॥ २ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी योगी बुद्धि बल से अविद्या को हटाकर प्रतिष्ठावान्, बलवान्, और सत्यसकल्पी होता है ॥ २ ॥

मुण्डकोपनिषद् का वचन है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ मुण्ड० उ० २ । २ । ४ ॥

(प्रणव) ओ३म् (धनु) धनुष् (आत्मा हि) आत्मा ही (शर·) तीर, और (ब्रह्म) ब्रह्म (तल्लक्ष्यम्) उसका लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है, (अप्रमत्तेन) अप्रमत्त, अति सावधान मनुष्य (वेद्धव्यम्) बेधे, और वह (शरवत्) तीर के समान (तन्मयः) उसमे लय (भवेत्) हो जावे ॥

२—**आधीपर्णाम्** । आ+डुधाञ् धारणपोषणयो —कि , ङीप् । **धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः** (उ० ३ । ६) इति पॄ पालनपूरणयो –न । आधी अधिष्ठान प्रतिष्ठा पर्णं पत्रमिव यस्यास्ता तथाविधाम् । **कामशल्याम्** । शल्य । अ० २ । ३० । ३ । काम वीर्य तपोबल शल्यो बाणाग्रभाग इव यस्यास्ता तथोक्ताम् । **इषुम्** । तीरम् । **संकल्पकुल्मलाम्** । सम्+कृपू सामर्थ्ये—घञ्, रस्य ल । **कुल्मलाम्** । अ० २ । ३० । ३ । सकल्पो दृढविचार. कुल्मल बाणदण्डछिद्रमिव यस्यास्ता तथोक्ताम् । **ताम्** । प्रसिद्धाम् । **सुसंनताम्** । सु+सम्+णम प्रह्वत्वे शब्दे-क्त । सुष्ठु सम्यङ्नता लक्ष्यीकृताम् । **कृत्वा** । विधाय । **कामः** । कमु-घञ् । सुमनोरथ , यथा धर्मार्थकाममोक्ष. । **विध्यतु** । म० १ । ताडयतु । **त्वा** । त्वामविद्याम् । **हृदि** । हृदये ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंन्नता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

या । प्लीहानम् । शोषयति । कामस्य । इषुः । सुऽसंनता ।
प्राचीनऽपक्षा । विऽओषा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(कामस्य) सुन्दर मनोरथ का (सुसनता) ठीक २ लक्ष्य पर चलाया हुआ, (प्राचीनपक्षा) प्राचीन [वेदविज्ञान] का पँख रखने वाला, (व्योषा) विविध प्रकार से [अविद्या का] दाह करने वाला [बुद्धिरूपी] (या) जो (इषु) तीर [अविद्या की] (प्लीहानम्) गति [वा तिल्ली नाम मर्मस्थान] को (शोषयति) सुखा देता है, (तया) उससे (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय मे (विध्यामि) बेधता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य और दृढ प्रतिज्ञा मे वेदविज्ञान द्वारा अविद्या मिटाकर आनन्द भोगे, जैसे शूर बैरी का मर्मस्थान छेद कर सुखी होता है ॥३॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

शुचा । विद्धा । विऽओषया । शुष्कऽआस्या । अभि । सर्प ।
मा । मृदुः । निऽमन्युः । केवली । प्रियऽवादिनी । अनुऽव्रता ॥ ४ ॥

३—**प्लीहानम्** । अ० २ । ३३ । ३ । प्लिह गतौ-कनिन् । गमनम् । कुक्षिवामपार्श्वस्थमासखण्डम् । **शोषयति** । दहति । **कामस्य** । सुमनोरथस्य । **इषुः** । तीरम् । **सुसंनता** । सुष्ठु सम्यक् लक्ष्यीकृता । **प्राचीनपक्षा** । प्राचीन वेदविज्ञान पक्ष इव यस्या सा तथोक्ता । **व्योषा** । वि + उष दाहे पचाद्यच्, टाप् । विशेषेण दाहशीला । अन्यद् गतम् म० १ ॥

४—**शुचा** । शुच शोके-क्विप् । शोकेन । पीडया । **विद्धा** । ताडिता । **व्योषया** ।

भाषार्थः– [हे विद्या,] (व्योषया) विशेष दाह करने वाली (शुचा) पीडा से (विद्धा) बधी हुई, (शुष्कास्या) सूखे मुखे वाली, (मृदु) कोमल स्वभाव वाली (निमन्यु) निरभिमान, (केवली) सेवनीया, (प्रियवादिनी) प्रिय बोलने वाली और (अनुव्रता) अनुकूल आचरण वाली [पतिव्रता स्त्री के समान] तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) चली आ ॥ ४ ॥

भावार्थः—यहा से तीन मन्त्र विद्यापरक है। मन्त्र का आशय यह है, जो ब्रह्मचारी विद्या के लिए पूरी लालसा से यत्नपूर्वक परिश्रम करता है, विद्या शीघ्र ही उसको मिल कर हितकारिणी होती है, जैसे सती गुणवती स्त्री मन, वचन, और कर्म से अपने पति की सेवा करती है ॥ ४ ॥

ऋग्वेद के परमब्रह्मज्ञान सूक्त वा विद्यासूक्त मे भी विद्या की उपमा पतिव्रता स्त्री से दी है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्व१ं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ऋ०१०।७१।४ ॥

(त्व) एक पुरुष ने (पश्यन् उत) देखते हुये भी (वाचम्) वेद वाणी को (न ददर्श) नही देखा है, (त्व) एक पुरुष (शृण्वन् उत) सुनता हुआ भी (एनाम्) इसको (न शृणोति) नही सुनता है। (उतो) किन्तु (त्वस्मै) एक पुरुष को [अपना] (तन्वम्) स्वरूप [परमज्ञान] (विसस्रे) उसने दिखाया है, (इव) जैसे (उशती) अनुरागवती (सुवासा) सुन्दर वस्त्र वाली (जाया) पत्नी [अपने] (पत्ये) पति को ॥

म० ३। विशेषेण दाहशीलया। **शुष्कास्या**। शुष्कमुखयुक्ता। **अभि**। अभिगत्य। उपेत्य। **सर्प**। गच्छ। **मृदुः**। **प्रथिम्रदिभ्रस्जां०** (उ०१।२८) इति म्रद मर्दने-कु। सप्रसारण च। कोमलस्वभावा। **निमन्युः**। **यजिमनिशुन्धि०** (उ० ३।२०) इति मन ज्ञाने-युच्। निरभिमाना। **केवली**। अ० ३। १८। २। **केवलमामक०** (पा० ४।१।३०) इति ङीप्। सेवनीया वा। **प्रियवादिनी**। हितभाषिणी **अनुव्रता**। अनुकूलाचरणपरा ॥

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

आ । अजामि । त्वा । आऽअजन्या । परि । मातुः । अथो इति । पितुः । यथा । मम । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उपऽआयसि ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे विद्या !] (त्वा) तुझ को (आजन्या) पूरे उपाय से [अपनी] (मातु) माता से (अथो) और (पितु) पिता से (परि) सब ओर (आ) यथानियम (अजामि) प्राप्त करता हूँ, (यथा) जिससे (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि मे (अस) तू रहे, (मम चित्तम्) मेरे चित्त मे (उपायसि) तू पहुँचती है ॥ ५ ॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष माता-पिता आदि से विद्या पाकर परीक्षा द्वारा साक्षात् करके हृदय मे दृढ करे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से अथर्व० १ । ३४ । २ मे आया है ॥

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

वि । अस्यै । मित्रावरुणौ । हृदः । चित्तानि । अस्यतम् ।

५—**आ** । समन्तात् । **अजामि** । अज गतिक्षेपणयो । गच्छामि । प्राप्नोमि । **आजन्या** । आ+अज गतौ-ल्युट्, ङीप् । समन्ताद् गत्या । पूर्णोपायेन । **परि** । सर्वत । **मातुः** । जनन्या सकाशात् । **अथो** । अपि च । **पितुः** । पालकात् । जनकात् । **यथा** । येन प्रकारेण । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० १ । ३४ । २ ॥

६—**अस्यै** । अस्या विद्याया प्राप्तये । **मित्रावरुणौ** । अ० १।२०।२। हे प्राणा-

अथ । एनाम् । अक्रतुम् । कृत्वा । मम । एव । कृणुतम् । वशे ॥ ६ ॥

भाषार्थः-(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान (अस्यै) इस [विद्या] के लिये [मेरे] (हृद) हृदय के (चित्तानि) विचारो को (वि अस्यतम्) फैलाओ । (अथ) और (एनाम्) इसको (अक्रतुम्) अहिंसिका [हितकारिणी] (कृत्वा) करके (मम एव) मेरे ही (वशे) वश मे (कृणुतम्) करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—सब ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियो को जीतकर अपने विचारो को बढाकर महाहितकारिणी विद्या को उपयोगी बनावे ॥ ६ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाक ॥

॥ अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

— ० —

सूक्तम् २६ ॥

१--६ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः । जगती त्रिष्टुब् वा छन्दः ॥

युद्धगीति —मारूगीत ॥

ये ३ स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः । तेनो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नम-

---

पानौ । हृदः । मम हृदयस्य । चित्तानि । ज्ञानानि । विचारान् । वि+अस्यतम् । असु क्षेपणे । विस्तारयतम् । अथ । अनन्तरम् । एनाम् । निर्दिष्टाम् । अक्रतुम् । कृञः कतुः (उ० १ । ७६) इति कृञ् हिंसायाम्—कतु । अहिंसाशीलाम् । सुखप्रदाम् । कृत्वा । विधाय । कृणुतम् । कुरुतम् । वशे । आयत्तत्वे । प्रभुत्वे ॥

स्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्राच्याम् । दिशि । हेतयः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । अग्निः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्राच्याम्) पूर्व वा सन्मुख (दिशि) दिशा मे (हेतय) वज्र रूप (नाम) नाम (देवा) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् व) उन तुम्हारी (अग्नि) अग्नि [अग्नि विद्या] (इषव·) तीर है (ते) वे तुम (नः) हमे मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (न) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत बोलो, (तेभ्य व) उन तुम्हारे लिये (नम) सत्कार वा अन्न होवे (तेभ्य व) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशसा] होवे ॥ १ ॥

भावार्थः—सेनानी अपनी सेना का व्यूह करके आग्नेय अस्त्र वाले शूर

१—**ये** । ये यूय शूरा । **अस्याम्** । निर्दिष्टायाम् । **स्थ** । भवथ । **प्राच्याम्** । **ऋत्विग्दधृक्स्रग्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति प्र+अञ्चु गतिपूजनयो —क्विन् । **अनिदितां हल उप०** (पा० ६ । ४ । २४) इति नलोप । **उगितश्च** (पा० ४ । १ । ६) अत्र वार्त्तिकम् । **अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्** । इति ङीप् । **अचः** (पा० ६।४। १३८) इति अकारलोपे । **चौ** (पा०६।३।१३८) इति पूर्वपदस्य दीर्घ । स्वस्थानात् पूर्वस्याम् । स्वाभिमुखीभूतायाम् । **दिशि** । दिशायाम् । **हेतयः** । अ०१।१३।३। वज्ररूपा । हन्तार । **नाम** । प्रसिद्धा । **देवाः** । विजिगीषव । **तेषाम्** । पूर्वदिक्स्थानानाम् । **वः** । युष्माकम् । **अग्निः** । पावक । **इषवः** । अ०१।१३।४ । बाणाः । तीराणि । **ते** । ते यूयम् । **नः** । अस्मान् । **मृडत** । सुखयत । **नः** । अस्मदर्थम् । **अधि** । अधिकारेण । ऐश्वर्येण । **ब्रूत** । वदन । विज्ञापयत । **तेभ्यः** । तथाविधेभ्य । **वः** । युष्मभ्यम् । **नमः** । सत्कार । अन्नम् निघ० २ । ७ । **स्वाहा** । अ० २। १६ । १ । वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । सुवाणी । प्रशसा ॥

वीरो को पूर्व दिशा मे वा अपने सन्मुख स्थान मे रक्खे, वे लोग शत्रुओ को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरे, और राजा सत्कार पूर्वक ऊंचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढावे ॥ १ ॥

ये ३ ' स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । दक्षिणायाम् । दिशि । अविष्यवः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । कामः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशि) दिशा मे (अविष्यव) रक्षा की इच्छा वाले (नाम) नाम (देवा) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् व) उन तुम्हारा (काम) मनोरथ (इषव) तीर है, (ते) वे तुम (न) हमे [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थः—दक्षिण दिशा वा दाहिनी ओर वाले रक्षक विजयी वीर दृढ मनोरथ से शत्रुओ को जीतकर - [म० १] ॥ २ ॥

२—**दक्षिणायाम्** । स्याडभावश्छान्दस । दक्षिणस्याम् । दक्षिणहस्तस्थितायाम् । **अविष्यवः** । **अर्चिशुचि..** . **इसिः** (उ० २ । १०८) इति अव रक्षणे-इसि । इति अवि , रक्षणम । **छन्दसि परेच्छायाम्** (वा० पा० ३ । १ । ८) इति क्यच् । **क्याच्छन्दसि** (पा० ३ । २ । १७०) इनि उप्रत्ययः । अवनेच्छव । पररक्षणेच्छव । **कामः** । दृढमनोरथ । इष्टविषयोऽभिलाष । अन्यद्गतम्—म० १ ॥

ये ३'स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्रतीच्याम् । दिशि । वैराजाः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । आपः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा मे (वैराजा) विविध ऐश्वर्य वाले क्षत्रिय (नाम) नाम (देवा) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् व) उन तुम्हारा (आप) जल [जल विद्या] (इषव) तीर है, (ते) वे तुम (न) हमे . . [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थः—पश्चिम वा पीछे वाली दिशा के क्षत्रिय लोग वारुणेय वा जलास्त्रो से शत्रुओ को जीतकर .. [म० १] ॥ ३ ॥

ये ३'स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो

३—**प्रतीच्याम्** । प्राच्याम, म० १ । इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धि । पश्चिमायाम् । पश्चाद्भागे स्थितायाम् । **आपः** । जलानि । **वैराजाः** । राजति, ऐश्वर्यकर्मसु-निघ० २ । २१ । वि+राजृ दीप्तौ—भावे क्विप् । **तस्येदम्** (पा० ४ । ३ । १२०) इति अण् । विराट्, विविध राज्य येषा ते वैराजा । क्षत्रिया. । विविधैश्वर्यवन्त· । अन्यद् गत म० १ ॥

वो नमस्तेभ्यो व स्वाहा ॥ ४ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । उदीच्याम् । दिशि । प्रऽविध्यन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । वातः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (उदीच्याम्) उत्तर वा बायी ओर वाली (दिशि) दिशा मे (प्रविध्यन्त) वेधने वाले (नाम) नाम (देवा) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् व) उन तुम्हारा (वात) पवन (इषव) तीर है, (ते) वे तुम (न) हमे [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थः—उत्तर वा बायी ओर वाली दिशा मे बरछी, भाले, गोली आदि से छेदने वाले वायु विद्या मे कुशल योद्धा, वायव्य अस्त्र शस्त्र, विमानो द्वारा बैरियो को जीन कर [म० १] ॥ ४ ॥

ये ३ स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ५ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ध्रुवायाम् । दिशि । निऽलिम्पाः ।

४—उदीच्याम् । उत्पूर्वाद् अञ्चते पूर्ववत् क्विनादि-म० १। उद ईत् (पा० ६।४।१३९) इति धात्वकारस्य ईकार । उत्तरस्याम् । वामभागवर्त्तमानायाम् । वातः । पवन । वायुविद्या । प्रविध्यन्तः । व्यध ताडने-शतृ । प्रकर्षेण वेधन कुर्वन्त । अन्यद्गतम्-म० १ ॥

५—ध्रुवायाम् । अ २।२६।४। स्थिरायाम् । निश्चितायाम् । निलिम्पाः ।

नाम । देवाः । तेषाम् । वः । ओषधीः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ध्रुवायाम्) स्थिर वा निश्चित (दिशि) दिशा मे (निलिम्पा) लेप करने वाले वैद्य (नाम) नाम (देवा) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् व) उन तुम्हारी (ओषधी) अन्न, सोमलतादि ओषधिया (इषव) तीर है, (ते) वे तुम (न) हमे [म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थः—लेप पट्टी आदि करने वाले सद्वैद्य दृढ निश्चित स्थान मे औषधालय बना कर सैनिको को स्वस्थ रखकर शत्रुओ को जीत कर . [म० १] ॥ ५ ॥

ये ३ स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ऊर्ध्वायाम् । दिशि । अवस्वन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । बृहस्पतिः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर

नौ लिम्पेरिति वक्तव्यम् (वा०पा० ३।१।१३८) इति नि + लिप उपदेहे मुचादि - शप्रत्यय । नितरा लेपनकर्तार सद्वैद्या । **ओषधीः** । अ० १। ३०। ३। ओषधय । व्रीहियवसोमलताद्या । अन्यद् गतम् म० १ ॥

६—**ऊर्ध्वायाम्** । उत् उपरि ध्वन्यते । ध्वन शब्दे ड । आदेरूरादेश ।

वाली (दिशि) दिशा मे (अवस्वन्त) रक्षा के अधिकारी (नाम) नाम (देवा) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् व) उन तुम्हारा (बृहस्पति) बडो का स्वामी, मुख्य सेनापति (इषव) तीर है, (ते) वे तुम (न) हमे (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (न) हमारे लिए (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोलो, (तेभ्य व) उन तुम्हारे लिये (नम) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्य व) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशसा] होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—बडे साहसी रक्षाधिकारी, युद्ध विद्या मे कुशल योधा लोग ऊँचे स्थान पर रहकर मुख्य सेनापति की सहायता से बैरियो को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जय घोषणा फेरे और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः । प्रथमा पङ्क्तिः—द्विपदा त्रिष्टुप्, द्वितीया द्विपदा भुरिग् जगती, तृतीया द्विपदानुष्टुप् ॥

सेनाव्यूहोपदेश —सेना व्यूह का उपदेश ॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

प्राची । दिक् । अग्निः । अधिऽपतिः । असितः । रक्षिता ।

टाप्, उपरि वर्त्तमानायाम् । **अवस्वन्तः** । अव रक्षणगतिस्पृहादिषु—असुन्, मतुप् च । अवनवन्त । रक्षाधिकारिण । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । बृहता महता योद्धणा पति । मुख्यसेनापति । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

१—प्राची । प्राच्याम् । म० १ सू० २६ । इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धि ।

आदित्याः । इषवः । तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । अस्मान् । यः । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(प्राची=प्राच्या) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक्=दिश) दिशा का (अग्नि) अग्नि [अग्नि विद्या मे निपुण सेनापति] (अधिपति) अधिष्ठाता हो, (असित) कृष्ण सर्प [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (आदित्या) सूर्य से सबन्ध वाले (इषव) बाण हो । (तेभ्य) उन (अधिपतिभ्य) अधिष्ठाताओ और (रक्षितृभ्य) रक्षको के लिये (नमो नम) बहुत बहुत सत्कार वा अन्न और (एभ्य) इन इषुभ्यः) बाणो [बाण वालों] के लिये (नमोनम) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु होवे । (य) जो [बैरी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [बैरी] से (वयम् हम (द्विष्म) बैर करते है, [हे शूरो] (तम्) उसको (व) तुम्हारे (जम्भे) जबडे मे (दध्म) हम धरते है ॥ १ ॥

सुपां सुलुक्० (पा० ७ । १ । ३९) इति विभक्तिलोप । प्राच्या । पूर्वया । अभिमुखीभूताया । **दिक्** । विभक्तिलोप. दिशः । **अग्निः** । अग्निविद्याया कुशल. पुरुष । **अधिपतिः** । अधिष्ठाता । स्वामी । **असितः** । अ० १।२३।३ । अबद्ध । कृष्णवर्ण सर्प —इति सायण । कृष्णसर्पवत् सेनाव्यूह । **रक्षिता** । रक्षक । **आदित्याः** । अ० १ । ९ । १ । **दित्यदित्यादित्य०** (पा० ४ । १ । ८५) इति अदितिशब्दात् ण्यप्रत्यय । आदित्यस्य सूर्यस्य सम्बन्धिन । सूर्यविद्युदग्निप्रयोगेण सिद्धा. । **इषवः** । अ० १ । १३ । ४ । आयुधानि—इति सायण । इषुरिषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा –निरु० ९ । १८ । बाणा । अस्त्रशस्त्राणि । इषुधारिण । शूरा । **तेभ्यः** । दूरस्थभ्य । **नमः नमः** । अतिशयेन सत्कारोऽन्न वा । नम = अन्नम्—निघ० २ । ७ । **एभ्यः** । समीपस्थेभ्य । **यः** । दुष्ट । शत्रु । **द्वेष्टि** । बाधते । **द्विष्मः** । बाधामहे । **वः** । युष्माकम् । शूराणाम् । **जम्भे** । जभि नाशने घञ् । हनौ [Jaw] । **दध्मः** । धारयाम । अन्यत् सुगमम् ॥

भावार्थः—(आदित्या इषव) बाण अर्थात् सब अस्त्र शस्त्र सूर्य वा बिजुली वा अग्नि के प्रयोग चलने वाले हो। शत्रु दो प्रकार के होते है, एक वे जो अपनी दुष्टता से धर्मात्माओ को बुरा जानते है, दूसरे वे जिनको धर्मात्मा लोग उनकी दुष्टता के कारण बुरा समझते है। उक्त दिशा मे (अग्नि) पद वाला सेनापति (असित) नाम काले साँप के समान सेना व्यूह से ऐसे दुष्टो को जीतकर सैनिको सहित यशस्वी होकर धर्मात्माओ की रक्षा करे ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

दक्षिणा। दिक्। इन्द्रः। अधिऽपतिः। तिरश्चिऽराजिः। रक्षिता। पितरः। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिऽभ्यः। नमः। रक्षितृऽभ्यः। नमः। इषुऽभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(दक्षिणा—०—णाया) दक्षिण वा दाहिनी ओर वाली

२—**दक्षिणा**। दक्षिणाया। **दिक्**। दिश। दिशाया। उभयत्र विभक्तेर्लुक्। **तिरश्चिराजिः**। **ऋत्विग्दधृक्**० (पा० ३। २। ५९) इति तिरस्+अञ्चु गतिपूजनयो.—क्विन्। **अनिदितां हल उप**० (पा० ६।४।२४) इति नलोप। **उगितश्च** (पा० ४। १। ६) अत्र वार्त्तिकम् **अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्** इति ङीप्। छान्दसो ह्रस्व। **वसिवपियजिराजि**० (उ० ४। १२५) इति राजृ दीप्तौ —इञ्। तिरश्च्य. तिर्यग् अवस्थिता राजय, आवलय, यस्य तथाविधः सर्प.-

(दिक्=दिश) दिशा का (इन्द्र) बडे ऐश्वर्य वाला इन्द्र [अधिकारी सेनापति] (अधिपति) अधिष्ठाता हो, (तिरश्चिराजि) तिरछी धारी वाले साप यद्वा पशु पक्षी आदि की पक्ति [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (पितरः) रक्षा करने हारे (इषव) बाण होवे । (तेभ्य) उन (अधिपतिभ्य) अधिष्ठाताओ और . [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थः—उक्त दिशा मे [इन्द्र पदधारी सेनापति] (तिरश्चिराजि) नाम सेना व्यूह करके शत्रुओ को जीतकर [म० १] ॥ २ ॥

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपति पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

प्रतीची । दिक् । वरुणः । अधिऽपतिः । पृदाकुः । रक्षिता । अन्नम् । इषवः । तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ३ ॥

इति सायण । तथाविधसर्पवत् सेनाव्यूह । यद्वा तिरश्चीना तिर्यग्जातीना पशुपक्ष्यादीना पङ्क्तिवत् पङ्क्तिर्यस्य तथाविध सेनाव्यूह । **पितरः** । अ० १ । २ । १ । रक्षका. । इषव , इत्यस्य विशेषणम् । अन्यद् गतम् ॥

३—प्रतीची । प्रतीच्या पश्चिमायाः पश्चाद्भागस्थाया वा । **दिक्** ।

भाषार्थः—(प्रतीची=०—च्या) पश्चिम वा पीछे की (दिक्=दिश) दिशा का (वरुण) शत्रुओं का रोकने वाला, वरुण [पद वाला सेनापति] (अधिपति) अधिष्ठाता हो, (पृदाकु) अजगर, बिच्छू बाघ, चीता वा हाथी [के समान सेनाव्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, और (अन्नम्) अन्न (इषव बाण होवे। (तेभ्य अधिपतिभ्य) उन अधिष्ठाताओं और . [म० १]॥ ३॥

भावार्थः—उक्त दिशा मे (वरुण) नाम अधिकारी सेनापति (पृदाकु) नाम सेनाव्यूह बना कर, और अन्न आदि सामग्री एकत्र रखकर शत्रुओं को जीत कर [म० १]॥ ३॥

उदी॑ची॒ दिक् सोमो॑ऽधि॑पतिः स्व॒जो र॑क्षि॒ता शनि॒रिष॑वः। तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु। यो॒३॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः॥ ४॥

उदी॑ची। दिक्। सोम॑ः। अधि॑ऽपतिः। स्व॒जः। र॒क्षि॒ता। अ॒शनि॑ः। इष॑वः। तेभ्य॑ः। नम॑ः। अधि॑पतिऽभ्यः। नम॑ः। र॒क्षि॒तृऽभ्य॑ः। नम॑ः। इषु॑ऽभ्यः। नम॑ः। ए॒भ्यः। अ॒स्तु। यः। अ॒स्मान्। द्वेष्टि॑। यम्। व॒यम्। द्वि॒ष्मः। तम्। व॒ः। जम्भे॑। द॒ध्म॒ः॥ ४॥

दिश। **वरुणः**। वारयति शत्रूनिति। शत्रुनिवारक सेनापति। **पृदाकुः**। अ० १।२७।१। अजगर। वृश्चिक। व्याघ्र। चित्रक। गज। तद्वत् सेनाव्यूह। **अन्नम्**। अद भक्षणे—क्त। सेनारक्षासाधन भोजनम्। अन्यद् गतम्॥

४—उदीची। उदीच्याम् सू० २६ म० ४। तद्वद् रूपसिद्धि। उदीच्या। उत्तर-

भाषार्थः—(उदीची = ०—च्या) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिक्=दिश) दिशा का (सोम) प्रेरक वा उत्तेजक [सोम पद वाला सेनापति] (अधिपति) अधिष्ठाता हो, (स्वज) आप उत्पन्न होने वाले वा बहुत दौडने वाले साँप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (अशनि) बिजुली (इषव) बाण होवे। (तेभ्य अधिपतिभ्य) उन अधिष्ठाताओ और ... [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस दिशा मे (सोम) नाम अधिकारी सेनापति (स्वज) नाम सेना व्यूह रच कर बिजुली के अस्त्र शस्त्रो से शत्रुओ को जीतकर..... [म० १] ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कुल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ध्रुवा । दिक् । विष्णुः । अधिऽपतिः । कुल्माषऽग्रीवः । रक्षिता । वीरुधः । इषवः । तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् ।

भागस्थितायाः । वामभागवर्त्तमानायाः । **सोमः** । अ० ३ । १६ । १ । षू प्रेरणे-मन्, तुदादि । प्रेरक, उत्तेजक । सेनापति । **स्वजः** । स्व+ज । यद्वा । सु+अज गतिक्षेपणयो—अच् । स्वयमेवोत्पन्न स्वजनशीलो वा सर्प स्वजः—इति सायण । तथाविधसर्पवत् सेनाव्यूह । **अशनिः** । अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्य० (उ० २ । १०२) इति अश भोजने, अशूङ् व्याप्तौ वा—अनि । विद्युद्विद्या । अन्यद् गतम् ॥

द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दुध्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(ध्रुवा = ध्रुवाया) स्थिर (दिक् = दिश) दिशा का (विष्णु) कामो मे व्यापक [सद्वैद्य] (अधिपति) अधिष्ठाता होवे, (कल्माषग्रीव) चितकबरे वा काले गले वाले साप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (वीरुध) जडी बूटी औषधे (इषव) बाण होवे। (तेभ्य अधिपतिभ्य) उन अधिष्ठाताओ और [म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थः—सद्वैद्य दृढ वा निश्चित स्थान मे औषधालय से सैनिको को स्वस्थ रक्खे और उसके साथ सेना 'कल्माषग्रीवा' नाम व्यूह बनाकर रहे, और सब मिलकर शत्रुओ को जीतकर . . [म० १] ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वा । दिक् । बृहस्पतिः । अधिऽपतिः । श्वित्रः । रक्षिता । वर्षम् । इषवः । तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।

५—ध्रुवा । अ० २ । २६ । ४ ध्रुवाया· । स्थिराया । **दिक्** । दिश. । **विष्णुः** । अ० ३।२०।४ । वेवेष्टि कार्याणि स विष्णु सद्वैद्य । **कल्माषग्रीवः** । कल गतौ । क्विप्, मष हिंसायाम्—अण् । **शेवायह्वजिह्वाग्रीवा०** (उ० १।१५४) इति गॄ निगरणे – वन् । धातोर्ग्रीभाव । कल्माष कृष्णवर्णं ग्रीवासु यस्य स कल्माषग्रीव, एतदाख्य सर्प —इति सायण, चित्रग्रीवायुक्त कृष्णग्रीवायुक्तो वा सर्प इव सेना-व्यूह । **वीरुधः** । अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला ओषधय । शिष्टं स्पष्टम् ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः ।
जम्भे । दध्मः ॥ ६ ॥

भाषार्थः---(ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वाया) ऊपर वाली (दिक्=दिश) दिशा का (बृहस्पति) बडे २ शूरो का स्वामी, बृहस्पति [पद वाला सेनापति] (अधिपति) अधिष्ठाता हो, (श्वित्र) श्वेत वर्ण वाले साप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, (वर्षम्) वर्षा [वृष्टि विद्या] (इषव) बाण होवे । (तेभ्य अधिपतिभ्य रक्षितृभ्य) उन अधिष्ठाताओ और रक्षको के लिये (नमो नम) बहुत २ सत्कार वा अन्न, और (एभ्य इषुभ्य) इन बाणो [बाण वालों] को (नमो नम) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे । (य) जो [बैरी] (अस्मान् द्वेष्टि) हमसे बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम् द्विष्म·) हम बैर करते है, [हे शूरो !] (तम्) उसको (व जम्भे) तुम्हारे जबडे मे (दध्म) हम धरते है ॥ ६ ॥

भावार्थः----(बृहस्पति) मुख्य सेनापति पर्वत आदि उच्च स्थान मे (श्वित्र) नाम सेना व्यूह रचकर ठहरे और वारुणेय अर्थात् जल सबन्धी अस्त्र शस्त्रो से, अथवा अस्त्र शस्त्रो की वर्षा करके बैरियो को मिटाकर ससार मे सनिको समेत कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

---

६ - **ऊर्ध्वा** । सू० २६ म० ६ । ऊर्ध्वाया । उपरिवर्तमानाया । **दिक्** । दिश । दिशाया । **बृहस्पतिः** । बृहता शूराणा स्वामी । मुख्यसेनापति । **श्वित्रः** । **स्फायितञ्चिवञ्चि०** (उ० २ । १३) इति श्विता वर्णे—रक् । श्वित्र श्वेतवर्ण , एतत्सज्ञ सर्प –इति सायणः । श्वेतसर्पवत् सेनाव्यूह । **वर्षम्** । वृष्टि जलविद्या । वृष्टिवदायुधवृष्टि । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

टिप्पणी—यही मन्त्र [अथर्व का० ३सू० २७ म० १-६] महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत पुस्तक "पञ्चमहायज्ञविधि" मे "मनसा परिक्रमा मन्त्रा" के नाम से ईश्वर परक अर्थ मे आये है, वह अर्थ इस प्रकार होता है ॥

भाषार्थः—(प्राची = प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक् = दिश) दिशा का (अग्नि) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (अधिपति) अधिष्ठाता और (असित) बन्धन रहित (रक्षिता) रक्षक है, [जिसके] (आदित्या) प्राण और किरणे (इषवः) बाण [के समान] है। (तेभ्य) उन (अधिपतिभ्य) अधिष्ठाता, (रक्षितृभ्य) रक्षा करने वाले ईश्वरीय गुणो को (नमो नम) बार-बार नमस्कार, और (एभ्य) इन (इषुभ्य) बाणो [पापियो के लिए बाणरूप गुणो] को (नमो नम) बारम्बार नमस्कार (अस्तु) होवे । (य) जो [अज्ञानी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [अज्ञानी] से (वयम्) हम (द्विष्म) बैर करते है, [हे ईश्वर गुणो !] (तम्) उसको (व) तुम्हारे (जम्भे) मुख वा वश मे (दध्म) हम धरते है ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्य अपने सन्मुख और पूर्व दिशा मे जगद्रक्षक परमात्मा को साक्षात् जानकर पापो से बचे और सब प्राणी अज्ञान और बैर छोड कर परस्पर मित्रवत् रहे । यही भावार्थ अगले मन्त्रो मे लगाले ॥ १ ॥

भाषार्थः—(दक्षिणा = दक्षिणस्याः) दक्षिण वा दाहिनी (दिक् = दिश) दिशा का (इन्द्र) पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमेश्वर (अधिपति) अधिष्ठाता और (तिरश्चिराजि =० - जे) तिरछे चलने वाले कीट, पतङ्ग बिच्छू आदि की पक्ति से (रक्षिता) बचाने वाला है, और (पितर) ज्ञानी लोग (इषव) बाण [के समान] है। (तेभ्य) उन . [म० १] ॥ २ ॥

१—**अग्निः** । ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । **असितः** । षिञ् बन्धने—क्त । बन्धनरहित । **आदित्याः** । प्राणा किरणाश्च । **तेभ्यः** । ईश्वरगुणेभ्य । अन्यद् गत स्पष्ट च ॥

२—**इन्द्रः** । परमैश्वर्ययुक्त परमेश्वर । **तिरश्चिराजिः** । पञ्चम्यर्थे प्रथमा । तिर्यग्गतीना कीटपतङ्गवृश्चिकादीना पङ्क्ते सकाशात् ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—६॥यमिनी देवता ॥ भुरिग् जगती २, ३ अनुष्टुप्, ४ स्वराड् गायत्री । ५ त्रिष्टुप् । ६ पूर्वार्धः स्वराड् गायत्री, द्वितीयस्त्रिष्टुप् ॥

सुनियमेन सुख भवति=उत्तम नियम से सुख होता है ।

एकैकयैषा सृष्ट्या संबभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः । यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥

एकऽएकया । एषा । सृष्ट्या । सम् । बभूव । यत्र । गाः । असृजन्त । भूतऽकृतः । विश्वऽरूपाः । यत्र । विऽजायते । यमिनी । अपऽऋतुः । सा । पशून् । क्षिणाति । रिफती । रुशती ॥ १ ॥

भाषार्थः—(एषा) यह [साधारणी सृष्टि] (एकैकया) एक एक (सृष्टया) सृष्टि [सृष्टि के परमाणु] से (सम्=सभूय) मिलकर (बभूव) हुई है, (यत्र) जिसमे (भूतकृत) पृथ्वी आदि भूतो से बनाने वाले (विश्व रूपा) नाना रूप वाले [ईश्वर गुणो] ने (गा) भूमि, सूर्य आदि लोको को

१- **एकैकया** । भिन्नभिन्नया । व्यस्तरूपया । **सृष्ट्या** । सृज विसर्गे—क्तिन् । सृजमानया । **एषा** । समस्तिरूपा सृष्टि । **सम्** । सभूय । **यत्र** । यस्मिन् स्थाने । **गाः** । गौ, पृथिवी—निघ० १।१। गौरिति पृथिव्या नामधेय यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्या भूतानि गच्छन्ति—निरु० २ । ५ । गौरित्यादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे - निरु० २ । १४ । भूमिसूर्यादीन् लोकान् । **असृजन्त** । उदपादयन् । **भूतकृतः** । डुकृञ् करणे—क्विप् । पृथिवीजलतेजोवायुगगनभूतै-र्निर्मातार । **विश्वरूपाः** । नानारूपा परमेश्वरगुणा । **विजायते** । विविध प्रादु-र्भवति । **यमिनी** । **अत इनिठनौ** (पा० ५।२।११५) इति यम इनि । **ऋन्नेभ्यो**

(असृजन्त) सृजा है। (यत्र) जहाँ पर (यमिनी) उत्तम नियम वाली [बुद्धि] (अपर्तु) ऋतु अर्थात् क्रम वा व्यवस्था से विरुद्ध (विजायते) हो जाती है [वहाँ] (सा) वह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (रिफती) पीडा देती हुई और (रुशती) सताती हुई (पशून्) व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवो को (क्षिणाति) नष्ट कर देती है ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से एक एक परमाणु के सयोग से नियमानुसार यह इतनी बडी सृष्टि रची है। जो प्राणी ईश्वरीय नियम तोडता है, वह दु ख उठाता है ॥ १ ॥

एषा पशून् सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

एषा । पशून् । सम् । क्षिणाति । क्रव्यऽअत् । भूत्वा । विऽअद्वरी । उत । एनाम् । ब्रह्मणे । दद्यात् । तथा । स्योना । शिवा । स्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(एषा) यह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (क्रव्याद) मास

डीप् (पा० ४ । १ । ५) इति डीप् । **भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संबन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः** [म भा कारिका ५ । २ । ६४] प्रशस्तव्रतयुक्ता सृष्टि प्रजा बुद्धिर्वा । **अपर्तुः**। अपगतो वर्जित ऋतुर्नियमितकाल क्रमो व्यवस्था यस्या सा तथाभूता । **सा** । अपर्तुर्बुद्धि । **पशून्** । पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११।२९ । मनुष्यगवादीन् जीवान् । **क्षिणाति** । क्षि हिंसायाम् । नाशयति । **रिफती** । रिफ हिंसायाम्-शतृ । पीडा कुर्वती । **रुशती** । रुश हिंसायाम्—शतृ । दु ख प्रापयन्ती ॥

२—एषा । अपर्तुर्बुद्धि । **पशून्** । द्विपदश्चतुष्पद प्राणिन । **संक्षिणाति** ।

खाने वाली और (व्यद्वरी) अनेक विधि से भक्षणशीला (भूत्वा) होकर (पशून्) दोपाये और चौपाये जीवों को (सक्षिणाति) सर्वथा नष्ट करती है। (उत) इसलिए (एनाम्) इस [अनिष्ट बुद्धि को] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [ईश्वर, वेद, वा ब्राह्मण को] (दद्यात्) वह सौपे, (तथा) तो वह (स्योना) सुखदायिनी और (शिवा) कल्याणी (स्यात्) हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थः—कुबुद्धि पापी मनुष्य परमात्मा वा वेद वा उत्तम विद्वान् की शरण लेकर उत्तम कर्म करने से सुधर जाता है ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

शिवा । भव । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । शिवा ।
शिवा । अस्मै । सर्वस्मै । क्षेत्राय । शिवा । नः । इह । एधि ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(हे यमिनी, उत्तम नियम वाली बुद्धि !) (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवा) कल्याणी, और (गोभ्यः) गौओं को और (अश्वेभ्यः) घोड़ों को (शिवा) कल्याणी (भव) हो, (इह) यहाँ (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब खेत को (शिवा) कल्याणी और (न) हमको (शिवा) कल्याणी (एधि) हो ॥३॥

सर्वथा नाशयति । **क्रव्याद्** । अ० २ । २५ । ५ । मासभक्षिका । **व्यद्वरी** । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (पा० ३।२।७५) इति वि+अद भक्षणे—वनिप् । **वनो र च** (पा० ४ । १ । ७) इति ङीब्रेफौ । विविध भक्षणशीला । **उत** । एवविधे । **एनाम्** । अपतुं बुद्धिम् । **ब्रह्मणे** । ईश्वरस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य वा शरणाय । **दद्यात्** । समर्पयेत् । **तथा** । तेन प्रकारेण । **स्योना** । अ० १।३३।१ । सुखकरी । **शिवा** । कल्याणी । **स्यात्** । भवेत् ॥

३—क्षेत्राय । अ० २ । ८ । ५ । शालिगोधूमादिकेदारवर्धनाय । **एधि** ।

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर ज्ञान से उत्तम बुद्धि पाकर सब ससार को सुखदायी होता है ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रंसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

इह । पुष्टिः । इह । रसः । इह । सहस्रऽसातमा । भव ।
पशून् । यमिनि । पोषय ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(इह) यहाँ पर (पुष्टि) पुष्टि, और (इह) यहा पर ही (रस) रस होवे । (यमिनि) हे उत्तम नियम वाली बुद्धि ! (इह) यहाँ पर (सहस्र-सातमा) अत्यन्त करके सहस्रो प्रकार से धन देने वाली (भव) हो, और (पशून्) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीवो को (पोषय) पुष्ट कर ॥ ४ ॥

भावार्थः—उत्तम नियम युक्त बुद्धि से मनुष्य अनेक प्रकार की वृद्धि, और दूध, घी, आदि रस, और बहुत सा धन पाकर सब जीवो की रक्षा करता है ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ः स्वायाः । तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्

अस्तेर्लोटि रूपम् । भव । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—पुष्टिः । वृद्धि. । समृद्धि । **रसः** । क्षीरदुग्धादिरूप· । **सहस्रसातमा** । **जनसनखनक्रमगमो विट्** (पा० ३।२।६७) इति सहस्र+षणु दाने-विट् । **विड्वनोरनुनासिकस्यात्** (पा० ६।४।४१) इति आत्वम् । **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (पा० ५।३।५५) इति तमप् । टाप् । अतिशयेन सहस्रधनस्य दात्री । **पोषय** । समर्धय । अन्यद् व्याख्यात म० १ ॥

पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

यत्र । सुऽहार्दः । सुऽकृतः । मदन्ति । विऽहाय । रोगम् । तन्वः । स्वायाः । तम् । लोकम् । यमिनी । अभिऽसंबभूव । सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(यत्र) जहा पर (सुहार्द) सुन्दर हृदय वाले (सुकृत) सुकर्मी लोग (स्वाया तन्व) अपने शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) त्याग कर (मदन्ति) आनन्द भोगते है। (तम्) उस (लोकम्) लोक [जनसमूह] को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसबभूव) साक्षात् आकर मिली है। (सा) वह [सुमति] (न) हमारे (पुरुषान्) पुरुषो (च) और (पशून्) ढोरो को (मा हिसीत्) न पीडा दे ॥ ५ ॥

भावार्थः---जिस घर मे परस्पर हितैषी पुण्यात्मा स्त्री पुरुष नीरोग रहकर विद्या और धन को भोगते है, वह उनकी नियमवती सुमति देवी का

५--**यत्र** । यस्मिन् लोके, गृहे । **सुहार्दः** । हृदये भव हार्दम् । **प्राग्दीव्यतोऽण्** (पा० ४ । १ । ८३) इति हृदय-अण् । **हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु** (पा० ६ । ३ । ५०) इति हृदयस्य हृत् । यद्वा । हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयति । हार्दयते क्विपि णिलोपे रूपम् । शोभनहार्द । सुहृदय । अनुकूलकारिण । **सुकृतः** । **सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः** (पा० ३ । २ । ८९) डुकृञ् करणे-क्विप् । शोभनकर्माण । **मदन्ति** । मदी हर्षे । हृष्यन्ति । **विहाय** । ओहाक् त्यागे-ल्यप् । त्यक्त्वा । **रोगम्** । व्याधिम् । **तन्वः** । शरीरस्य । **स्वायाः** । स्वकीयस्य । **लोकम्** । लोकृ दर्शने To look घञ् । जनसमूहम् । **यमिनी** । म० १ । नियमवती सुमति । **अभिसंबभूव** । भू सत्तायाम् प्राप्तौ च-लिट्, आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्तवती । **मा हिंसीत्** । मा हिनस्तु । **नः** । अस्माकम् । **पुरुषान्** । कलत्रपुत्रपौत्रभृत्यादीन् । **पशून्** । गवश्वादीन् ॥

साक्षात् फल है । वहाँ पर सब मनुष्य और गौ, घोडे आदि बहुत काल तक जीकर आपस मे उपकारी होते है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध अ० का० ६ सू० १२० म० ३ मे इस प्रकार है—

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्वः॒ स्वायाः॑ । अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रहु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान् ॥

जहाँ पर सुन्दर हृदय वाले सुकर्मी लोग अपने शरीर का रोग त्याग कर आनन्द भोगते है, (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग मे (अश्लोणा) बिना लँगड़े हुये और (अङ्गै अह्रुता) अगो से बिना टेढे हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) सन्तानो को (पश्येम) देखते रहे ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहोत्र॒हुतां॑ यत्र॑ लो॒कः । तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त् पुरु॑षान् प॒शूंश्च॑ ॥६॥

यत्र॑ । सु॒ऽहार्दा॑म् । सु॒ऽकृता॑म् । अ॒ग्नि॒हो॒त्र॒ऽहुता॑म् । यत्र॑ । लो॒कः । तम् । लो॒कम् । य॒मिनी॑ । अ॒भि॒ऽसंब॑भूव । सा । नः॒ । मा । हिं॒सी॒त् । पुरु॑षान् । प॒शून् । च॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दाम्) सुन्दर हृदय वाले (सुकृताम्) सुकर्मियो का और (यत्र) जहाँ पर (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र

६—**सुहार्दाम्** । म० ५ । शोभनहृदयाना शोभनज्ञानानाम् । **सुकृताम्** । म० ५ । शोभन कर्म कृतवताम् । **अग्निहोत्रहुताम्** । अग्निहोत्र +हु दानादनयोः क्विप्, तुक् च । अग्नौ होमादिक जुह्वता कुर्वताम् । अन्यद् गतम् ॥

करने वालो का (लोक) लोक [जन समूह] है, (तम् लोकम्) उस लोक को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसम्बभूव) साक्षात् आकर मिली है। (सा) वह [सुमति] (न. पुरुषान्) हमारे पुरुषो (च) और (पशून्) ढोरो को (मा हिंसीत्) न पीडा दे ॥ ६ ॥

भावार्थः—जहा सब स्त्री पुरुष एक मन रह कर पुण्यात्मा पुरुषार्थी होकर अग्निहोत्र करते अर्थात् वेद मन्त्रो से अग्नि मे मिष्ट सुगन्ध द्रव्य चढा कर वायुशुद्धि करते और अग्निविद्या द्वारा अग्निनौका, अग्नियान, विमान आदि रचते, वहा (यमिनी) नियमवती सुमति के निवास से सब जने आनन्द भोगते है ॥ ६ ॥

सूक्तम् २९ ॥

१–८ ॥ १–६ अविर्देवता, ७, ८ कामो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः । २, ४-६ अनुष्टुप् । ३ पङ्क्तिः, ७ साम्नी गायत्री । ८ पूर्वार्धो द्विपदानुष्टुप् , उत्तरार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्या सुख लभते=मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सुख पाता है ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः । अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥

यत् । राजानः । विऽभजन्ते । इष्टापूर्तस्य । षोडशम् । यमस्य । अमी इति । सभाऽसदः । अविः । तस्मात् ।

प्र । मुञ्चति । दत्तः । शितिऽपात् । स्वधा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(यत्) जिस कारण से (यमस्य) नियमकर्ता परमेश्वर के (अमी सभासद) यह सभासद् (राजान) ऐश्वर्य वाले राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्न, दानादि पुण्यकर्म के [फल], (षोडशम्) सोलहवे पदार्थ मोक्ष को [चार वर्ण, चार आश्रम, सुनना, विचारना, ध्यान करना, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढाना, बढे हुए का अच्छे मार्ग मे व्यय करना, इन पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान से पाये हुए सोलहवे मोक्ष को]

१—**यद्** । यस्मात् कारणात् । **राजानः** । अ० १ । १० । १ । ईश्वरा । समर्था । **विभजन्ते** । विशेषेण सेवन्ते । **इष्टापूर्तस्य** । अ० २।१२।४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादिपुण्यकर्मण । **षोडशम्** । षट् च दश च इति षोडश । **षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च** (वा० पा० ६ । ३ । १०६) इति उत्वष्टुत्वे तत । **तस्य पूरणे डट्** (पा० ५ । २ । ४८) इति षोडश—डट् । षोडशाना पूरकम् । चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमा श्रवणमननिदिध्यासनानि त्रीणि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य यत्नेन रक्षण, रक्षितस्य वृद्धि, वृद्धस्य सन्मार्गे व्ययकरणमेष चतुर्विध पुरुषार्थ । एतै पञ्चदशभि प्राप्त षोडश मोक्षम् यथा दयानन्दभाष्ये, यजुर्वेदे ८ । ३४ । **यमस्य** । यमयतीति यम । यम परिवेषणे—अच् । नियन्तु । नियामकस्य । धर्मराजस्य । परमेश्वरस्य । **अमी** । परिदृश्यमाना । **सभासदः** । सभा + षद्लृ गतौ, उपवेशने—क्विप् । सभेया । **अविः** । अ० ३ । १७ । ३ । अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु—इन् । रक्षक । गतिवान् । प्रभु । सूर्य, सूर्यरूप परमात्मा । **तस्मात्** । पूर्वोक्तात् कारणात् । **प्र** । प्रकर्षेण । **मुञ्चति** । दु खात् मुक्त करोति । **दत्तः** । आत्मने समर्पितः । **शितिपात्** । **क्रमितिमिशतिस्तम्भामत इच्च** (उ०४।१२२) इति शति, हिसायाम्, सौत्रो धातु'—इन् । स च कित्, अत इकार । **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (पा० ५ । ४ । १३८) इति अकारलोप । शिति शुक्लः, कृष्णश्च । तयोर्मध्ये पादो गमन यस्य स तथाभूत । प्रकाशान्धकारयो' समानगमन । **स्वधा** । अ० २ । २९ । ७ । स्वम् अस्माकमात्मान पुष्णाति धन ददातीति वा । अमृतरूपः । अन्नरूपो भूत्वा ॥

(विभजन्ते) विशेष करके भोगते है, (तस्मात्) उसी कारण से [आत्मा को] (दत्त) दिया हुआ, (शितिपात्) उजियाले और अन्धेरे मे गति वाला, (अवि) प्रभु (स्वधा) हमारे आत्मा को पुष्ट करने वाला वा धन का देने वाला अमृत रूप वा अन्न रूप होकर [पुरुषार्थी को] (प्र) अच्छे प्रकार से (मुञ्चति) मुक्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थः—धर्मराज परमेश्वर की आज्ञा मानने वाले पुरुषार्थी स्त्री पुरुष मोक्ष सुख भोगते रहते है, इसी से सब लोग उस अन्तर्यामी को हृदय मे रख कर पुरुषार्थ से (स्वधा) अमृत अर्थात् आत्मबल और धनधान्य पाकर मोक्ष आनन्द भोगे ॥ १ ॥

सर्वा॑न् कामा॑न् पूरयत्याभव॑न् प्रभव॑न् भव॑न् ।
आकूतिप्रोऽविर्दुत्तः शिंतिपान्नोप॑ दस्यति ॥ २ ॥

सर्वा॑न् । कामा॑न् । पूरयति । आऽभव॑न् । प्रऽभव॑न् । भव॑न् । आकूतिऽप्रः । अविः । दुत्तः । शितिऽपात् । न । उप॑ । दस्यति ॥ २ ॥

भाषार्थः—(आकूतिप्र) सकल्पो का पूरा करने वाला, [आत्मा को] (दत्त) दिया हुआ, (शितिपात्) प्रकाश और अप्रकाश मे गति वाला (अवि·) रक्षक प्रभु (आभवन्) व्यापक, (प्रभवन्) समर्थ और (भवन्) वर्तमान होता हुआ (सर्वान् कामान्) सब सुन्दर कामनाओ को (पूरयति) पूरा करता है, और (न) नही (उप दस्यति) घटता है ॥ २ ॥

२—**सर्वान्** । समस्तान् । **कामान्** । शुभाभिलाषान् । **पूरयति** । सपूर्णान् करोति । **आभवन्** । भू सत्ताया व्याप्तौ च-शतृ । आ समन्ताद् भवन् व्याप्नुवन् । **प्रभवन्** । समर्थ प्रबल सन् । **भवन्** । वर्त्तमान सन् । **आकूतिप्रः** । आकूति + प्रा पूरणे—क । सकल्पपूरक । **नोपदस्यति** । दसु उपक्षये । नोपक्षीयते । अपितु वर्धते । अन्यद् गतम् म० १ ॥

भावार्थः—उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का इतना बडा कोश है कि सब सृष्टि की शुभ कामनाओ को पूरा करते २ भी भरपूर ही बना रहता है ॥२॥

बृहदारण्यकोपनिषद् मे पाठ है—

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ बृहदा० ५ । १ । १ ॥

ओ३म् । वह [ब्रह्म] पूर्ण [भरपूर] है, यह [जगत्] पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उदय होता है, पूर्ण से पूर्ण लेकर पूर्ण ही बच रहता है ।। १ ।।

यो द॒दा॑ति शिति॒पाद॒मविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम् ।
स नाक॑म॒भ्यारो॑हति॒ यत्र॑ शु॒ल्को न क्रि॒यते॑ अब॒लेन॒ बलीयसे ॥ ३ ॥

यः । द॒दा॑ति । शि॒ति॒ऽपाद॑म् । अवि॑म् । लो॒केन॑ । सम्ऽमि॑तम् । सः । नाक॑म् । अ॒भि॒ऽआरो॑हति । यत्र॑ । शु॒ल्कः । न । क्रि॒यते॑ । अ॒ब॒लेन॑ । बलीयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(य) जो कोई (लोकेन) ससार कर के (समितम्) सम्मान किये गये, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार मे गति वाले (अविम्)

३—**यः** । य कश्चित् । **ददाति** । स्वात्मने प्रयच्छति, समर्पयति । **शितिपादम्** । म० १ । प्रकाशान्धकारगतिवन्तम् । **अविम्** । म० १। प्रभुम् । **लोकेन** । ससारेण । **संमितम्** । माङ् माने—क्त । **द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति** (पा० ७।४।४०) इति इकार । सम्मानित. । **नाकम्** । अ० १ । ९ । २, न+अकम् । स्वर्गम् । सुखम् । **अभ्यारोहति** । अभित आरूढो भवति । अभिप्राप्नोति । **यत्र** । स्वर्गे । **शुल्कः** । शुल्क अतिस्पर्शने, सर्जने, वर्जने च—घञ् । कर । **न** । निषेधे । **क्रियते** । दीयते । **अबलेन** । निर्बलेन । **बलीयसे** । बलवत्—ईयसुन् । **विन्मतोर्लुक्** (पा० ५ । ३ । ६५) इति मतोर्लुक् । बलवत्तराय ।।

रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा मे] (ददाति) दान करता है, (स) वह पुरुष (नाकम्) दु ख रहित स्वर्ग को (अभ्यारोहति) चढ जाता है, (तत्र) जहाँ पर (अबलेन) निर्बल करके (बलीयसे) अधिक बलवान् को (शुल्क) शुल्क [कर] (न) नही (क्रियते) किया जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो कोई सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म को अपने मे ग्रहण करता है, वह सन्मार्गी बडो और छोटो के साथ एक सा न्याय करता हुआ सदा आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

पञ्चऽअपूपम् । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम् । प्रऽदाता । उप । जीवति । पितृणाम् । लोके । अक्षितम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे

४—**पञ्चापूपम् । सप्यशूभ्यां तुट् च** (उ० १ । १५७) इति पचि व्यक्तीकरणे विस्तारे च—कनिन् । इति पञ्च विस्तीर्ण सख्यावाचको वा । **पानीविषिभ्यः पः** (उ० ३।२३) इति पूयी विशरणे दुर्गन्धे च पप्रत्यय , यलोप । अपूप , अविशरणम्, अहानि गोधूमादिपिष्टक वा । विस्तीर्णा विशरणम् । सपूर्णवृद्धियुक्तम् । यद्वा मध्यपदलोप । पञ्चसु दिक्षु अपूप , अविशरणम् अहानि पूर्णता यस्य, यद्वा, दुर्गन्धरहित पिष्टक यस्मात् त तथाभूतम् । **प्रदाता । न लोकाव्ययनिष्ठा०** (पा० २।३।६९) इति तृन्नन्तत्वात् कर्मणि षष्ठया निषेधे द्वितीयैव । प्रदायक. । **उपजीवति** । उपभुङ्क्ते । **पितृणाम्** । रक्षकाणाम् । जननीजनकादिमान्याना विदुषा शूराणाम् । **लोके** । जनसमूहे । **अक्षितम्** । **नपुंसके भावे क्तः** (पा० ३ । ३ । ११४) इति क्षि क्षये—भावे क्त । अक्षयत्वम् । सम्यगवृद्धिम् । अन्यद् गतम् ॥

की पाचवी] पाँचो दिशाओ मे अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सडी रोटी देने वाले (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार मे गति वाले, (लोकेन) ससार करके (समितम्) सम्मान किए गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा मे] (दाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (पितृणाम्) रक्षक पुरुषो [बलवान् और विद्वानो] के (लोके) लोक मे (अक्षितम्) अक्षयता [नित्य वृद्धि] को (उपजीवति) भोगता है ।। ४ ।।

भावार्थः— अक्षय शक्ति वाले, सृष्टि भर को नित्य नवीन भोजन देने वाले सर्वद्रष्टा परमेश्वर का उपासक माता पिता आदि विद्वान् वीर पितरो के साथ अक्षय (नित्य नवीन) सुख पाता है ।। ४ ।।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

पञ्चऽअपूपम् । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम् । प्रऽदाता । उप । जीवति । सूर्यामासयोः । अक्षितम् ।। ५ ।।

भाषार्थः—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की पाचवी] पाचो दिशाओ मे अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार मे गति वाले, (लोकेन) ससार करके (समितम्) सम्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा मे] (प्रदाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (सूर्यामासयो:) सूर्य और चन्द्रमा

५—**सूर्यामासयोः** । सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । मसी परिमाणे- घञ् । मस्यते परिमीयते गगन येन स मास , चन्द्रमा: । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । **देवताद्वन्द्वे च** (पा० ६ । ३ । २६) इति आनङ् । सूर्याचन्द्रमसोर्नियमेन । अन्यदुपरि व्याख्यातम् ।।

मे [उनके नियम मे] (अक्षितम्) अक्षयता [नित्यवृद्धि] को (उप जीवति) भोगता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—सूर्य आकर्षण और वृष्टि आदि से पृथिवी आदि लोको का धारण करता और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाकर हमे पुष्टि पहुँचाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य मन्त्रोक्त ईश्वर को अपने हृदय मे रखकर परोपकार करता है उसका सुख नित्य बढता है ॥ ५ ॥

इरे॑व॒ नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत् ।
दे॒वौ स॑वा॒सिना॑विव शिति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ ६ ॥

इरा॑ऽइव । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ । स॒मु॒द्रःऽइ॑व । पयः॑ । म॒हत् । दे॒वौ । स॒वा॒सिनौ॑ऽइव । शि॒ति॒ऽपात् । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(शितिपात्) प्रकाश और अन्धकार में गतिवाला परमेश्वर (इरा इव) भूमि वा विद्या के समान और (समुद्र) समुद्र, अर्थात् (महत्) बडे (पय इव) जलराशि के समान (न) नही (उप दस्यति) घटता है, और (देवौ) दिव्य गुण वाले (सवासिनौ इव) साथ साथ निवास करने वाले दोनो [प्राण और अपान वा दिनरात] के समान वह (न) नही (उप दस्यति) घटता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—जैसे भूमि, विद्या, जल, वायु आदि उचित प्रयोग से अधिक अधिक उपकारी होते है, इसी प्रकार ईश्वर का उपकारी कोश विज्ञान द्वारा मनुष्य को बढाता चला जाता है। ६ ॥

६—**इरा** । **ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०** (उ० २ । २८) इति इण् गतौ-रक् । अथवा, इ काम सुकामना राति ददाति । रा दाने-क । टाप् । भूमि । विद्या । **नोपदस्यति** । म० २ । नोपक्षीयते । **समुद्रः** । जलधि । अन्तरिक्ष वा । **पयः** । जलौघ । **महत्** । विशालम् । **देवौ** । दिव्यगुणयुक्तौ । **सवासिनौ** । सह समानं वा निवसन्तौ । अश्विनौ प्राणापानौ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता । कामः समुद्रमा विवेश ।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ ७ ॥

कः । इदम् । कस्मै । अदात् । कामः । कामाय । अदात् ।
कामः । दाता । कामः । प्रतिऽग्रहीता । कामः । समुद्रम् ।
आ । विवेश । कामेन । त्वा । प्रति । गृह्णामि । काम ।
एतत् । ते ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(क) किसने (इदम्) यह [कर्मफल] (कस्मै) किसको (अदात्) दिया है ? [इसका उत्तर] (कामः) मनोरथ [वा कामना योग्य परमेश्वर] ने (कामाय) मनोरथ [वा कामना करने वाले जीव] को (अदात्) दिया है ।

(काम) मनोरथ [वा कमनीय ईश्वर] (दाता) देने वाला और (काम) मनोरथ [वा कामना वाला जीव] (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है । (काम) मनोरथ ने (समुद्रम्) समुद्र [पार्थिव समुद्र वा अन्तरिक्ष] मे (आ विवेश) प्रवेश किया है ।

(काम) हे मनोरथ ! [वा कमनीय ईश्वर] (त्वा) तुझको (प्रति गृह्णामि) मैं जीव ग्रहण करता हूँ, (एतत्) यह [सब काम] (ते) तेरा है ॥ ७ ॥

भावार्थः—ससार मे देना लेना अर्थात् सब उपकारी काम कामना

७—**इदम्** । कर्मफलम् । **अदात्** । दत्तवान् । **कामः** । कमु-घञ् । कामना । सर्वैं कमनीय परमेश्वर । कामयमानो जीवः । **दाता** । कर्मफलस्य प्रदायक. । **प्रतिग्रहीता** । स्वीकर्ता । **समुद्रम्** । अगम्यस्थानम् । जलधिम् । अन्तरिक्षम् । **आ विवेश** । प्रविष्टवान् । प्राप्तवान् । **त्वा** । कामम् । **प्रति** । **गृह्णामि** । अङ्गीकरोमि । **एतत्** । कर्म । **ते** । तुभ्यम् । अन्यत् सुगमम् ॥

से सिद्ध होते है, कामना से ही प्रयत्न के साथ मन देने पर मनुष्य के सब कठिन कामो को परमेश्वर सुगम कर देता है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ७ । ४८ मे है। उसका अर्थ यहाँ श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के भाष्य के आधार पर किया है।

कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥ य० ७ । ४८ ॥

(कः) किसने [कर्मफल] (अदात्] दिया है, और [कस्मै] किसको [अदात्] दिया है। इन दो प्रश्नो के उत्तर, (काम) कामना योग्य परमेश्वर ने (अदात्) दिया है, और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) दिया है । (काम) योगीजनो के कामना योग्य परमेश्वर [दाता] देने वाला है। (काम) कामना करने वाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है। (काम) हे कामना करने वाले जीव ! (ते) तेरे लिये (एतत्) यह सब है ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भूमिः । त्वा । प्रति । गृह्णातु । अन्तरिक्षम् । इदम् । महत् । मा । अहम् । प्राणेन । मा । आत्मना । मा । प्रऽजया । प्रतिऽगृह्य । वि । राधिषि ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(हे) काम (भूमि) भूमि और (इदम्) यह (महत्) बडा

८—**भूमिः** । भूमिस्थपदार्थाः, इत्यर्थः । **त्वा** । कामम् । **प्रतिगृह्णातु** । अङ्गीकरोतु । **अन्तरिक्षम्** । अन्तरिक्षस्थपदार्थाः । **मा** । निषेधे । **प्राणेन** । मुखना-

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (त्वा) तुझको (प्रति गृह्णातु) स्वीकार करे। (अहम्) मैं जीव, (प्रतिगृह्य) पाकर, (मा) न (प्राणेन) प्राण से, [शरीर बल] से, (मा) न (आत्मना) आत्मबल से, और (मा) न (प्रजया) प्रजा से, (वि राधिषि) अलग हो जाऊ ॥ ८ ॥

भावार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य सत्य कामना से भूमि और आकाश का राज्य हस्तगत कर लेता है, और शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल दृढ करके ससार मे सुखी रहता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-७ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १-४ अनुष्टुप् । ५ त्रिष्टुप् जगती वा । ६ प्रस्तारपङ्क्तिः । ७ त्रिष्टुप् ।

परस्परप्रीत्युपदेश —परस्पर मेल का उपदेश ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

सऽहृदयम् । साम्ऽमनस्यम् । अविऽद्वेषम् । कृणोमि । वः ।

अन्यः । अन्यम् । अभि । हर्यत । वत्सम् । जातम्ऽइव । अघ्न्या ॥ १ ॥

भाषार्थः—(सहृदयम्) एक हृदयता, (सामनस्यम्) एकमनता और (अविद्वेषम्) निर्वैरता (व) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मै करता हूँ। (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (अभि) सब ओर से (हर्यत) तुम प्रीति से चाहो

सिकाभ्या सचरता जीवस्थितिलिङ्गेन वायुना, शारीरिकबलेन । **आत्मना** । आत्मिकबलेन । **प्रजया** । सामाजिकबलेन । **मा+वि+राधिषि** । अ० १ । १ । ४ । अह विराद्धो वर्जितो वियुक्तो मा भूवम् ॥

१—**सहृदयम्** । **वृह्नोः षुग्दुकौ च** (उ० ४ । १००) इति हृञ् हरणे—स्वीकारे कयन्, दुक् च । सहस्य सभाव । सहग्रहणम् । सहवीर्यम् । **सांमनस्यम्** । सम्+मनस्—भावे ष्यञ् । समानमननत्वम् । ऐकमत्यम् । **अवि-**

(अघ्न्या इव) जैसे न मारने योग्य, गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े को [प्यार करती है] ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है, सब मनुष्य वेदानुगामी होकर सत्य ग्रहण करके एकमता करें और आपा छोड़ कर सच्चे प्रेम से एक दूसरे को सुधारे, जैसे गौ आपा छोड़ कर तद्रूप होकर पूर्ण प्रीति से उत्पन्न हुए बच्चे को जीभ से चाट कर शुद्ध करती और खड़ा करके दूध पिलाती और पुष्ट करती है ॥ १ ॥

१—तैत्तिरीयारण्यक मेपाठ है—

ओ३म् । सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि-नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ तैत्ति० आ० १० । १ ॥

ओ३म् । (सह) वही (नौ) हम दोनो को (अवतु) बचावे । (सह) वही (नौ) हम दोनो को (भुनक्तु) पाले । हम दोनो (सह) मिलकर (वीर्यम्) उत्साह (करवावहै) करे । (नौ) हम दोनो का (अधीतम्) पढा हुआ (तेजस्वि) तेजस्वी (अस्तु) होवे । (मा विद्विषावहै) हम दोनो झगडा न करे ॥

२—भगवान् यास्क मुनि कहते है ।

(अघ्न्या) गौ का नाम है—निघ० २।११। वह अहन्तव्या, [अवध्या न मारने योग्य] अथवा, अघघ्नी [पाप अर्थात् शारीरिक दुःख अथवा दुर्भिक्षादि पीडा नाश करने वाली] होती है—निरुक्त ११ । ४३ ॥

द्वेषम् । द्विष वैरे-घञ् । अशत्रुताम् । सख्यम् । **कृणोमि** । उत्पादयामि । **वः** । युष्मभ्यम् । **अन्यो अन्यम्** । छान्दस द्विपदत्वम् । परस्परम् । **अभि** । सर्वतः । **हर्यत** । हर्य गतिकान्त्योः । कामयध्वम् । **वत्सम्** । अ० ३ । १२ । ३ । गोशि-शुम् । **जातम्** । नवोत्पन्नम् । **इव** । यथा । **अघ्न्या** । **अघ्न्यादयश्च** (उ० ४।११२) इति नञि अघे वोपपदे हन्तेर्यगन्तो निपातः । गौः -निघ०२।११। अघ्न्याऽहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा—निरु० ११।४३। अघ्न्या गावः । गोवधस्योपपात-करूपत्वादघन्तुमयोग्या अघ्न्या उच्यन्ते–इति श्रीमन्महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १।१॥

श्रीमान् महीधर यजुर्वेदभाष्य अ० १ म० १ मे लिखते है—अघ्न्या गौए है। गोवध उपपातक 'भारी पाप' है, इसलिये वे न मारने योग्य 'अघ्न्या' कही जाती है ॥

अनुंव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुंमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अनुंऽव्रतः । पितुः । पुत्रः । मात्रा । भवतु । सम्ऽमनाः । जाया । पत्ये । मधुंऽमतीम् । वाचम् । वदतु । शन्तिऽवाम् ॥ २ ॥

भाषार्थः—(पुत्र:) कुल शोधक पवित्र, बहुरक्षक वा नरक से बचाने वाला पुत्र [सन्तान] (पितु) पिता के (अनुव्रत) अनुकूल व्रती होकर (मात्रा) माता के साथ (समना) एक मन वाला (भवतु) होवे। (जाया) पत्नी (पत्ये) पति से (मधुमतीम्) जैसे मधु मे सनी और (शन्तिवाम्) शान्ति से भरी (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ॥ २ ॥

भावार्थः—सन्तान माता पिता के आज्ञाकारी, और माता पिता सन्तानों के हितकारी, पत्नी और पति आपस मे मधुरभाषी तथा सुखदायी हो। यही वैदिक कर्म आनन्द मूल है। मन्त्र १ देखो ॥ २ ॥

२—**अनुव्रतः** । **पृषिरञ्जिभ्यां कित्** (उ० ३ । १११) इति वृञ् वरणे अतच्-कित्त्वाद् गुणाभावे यणादेश । व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सत —निरु० २ । १३ । अनुकूलकर्मा । **पितुः** । रक्षकस्य । जनकस्य । **पुत्रः** । अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्र कुलशोधक । पवित्र. पुरुत्राता पुतो नरकात् त्राता वा । सन्तानः । **मात्रा** । अ० १ । २ । १ । माननीयया जनन्या सह । **संमनाः** । समानमनस्क । **जाया** । अ० ३ । ४ । ३ । जनयति वीरान् । भार्या । पत्नी । **पत्ये** । भर्त्रे । **मधुमतीम्** । क्षौद्रयुक्ता यथा । माधुर्यवतीम् । **शन्तिवाम्** । शमु उपशमे—क्तिन् । छान्दसो ह्रस्व । **वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते** (वा० पा० ५ । २ । १०९) इति मत्वर्थे वप्रत्ययः । टाप् । शान्तियुक्ताम् । सुखोपेताम् ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा । सम्यञ्चः । संऽव्रताः । भूत्वा । वाचम् । वदत । भद्रया ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(भ्राता) भ्राता (भ्रातरम्) भ्राता से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से भी (मा) नहीं। (सम्यञ्च) एक मत वाले और (सव्रता) एक व्रती (भूत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणी रीति से (वाचम्) वाणी (वदत) बोलो ॥ ३ ॥

भावार्थः—भाई भाई, बहिन बहिन, और सब कुटुम्बी नियम पूर्वक मेल से वैदिक रीति पर चल कर सुख भोगे ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

येन । देवाः । न । विऽयन्ति । नो इति । च । विऽद्विषते । मिथः । तत् । कृण्मः । ब्रह्म । वः । गृहे । सम्ऽज्ञानम् । पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(येन) जिस [वेद पथ] से (देवा) विजय चाहने वाले पुरुष (न) नहीं (वियन्ति) विरुद्ध चलते है (च) और (नो) न कभी (मिथः) आपस

३—**भ्राता** । अ० १ । १४ । २ । भ्राजते[1] यः । सहोदरः । **मा द्विक्षत्** । मा द्विष्यात् । **स्वसारम्** । अ० १ । २८ । ४ । भगिनीम् । **सम्यञ्चः** । **ऋत्विग्दधृक्०** (पा० ३ । २ । ५९) इति सम्+अञ्चु गतिपूजनयो –क्विन् । **समः समि** (पा० ६ । ३ । ९३) इति समि इत्यादेशः । समञ्चना, सङ्गता । समानज्ञाना । सम्यक् पूजनशीला । **सव्रताः** । सहकर्माण । **वाचम्** । वाणीम् । **वदत** । कथयत । **भद्रया** । कल्याण्या रीत्या । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—**देवाः** । विजिगीषव । **वियन्ति** । इण् गतौ । विरुद्ध गच्छन्ति । **विद्विषते** । द्विष अप्रीतौ-अदादि । विद्वेष कुर्वते । **मिथः** । परस्परम् । **कृण्मः** ।

१ डुभृञ् से बिभर्त्तीति भ्राता (म०भा०१।२।६८) महाभाष्य मे बनाया है ॥ सम्पा० ॥

मे (विद्विषते) विद्वेष करते है। (तत्) उस (ब्रह्म) वेद पथ को (व) तुम्हारे (गृहे) घर मे (पुरुषेभ्य) सब पुरुषो के लिये (सज्ञानम्) ठीक ठीक ज्ञान का कारण (कृण्म :) हम करते है ॥ ४ ॥

भावार्थः—सार्वभौम हितकारी वेद मार्ग पर चलकर घर के सब लोग आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्यायस्वन्तः। चित्तिनः। मा। वि। यौष्ट। सम्ऽराधयन्तः। सऽधुराः। चरन्तः। अन्यः। अन्यस्मै। वल्गु। वदन्तः। आ। इत। सध्रीचीनान्। वः। सम्ऽमनसः। कृणोमि ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(ज्यायस्वन्त) बडो का मान रखने वाले (चित्तिन) उत्तम चित्त वाले, (सराधयन्त) समृद्धि [धन धान्य की वृद्धि] करते हुए और (सधुरा) एक धुरा होकर (चरन्त.) चलते हुये तुम लोग (मा वि यौष्ट) अलग २ न होओ, और (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे से (वल्गु) मनोहर (वदन्त) बोलते हुये (एत) आओ। (व) तुमको (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा विज्ञान] वाले और (समनस) एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूँ ॥ ५ ॥

कृवि हिंसाकरणयो । कुर्म । ब्रह्म । वेदज्ञानम्। **संज्ञानम्**। सम्यग् ज्ञानम्। अन्यत् सुगमम् ॥

५—ज्यायस्वन्तः। ज्यायस्-वन्त । **ज्य च। वृद्धस्य च** (पा० ५।३।६१, ६२) इति प्रशस्यस्य वृद्धस्य वा ज्य इत्यादेश , ईयसुनि प्रत्यये। **ज्यादादीयसः** (पा० ६ । ४ । १६०) इति ईकारस्य आकार । ततो मतुप् प्रशसायाम् । ज्यायासो प्रशस्या वृद्धा वा प्रशंसनीया येषा ते तथोक्ताः। **चित्तिनः**। उत्तमचित्तवन्त ।

भावार्थः—वेदानुयायी मनुष्य विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्धो का आदर करके उत्तम गुणो की प्राप्ति, और मिलकर उद्योग से, धन धान्य राज आदि बढाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

समानी । प्रऽपा । सह । वः । अन्नऽभागः । समाने । योक्त्रे । सह । वः । युनज्मि । सम्यञ्चः । अग्निम् । सपर्यत । अराः । नाभिम्ऽइव । अभितः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(वः) तुम्हारी (प्रपा) जल शाला (समानी) एक हो, और (अन्नभाग) अन्न का भाग (सह) साथ साथ हो, (समाने) एक ही [योक्त्रे] जोते मे (व) तुमको (सह) साथ साथ (युनज्मि) मै जोडता हूँ। (सम्यञ्च) मिलकर गति [उद्योग वा ज्ञान] रखने वाले तुम (अग्निम्) अग्नि [ईश्वर

मा वि यौष्ट । यु मिश्रणामिश्रणयो, माङि लुङि रूपम् । इडभावश्छान्दस । मा पृथग् भूत । वियुक्ता मा भवत । **संराधयन्तः** । राध ससिद्धौ, णिच्-शतृ । सम्यग् समिद्धिका । समानकार्या । **सधुराः** । **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (पा० ५ । ४ । ७४) इति सह+धुर—अकार समासान्त. । सहकार्योद्वहना । **चरन्तः** । गच्छन्त । **वल्गु** । अ० २ । ३६ । १ । मनोहरम् । प्रियवाक्यम् । **वदन्तः** । भाषमाणा । **एत** । आ+इत । आगच्छत । **सध्रीचीनान्** **ऋत्विग्दधृक्**० (पा० ३ । २ । ५९) इति सह+अञ्चु गतिपूजनयो—क्विन् **सहस्य सध्रिः** (पा० ६ । ३ । ९५) इति सध्रि । **विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्** (पा० ५ । ४ । ८) इति स्वार्थिक ख. । अकारलोपे दीर्घत्वम् । सहाञ्चत कार्येषु सह प्रवृत्तान् । **समनसः** । समानमनस्कान् । **कृणोमि** । करोमि ॥

६—समानी । अ० २ । १ । ५ । साधारणा । एका । **प्रपा** । प्रपीयतेऽस्याम् । पा पाने—ड, टाप् । पानीयशाला । **सह** । मिलित्वा । **वः** । युष्माकम् । युष्मान् । **अन्नभागः** । भोजनस्य अशः । **समाने** । एकस्मिन् । **योक्त्रे** ।

वा भौतिक अग्नि] को (सपर्यत) पूजो (इव) जैसे (अरा.) अरा [पहिये के दडे] (नाभिम्) नाभि [पहिये के बीच वाले काठ] मे (अभितः) चारो ओर से [सटे होते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थः—जैसे अरे एक नाभि मे सटकर पहिये को रथ का बोझ सुगमता से ले चलने योग्य करते है, ऐसे ही मनुष्य एक वेदानुकूल धार्मिक रीति पर चल कर अपना खान पान मिलकर करे मिलकर रहे और मिलकर ही (अग्नि) को पूजे अर्थात् १—परमेश्वर की उपासना करे, २—शारीरिक अग्नि को, जो जीवन और वीरपन का चिह्न है, स्थिर रक्खे ३—हवन करके जलवायु शुद्ध रक्खे, और४-शिल्प व्यवहार मे प्रयोग करके उपकार करे और सुख से रहे ॥६॥

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

सध्रीचीनान् । वः । सम्ऽमनसः । कृणोमि । एकऽश्नुष्टीन् । सम्ऽवननेन । सर्वान् । देवाःऽइव । अमृतम् । रक्षमाणाः । सायम्ऽप्रातः । सौमनसः । वः । अस्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(सवननेन) यथावत् सेवन वा व्यापार से (व सर्वान्) तुम सबको (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा ज्ञान] वाले, (सम-

---

दाम्नीशसयुयुज० (पा० ३।२।१८२) इति युजिर् योगे—ष्ट्रन् । युगेन सह युज्यते आबध्यतेऽनेन तस्मिन् । योत्रे । बन्धने । स्नेहपाशे । **युनज्मि** । युजिर् योगे । बध्नामि । **सम्यञ्चः** । म० ३ । सङ्गता । **अग्निम्** । परमेश्वर भौतिक वा । **सपर्यत** । सपर पूजायाम् । कण्ड्वादित्वात् यक् । पूजयत । **अराः** । ऋ गतौ—अच । चक्रकीलका । **नाभिम्** । अ० १।१३।३। रथचक्रस्य मध्यभागम् । **अभितः** । सर्वत । **अभितःपरितःसमया०** (वा० पा० २ । ३ । २) इति नाभिम् इत्यत्र द्वितीया ॥

७—**एकश्नुष्टीन्** । ष्णुसु अदने, आदाने च—क्तिन् । एकभुक्तीन् । समान-

नस) एक मन वाले और (एकश्नुष्टीन्) एक भोजन वाले (कृणोमि) मै करता हूँ। (देवा इव) विजय चाहने वाले पुरुषो के समान (अमृतम्) अमरपन [जीवन की सफलता] को (रक्षमाणा) रखते हुये तुम [बने रहो] (साय प्रात) सायकाल और प्रात काल मे (सौमनस) चित्त की प्रसन्नता (व) तुम्हारे लिये (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थः—'देव' पुरुषार्थी विजयी पुरुष मिलकर मृत्यु के कारण आलस्य आदि छोडने से अमर अर्थात् यशस्वी होते है। इसी प्रकार सब मनुष्य आपस मे मिलकर उद्योग करके सुखी रहे और साय प्रात दो काल परमेश्वर की आराधना करके चित्त प्रसन्न करे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—११ ॥ **प्रजापतिर्देवता। १—४, ६—११ अनुष्टुप्** **बृहती** ॥

आयुर्वर्धनायोपदेश —आयु बढाने का उपदेश ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

वि । देवाः । जरसा । अवृतन् । वि । त्वम् । अग्ने । अरात्या ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(देवा.) विजय चाहने वाले पुरुष (जरसा) आयु के घटाव से (वि) अलग (अवृतन्) रहे है। (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (त्वम्) तू

भोजनात्। **संवननेन** । वन सभक्तौ—ल्युट् । सम्यक् सेवनेन व्यापारेण। **देवाः** । विजिगीषव· । पुरुषार्थिन । **अमृतम्** । अमरत्वम्। जीवनसाफल्यम्। **रक्षमाणाः** । पालयन्त· । **सायंप्रातः** । उभयसध्याकाले । **सौमनसः** । **तस्येदम्** (पा० ४। ३। १२०) इति सुमनस्—भावे अण्। सुमनसो भाव । सुहृद्भाव·। चित्तप्रसाद । अन्यद्गतम्—म० ५ ॥

१—**देवाः** । विजिगीषव· । **जरसा** । **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (पा० ३।३।१०४) इति जृष् वयोहानौ—अङ्। **ऋदृशोऽङि गुणः** (पा०७।४।१६) इति गुण । टाप्। **जराया**

(अरात्या) कजूसी वा शत्रुता से (वि=वि वर्तस्व) अलग रह। (अहम्) मै (सर्वेण) सब (पाप्मना) पाप कर्म से (वि) अलग और (यक्ष्मेण) राज-रोग, क्षयी आदि से (वि=विवर्त्तै) अलग रहूँ और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम्वर्तै) मिला रहूँ ॥ १ ॥

भावार्थः—पुरुषार्थी लोग ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से सदा बलवान् रहते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य मानसिक पाप और शारीरिक रोग के त्याग और शुभ गुणो के सेवन से बल बढाकर अपना जीवन सफल करे ॥ १ ॥

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

वि । आर्त्या । पवमानः । वि । शक्रः । पापऽकृत्यया । वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥२॥

भाषार्थः—(पवमान) शोधन करने वाला पुरुष (आर्त्या) पीडा से (वि) अलग, और (शक्र) शक्तिमान् पुरुष (पापकृत्यया) पाप क्रिया से (वि= वि वर्तताम्) अलग रहे। (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से [म० १] ॥ २ ॥

जरसन्यतरस्याम् (पा० ७ । २ । १०१) इति जरस् । वयोहान्या । **वि** । पृथग्भूय । **अवृतन्** । वृतु वर्त्तने, भावे—लुङ्, अभूवन् । **वि** । वि वर्तस्व । पृथग्भव । **अग्ने** । हे विद्वन् पुरुष । **अरात्या** । अ० १।२।२। अदानेन । शत्रुतया । **पाप्मना** । **नामन्सीमन्व्योमन्०** (उ० ४ । १५१) इति पा रक्षणे - अपादाने मनिन्, पुक् च । मानसेन पापेन । दुष्टकर्मणा । **वि** । विवर्तै । पृथग् भवानि । **यक्ष्मेण** । अ० २ । १० । ५ । शारीरेण राजरोगेण । क्षयादिना । **सम्** । सवर्तै । सम्भूय भवानि । **आयुषा** । चिरकालजीवनेन ॥

२—वि । विवर्तताम् । वियुक्तो भवतु । **आर्त्या** । आङ्+ऋ हिंसने-क्तिन् । पीडया । रोगेन । **पवमानः** । **पूङ्यजोः शानन्** (पा० ३ । २ । १२८)

भावार्थः—मनुष्य शुद्ध आचरण से सामाजिक आत्मिक और शारीरिक पीडा मिटावे और बलवान् होकर पाप को हटावे ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

वि । ग्राम्याः । पशवः । आरण्यैः । वि । आपः । तृष्णया । असरन् ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ३ ॥

भाषार्थ :—(ग्राम्या॰) ग्राम वाले (पशव) जीव (आरण्यै) जङ्गली जीवो से (वि) अलग, और (आप) जल (तृष्णया) पियास से (वि) अलग, (असरन्) चले है । (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थः -जैसे ग्राम्य पशु जङ्गली जीवो से अलग रहकर प्रसन्न रहते है और जल की उपस्थिति मे पियास से निवृत्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य पाप से निवृत्त होकर सब के सुख मे प्रवृत्त हो ॥ ३ ॥

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥

इति पूञ् पवने—शानच् । **आने मुक्** (पा० ७ । २ । ८२) इति मुक् । सशोधक । **शक्रः** । अ० २ । ५ । ४ । शक्त. । इन्द्र । **पापकृत्यया** । पापम् इति व्याख्यातम्- अ० २।१२।५ । **कृञः श च** (पा० ३ । ३ । १००) इति डुकृञ् करणे, यद्वा, कृञ् हिसायाम् क्यप् तुक् । पापक्रियया महाहिसया । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—**ग्राम्याः** । अ० २ । ३४ । ४ । ग्राम—य । ग्रामीणा । **आरण्यैः** । अरण्य-ष्यञ् । अरण्यजातै॰ । **आपः** । जलानि । **तृष्णया** । **तृषिशुषिरसिभ्यः कित्** (उ० ३।१२) इति ञितृष पिपासायाम्—न , स च कित् । टाप्, पानेच्छया पिपासया । **वि असरन्** । सृ गतौ -लुङ् । विगता अभूवन् । अन्यद् गतम् ॥

वि । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । इतः । वि । पन्थानः । दिशम्ऽदिशम् । वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ४ ॥

भाषार्थः (इमे) यह दोनो (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वि) अलग अलग (इत.) चलते है, (पन्थान) सब मार्ग (दिशदिशम्) दिशा दिशा को (वि=वियन्ति) अलग अलग जाते है । (अहम) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थः—सूर्य पृथिवी और मार्ग अलग अलग रहकर संसार का क्लेश हरते है, ऐसे ही सब मनुष्य दु ख का नाश करके सुख भोगे ॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वियाति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । युनक्ति । इति । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । वि । याति । वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी को (वहतुम) दायज [स्त्री धन] (युनक्ति=वि युनक्ति) अलग करके देता है । (इति) इसी प्रकार (इदम् विश्वम्) यह प्रत्येक (भुवनम्) लोक (वि याति) अलग २ चलता है । (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से - [म० १] ॥ ५ ॥

४—इमे । परिदृश्यमाने । **द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमी । **इतः** । गच्छत । **पन्थानः** । मार्गा । **वि** । वियन्ति । अन्यद् गतम् ॥

५—त्वष्टा । अ० २ । ५ । ६ । व्यवहाराणा तनूकर्ता, पिता । **दुहित्रे** । अ० २ । १४ । २ । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता । तस्यै[1] पुत्र्यै । **वहतुम्** ।

---

१. दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता । दोग्धेर्वा (निरु० ३ । ४) । सम्पा० ॥

भावार्थः—जैसे पिता पुत्री को दायज देकर सदा हित करता रहता है, सब लोक और पदार्थ अलग अलग रहकर परस्पर उपकार करते है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष हटाकर परस्पर सुख बढावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद १० । १७१ । १ । में इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ॥

(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी के लिये (वहतुम्) दायज (कृणोति) करता है, (इति) इस प्रकार (इदम् विश्वम् भुवनम्) यह सब जगत् (समेति) मिलकर चलता है ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥

अग्निः । प्राणान् । सम् । दधाति । चन्द्रः । प्राणेन । सम्ऽहितः ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(अग्नि:) अग्नि (प्राणान्) प्राणो, जीवन शक्तियो को (सम्=सम्भूय) मिलकर (दधाति) पुष्ट करता है, और (चन्द्र) चन्द्र (प्राणेन) प्राण के साथ (सहित) सन्धि वाला है। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से .. [म० १] ॥ ६ ॥

एधिवह्योश्च तुः (उ० १ । ७७) इति वह प्रापणे-तु । विवाहकाले कन्यायै देयवस्तु । **युनक्ति** । वियुनक्ति पृथग बध्नाति । **इति** । अनेन प्रकारेण । **भुवनम्** । अ० २ । १ । ३ । भूतजातम् । लोक: । **वि याति** । पृथग् गच्छति । अन्यद् गतम् ॥

६—**अग्निः** । अशितपीतपरिणामहेतुर्जाठररूप. सूर्यताप । **प्राणान्** । अ० २ । १२ । ७ । जीवनहेतून् श्वासप्रश्वासादीन् । चक्षुरादीन्द्रियाणि वा । **संदधाति** । सभूय पोषयति, स्वस्वकार्यसमर्थान् करोति । **चन्द्रः** । अ०

भावार्थः—सूर्य का ताप श्वास प्रश्वास द्वारा शरीर मे प्रविष्ट होकर नेत्र आदि इन्द्रियो को अन्न रस पहुँचाता है, और चन्द्रमा की शीतलता प्राण द्वारा रुधिर आदि मे प्रणित रस से इन्द्रियो को पुष्ट करती है। ऐसे ही मनुष्य अपने दोष मिटा कर शुभ गुणो से युक्त होवे ॥ ६ ॥

मन्त्र १—५ मे दोषो से (वि) वियोग के और मन्त्र ६—१० मे पुरुषार्थ से (सम्) सयोग के वर्णन से आयु बढाने का उपदेश है।

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

प्राणेन । विश्वतःऽवीर्यम् । देवाः । सूर्यम् । सम् । ऐरयन् ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥७॥

भाषार्थः—(देवा) विजय चाहने वाले महात्माओ ने (विश्वतोवीर्यम्) सब ओर से वीर्यवान् (सूर्यम्) सर्वप्रेरक वा सर्वत्रगति परमेश्वर वा सूर्य को (प्राणेन) प्राण से (सम्) मिलकर (ऐरयन्) पाया है। (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से .. [म० १] ॥ ७ ॥

भावार्थः—जितेन्द्रिय वीरो ने आत्मा के सहारे, अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मबल से, परमात्मा को पाकर और सूर्य आदि लोको तक गति करके परम पद पाया है। मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष मिटाकर जीवन सफल करे ॥ ७ ॥

१।३।४। चदि आह्लादने दीप्तौ च—रक्। आह्लादक.। सोमः। चन्द्रमा। **प्राणेन** । जीवनहेतुना सह। **संहितः** । सम्+धा—क्त। सन्धियुक्त। सश्लिष्ट.। अन्यद्गतम् ॥

७—**प्राणेन** । जीवनहेतुना। **विश्वतोवीर्यम्** । सर्वत सामर्थ्यम्। सर्वशक्तिमन्तम्। **देवाः** । विजिगीषवो जितेन्द्रिया योगिन। **सूर्यम्** । अ० १।३।५। सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्य। यद्वा सरति सर्वत्र स सूर्य.। लोकप्रेरकम्। सर्वत्रगति परमात्मानम्। **सम्** । सम्भूय। **ऐरयन्** । अ० १।११।२। ईर गतौ कम्पने च—लङ्। अगच्छन्। प्राप्नुवन्। अन्यद् गतम् ॥

आयु॑ष्मतामायु॒ष्कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव॒ मा मृ॑थाः ।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ ८ ॥

आयु॑ष्मताम् । आ॒युः॒ऽकृता॑म् । प्रा॒णेन॑ । जी॒व॒ । मा । मृ॒थाः ।
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(आयुष्मताम्) बडी आयु वाले, और [दूसरो की] (आयुष्कृताम्) बडी आयु करने वाले [देवताओ] के (प्राणेन) प्राण के साथ (जीव) जोता रह, (मा मृथा) मरा मत जा । (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से . [म० १] ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्य अपने और दूसरो के सुधारने वाले वीर योगियो [देवताओ—म०] के अनुकरणी होकर पुरुषार्थ करे और आलस्य आदि मे व्यर्थ जन्म न खोवे ॥ ८ ॥

प्रा॒णेन॑ प्राण॒तां प्राणे॒हैव भ॑व॒ मा मृ॑थाः ।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ ९ ॥

प्रा॒णेन॑ । प्रा॒ण॒ताम् । प्र । अ॒न । इ॒ह । ए॒व । भ॒व॒ । मा । मृ॒थाः ।
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥ ९ ॥

भाषार्थः—(प्राणताम्) जीते हुओ के (प्राणेन) श्वास से (प्राण) श्वास ले, (इह) यहा पर (एव) ही (भव) रह, (मा मृथा) मरा मत जा । (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से [म० १] ॥ ९ ॥

८—**आयुष्मताम्** । प्रशस्तेन दीर्घेणायुषा, तद्वताम् । **आयुष्कृताम्** । अन्येषा प्रशस्तदीर्घायुष कर्तृणा देवानाम्—म० ७ । **प्राणेन** । अ० २ । १५ । १ । जीवनबलेन । **जीव** । प्राणान् धारय । **मा मृथाः** । मृङ् प्राणत्यागे—लुङ, माङि अडभाव । प्राणान् मा त्याक्षी । अन्यद् गतम् ॥

९—**प्राणेन** । प्रकृष्टजीवनेन । श्वासप्रश्वासव्यापारेण । **प्राणताम्** ।

भावार्थः—मनुष्य पुरुषार्थियो के समान अपने श्वास श्वास पर कर्तव्य करे और ससार मे रहकर भूल, आलस्य आदि दोष छोडकर कीर्ति पावे ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥

उत् । आयुषा । सम् । आयुषा । उत् । ओषधीनाम् । रसेन । वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ १० ॥

भाषार्थः—(आयुषा) जीवन [उत्साह] के साथ (उत्=उद्भव) खडा हो ('आयुषा) जीवन के साथ (सम्=सम् भव) पराक्रमी हो। (ओषधीनाम्) औषधियो अन्न आदि के (रसेन) रस [भोग] से (उत्=उद्भव) ऊँचा हो। (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब कर्म स ·· ··[म० १] ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्य जीवन भर उद्योगी तथा पराक्रमी रहे, और अन्न आदि पदार्थों के भोगो के अनुसार उपकार का प्रतिफल देकर जीवन सुफल करे ॥१०॥

इस मन्त्र मे भव' पद की अनुवृत्ति मन्त्र ९ से आती है ॥

आ पर्जन्यस्य वृष्टयोदस्थामामृता वयम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

आ । पर्जन्यस्य । वृष्ट्या । उत् । अस्थाम । अमृताः । वयम् । वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥११॥

प्र+अन प्राणने-शतृ. । श्वसताम् । आत्मवताम् । **प्राण** । प्राणान् धारय । **इह एव** । अस्मिन्नेव जन्मनि लोके वा । **भव** । वर्त्तस्व । अन्यद् गतम् ॥

१०—**उत्** । अत्र पूर्वमन्त्राद् भव इति क्रियापदम् अनुवर्तते । उद्भव । ऊर्द्ध्व वर्त्तस्व । **आयुषा** । जीवनेन । उत्साहेन । **सम्** । सम्भव । पराक्रमी भव । **ओषधीनाम्** । अ० ३ । ५ । १ । व्रीहियवादीनाम् । **रसेन** । आयुष्करेण सारेण । अन्यत् स्पष्टम् ॥

भाषार्थः—(वयम्) हम (अमृता) अमर होकर (पर्जन्यस्य) सीचने वाले मेघ की (वृष्टचा) बरसा से [जैसे] (आ) सब ओर से (उत् अस्थाम) उठ खडे हुए है, (अहम्) मै (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से (वि) अलग, और (यक्ष्मेण) राजरोग, क्षयी आदि से (वि=विवर्त्ते) अलग रहू, और (आयुषा) जीवन [उत्साह , से (सम्=सम् वर्त्ते) मिला रहू ।। ११ ।।

भावार्थः--मनुष्य इस सूक्त मे वर्णिन उपदेश के अनुसार ब्रह्मज्ञान के श्रवण मनन, और निदिध्यासन [विचार] से ऐसे हर्ष मे बढे है जैसे अन्न आदि औषधे जल की बरसा से नवीन जीवन पाकर उगती है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष छोडकर अपना जीवन का लाभ उठावे ।। ११ ।।

इति षष्ठोऽनुवाक ।।

इति तृतीयं काण्डम् ।।

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री **सयाजीराव गायकवाडा-**
धिष्ठित बडोदे पुरीगतश्रावणमासदक्षिणायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित **क्षेमकरणदास त्रिवेदिना**
कृते अथर्ववेदभाष्ये तृतीय काण्ड समाप्तम् ।।

इद काण्ड प्रयागनगरे चैत्रमासे रामनवम्याम् [शुक्लनवम्याम्] १९७१ तमे विक्रमीये सवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।।

मुद्रितम्—आषाढ शुक्ल पूर्णमास्या सवत् १९७१ ता० ७ जुलाई १९१४, प्र० स० की तिथि ।।

११--**आ** । समन्तात् । **पर्जन्यस्य** । अ० १ । २ । १ । सेचकस्य । मेघस्य । **वृष्ट्या** । वर्षजलेन । **उत् अस्थाम** । तिष्ठतेर्लुङ् । उत्थिता अभूम । **अमृताः** । मरणरहिता अमृतत्व जीवनत्व प्राप्ता सन्त । **वयम्** । उपासकाः । अन्यद् व्याख्यातम् ।।



संक्षेप सूची

काशि०	काशिका
क्षीर०	क्षीरतरङ्गिणी
टि०	टिप्पणी
तैत्ति० आ०	तैत्तिरीयारण्यक
द० भा०	दयानन्द भाष्य
दया०	दयानन्द
दश० उ०	दशपादी उणादि
दिवा०	दिवादि गण
द्र०	द्रष्टव्य
धा० पा०	धातुपाठ
न्या०	न्यास
पद०	पदमञ्जरी
पृ०	पृष्ठ
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्
मनु०	मनुस्मृति
म० भा०	महाभाष्य (गुरुप्रसाद स०)
मा० धा०	माधवीय धातुवृत्ति
मुण्ड० उ०	मुण्डकोपनिषद्
यो० द०	योगदर्शन
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण

शुद्धिपत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठे	पङ्क्तौ
अराद्	आराद्	२००	३
प्राण	प्रण	२०५	११
चित्तो	चित्ती	२२१	२
यावानम्	पावानम्	३०५	२
भुवनस्य	भुवनस्य	३६१	१२
मुमोक्त	मुमोक्तु	३६२	१२
विषुच.	विषूच	३९१	७
अघदीरन्	अदीघरन्	४०२	२
सुवीरा	सुवीरा.	४७३	६
अश्वावतो	अश्वावती	५११	११